कृतज्ञता प्रकाश

सूनागम प्रकाशक समितिके आद्य स्तम्भ श्रीमान् शेठ विजयकुमार चुनीलाल फूलपगरके महान् कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना न्यायसम्पन्न धन आगम प्रकाशनमे खुले हाथो व्यय किया है। आप बडे सुशील-सदाचारी-एक नारीव्रती और सरल प्रकृतिके भावुक-आत्मा हैं। अपनी प्रामाणिकतासे आपने राजस्थान की प्रतिष्ठाको चार चाद लगाये है। आपने पूना चतुर्मासमे साहित्य प्रचारमे अद्वितीय सेवा की है। आपकी भावना सदा यही रही है कि सुत्तागमे का प्रचार भारत देशके अतिरिक्त अन्तर-राष्ट्रोमे भी खूब ही हो। आपकी भावना कल्पवृक्षके समान फली फूली, और फारन-कन्ट्री मे सैकडो जगह यूनीवरसिटि और सेण्ट्रल-लाइब्रेरियो मे सुत्तागमे ने व्यापक होकर महा सन्मान पाया, वहाँ के प्रखर प्राकृतज्ञोने इसके स्वाध्यायमे निरत रहकर विज्ञानमे सरल प्रवेश पाया। यह सब आपकी सेवा सहायता एव सद्भावनाका परिणाम है।

प्रकाशक—

आभार प्रदर्शन

श्रीमान् नरभेराम मोरारजी महेताके हम बडे आभारी है, क्योकि आपने अवरनाथमे सुत्तागमे के प्रकाशनमे खूब हाथ बटाया है। आप नित्य समय पर सामायिक प्रतिक्रमणका लाभ लेते है। आपका विनीत स्वभाव आकर्षक है। आपका चरित्र देववन्द्य है। आप आगम-स्वाध्यायका निरन्तर लाभ लेते है। आप आध्यात्मिक रसके पूर्ण रसिक है। आपका जीवन योगियोका सा एकान्त सत्यमय और वैराग्यपूर्ण है। आप अनासक्तियोगके अनुभूत महामानव है। आपकी प्रामाणिकता विमको कम्पनीमे पारिजात सुगन्धके समान व्यापक है। आप ईमानदारीके सही अर्थमे अभूतपूर्व अश्रुतपूर्व देवता है। आपका आचार-विचार समदृष्टिकी तह तक पहुँचा है। आप सत्यनिरत और धर्मप्राण है। आपने सौराष्ट्रका सन्मान अपने चरित्र बलसे बढाया है। आपकी सहधर्मिणी लीलादेवी धर्म-विनय और सयम की उज्वल प्रतिमूर्ति है। आप दोनो इस युगके विजयकुमार और विजयकुमारी है। आपका श्रावकीय जीवन आत्ममार्जनकी ओर है।

प्रकाशक—

'सुत्तागमे' के बारेमें कुछ आवश्यक निवेदन

सुत्तागमे' (स्थानाङ्ग) के पाचवें स्थानमे पाच ज्ञान वर्णित हैं, जिनमें श्रुतज्ञानको इसलिये परमोपकारी माना है, कि इस के द्वारा अपने और परायेका उत्थान और कल्याण होता है। यह ज्ञान तीर्थंकरोकी वाणीका सग्रह है। यह समुद्रकी तरह अगाध होनेके कारण इसका माप छद्मस्थ-अज्ञ नही लगा सकता। १४ पूर्वका ज्ञान(दृष्टिवाद)परम्परा धारणासे इस समय विच्छेद माना है। शेष ११ अग सूत्र (आचार्य-गणि पिटक) ज्ञान भी कितना विशाल है, इसका वर्णन समवायाग सूत्रानुसार इस प्रकार है—

आचारांग—के दो श्रुतस्कन्ध, और १८००० पद सख्या हैं।

सूत्रकृतांग—में दो श्रुतस्कन्ध, और ३६००० पद हैं।

स्थानांग—में ७२००० पद हैं।

समवायाग—के पद १४४००० हैं।

भगवती—३६००० प्रश्नोत्तर और एकश्रुतस्कन्ध, १०० अध्ययन, १०००० उद्देशक, उतने ही समुद्देशक, और ८४००० पद सख्या है।

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग—में २६ अध्याय, धर्मकथाके १० वर्ग, एक-एक धर्मकथागकी ५००-५०० आख्यायिका, एक-एक आख्यायिकामें ५००-५०० उपाख्यायिका, एक-एक उपाख्यायिकामें ५०० ५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ हैं, सब मिल कर साढे तीन करोड आख्यायिकाओंका योग है। इसके २६ उद्देशनकाल और उतने ही समुद्देशनकाल, और ५७६००० पद गणना है।

उपासकदशांग—में एक श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, १० उद्देशनकाल, १० समुद्देशनकाल, और ११५२००० पद हैं।

अन्तकृद्दशाग—मे एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, ७ वर्ग, १० समुद्देशनकाल, और २३०४००० पद सख्या है।

अनुत्तरोपपातिकदशाग—मे एक श्रुतस्कन्ध, १० अध्ययन, तीनवर्ग, १० उद्देशनकाल १० समुद्देशन काल,४६०८०००पद हैं।

प्रश्नव्याकरण—इसमे १०८ प्रश्न, १०८ उत्तर, एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, ९२१६००० पद सख्या है।

विपाकश्रुत– इसमे २० अध्ययन, २० उद्देशनकाल, २० समुद्देशनकाल, १८४३२००० पद है।

दृष्टिवाद—इसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत(पूर्व),अनुयोग और चूलिकाके भेद से पाच प्रकार है।

(नोट) काल दोप से समुद्रके समान अनन्तज्ञान समृद्ध इस महाग्रन्थ की विच्छित्ति हो चुकी है।

इस प्रकार यह 'सुत्तागमे' (सूत्र-शास्त्र-आगम प्रवचन-शास्त्रका मूलपाठ या जिसके अक्षर थोडे और अर्थ अधिक अगाध हो-(आगम-सिद्धान्त निश्चितार्थ एकवाक्यता-सूत्र, आप्त वाक्य द्वारा सम्प्राप्त-ज्ञान) अनादि अनन्त ज्ञानकी परम्परा की वस्तु है। इसे सभीने माना है। अनन्त कालसे इसका जीर्णोद्धार सर्वज्ञ द्वारा ही होता आया है।

सूत्रागम-अर्थागम और उभयागम इन तीनो मे वास्तवमे 'अर्थागम' को पहला आगम कहा जा सकता है। 'अत्थ भासइ अरहा' के न्याय से। क्योकि तीर्थंकर-अर्हत् सर्व प्रथम अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं(वस्तुका तथ्य बताते हैं), उसे फिर आगे गणधर या पूर्वधर पद्य-गद्यकी रचनासे गूथकर उसे सूत्रके रूपमे लाते हैं। फिर बहुत कालके उपरान्त उनके शिष्य-प्रशिष्य

मूल और अर्थको रोचक ढगसे जोडकर उभयागमका रूप देते हैं। इस प्रकार सूत्र और आगम एक ही हैं। इसके सम्बन्धमें महामानवोके द्वारा मन्थन किया जानेपर स्पष्ट माखन यह निकलता है।

आगम—गुरु परम्परासे प्रचलित, जीवादि तत्वो और पदार्थोका ज्ञान करानेवाला 'आगम' कहलाता है, और वह लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकारका बताया गया है। अज्ञानी-मिथ्या धारणावालेका ज्ञान लौकिक-आगम है, और त्रिकालावाधित सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्रतिपादित सम्यक्ज्ञान (पूर्वापर-अविरुद्ध, वादी प्रतिवादी द्वारा अकाट्य) लोकोत्तर-आगम है। वह द्वादशाङ्ग आचार्य-गणिपिटक कहलाता है।

अथवा—आगमके तीन प्रकार भी हैं, जैसे कि सूत्रागम, अर्थागम और उभयागम।

अथवा -आगमके अन्य रीतिसे भी तीन भेद किये गये हैं, अत्तागम(आत्मागम-आप्तागम), अन्तरागम और परम्परागम।

(१) अत्तागम (आत्मागम-आप्तागम) अपना (सर्वज्ञ द्वारा) रचा हुआ (स्वोपज्ञ रचना)।

(२) अनन्तरागम—गुरुओ(गणधरो)द्वारा रचा गया।

(३) परम्परागम—अनाद्यनन्त परम्परा से प्रचलित सार्वज्ञान।

१—तीर्थंकर अर्थागम-अर्थ(वस्तु-तथ्य या उसका सरला-तिसरल अभिप्राय)को प्रकाशमे लाते हैं, वही आप्तागम (आत्मागम)कहलाता है। उसी भावको गणधर(पिटकधर) सूत्रका रूप देते हैं। और वह "सुत्तागमे"(आप्तागम) प्रामाणिक शास्त्ररत्न समझा जाता है।

२—अर्थसे अनन्तरागम गणधर या आगे चलकर शिष्यो प्रशिष्यो द्वारा सजित सूत्र अनन्तरागम का रूप प्राप्त करता है।

३—फिर वही मन्थन-ज्ञान अर्थसे परम्परागम परा-अपरा ज्ञान कहलाने लगता है, इसके आगे (सूत्र और अर्थसे उपरान्त) कोई आप्तागम-आत्मागम अलग तथ्य नही होता, न ही अनन्तरागम ! केवल उसे सर्वसम्मत परम्परागम ही कहा जाता है।

यह लोकोत्तर-आगमका सही निष्कर्ष है, इसको अनुयोगद्वार सूत्रमे ज्ञानका गुण प्रमाण(प्रामाणिक)कहा गया है। इस अपेक्षा से प्रस्तुत सम्पादित 'सुत्तागमे' लोकोत्तरीय आगमका शुद्धपरम्परागम है। यह इतना अधिक शुद्धतम और निर्दोष है, कि सचमुच पूर्वापर विरोध रहित श्रुत इसी मे है। महावीर वाणी के परम श्रद्धालु महानुभाव इसे अपनायें और भव्य-प्ररिक्त ससारी हो कर सरल मनसे इसमे अहर्निश स्वाध्याय-निरत रह कर तीर्थंकर-नाम-गोत्र उपार्जन तकका लाभ प्राप्त करें।

प्रकाशकीय

कालके गर्भमे धर्म (वस्तुका स्वभाव) अनन्तकालसे दुर्गतिमे पडनेसे धारण-रक्षण करनेका अपना काम करता चला आ रहा है। वह(धर्म)कुछ नई वस्तु नही है, वह तो अनादि-अनन्त है। यह विराट् विश्व की उदर कन्दरामे शेषनागकी नाई फैला पडा है। साथ ही इसके जानने समझने वाले पुरुष भी उसी परम्परासे होते आये हैं। लोगोको जब-जब इसे जानने समझनेमे मन्दता आने लगती है तब तब यथा समय कोई न कोई महान् आत्मा अपने उपादानसे धर्मतत्वको जानने का निमित्त प्रस्तुत करता है। वह निमित्त कारण सादि सान्त होकर भी उपादानके साथ प्रवाह रूपसे अनाद्यनिधन है, और इसका साथी धर्म भी समकक्ष है।

बुराईके गढेमे पडनेसे बचानेवाला धर्म धर्मीके अन्तस्तलसे उद्‌भूत होता है और वह अपने निर्मल अन्तस्तलको लोगोके अन्त करण से इस प्रकार मिलादेता है, जैसे दियेके प्रकाश के साथ दिया।

वर्तमानकालमें महावीरने जगत्‌को अहिंसा, समकत्व और यथार्थ सत्यका जो सन्देश दिया है, उनके समकालीन बुद्धने भी लोगोकी वहमी नीन्द उडानेका यथासाध्य सहयोग दिया है। दो भुजाओकी तरह दोनो महामानवोंने मानव जगत् को असली तथ्य बताकर समत्वके मण्डल मे लाने का भागीरथ प्रयत्न किया है। एक ने तो अहिंसा सयम और तपसे जगत्‌का उद्धार किया, तब दूसरेने लोगोको अहिंसा और प्रेमके सूत्रमे बाधा, जनहित कार्य दोनो ने किया।

बुद्ध से पहले बुद्ध होने न होनेके बारेमे श्री राहुलने अपनी भूमिकामे स्पष्ट किया है। साथ ही उन्होने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वके विषय मे सूत्रकृतागसे ही सिद्ध करके ठीकसे दीवेकी तरह तीर्थंकर परम्परा बताई है।

'सुत्तागमे' पार्श्वापत्यकी चर्चा उत्तराध्ययनसूत्रसे लगाकर भगवतीसूत्र, सूत्रकृताग आदि तकमे मिलती है। बाईसवे अरिष्टनेमितीर्थंकर का वर्णन अन्तकृद्‌दशागमे, बीसवें मुनिसुव्रत तीर्थंकर का वर्णन भगवतीसूत्रमें, ऋषभदेव तीर्थंकर का चरित्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और कल्पसूत्रमें तथा ज्ञाताधर्मकथागमें मल्लीनाथ तीर्थंकर का हाल बयान किया गया है।

ऋषभदेव-तीर्थंकर का कथन स्फुट या अस्फुटरूपसे सनातन पुराणोंमें भी वर्णित है। श्रीमद्भागवतपुराणम बहुत विस्तारके साथ लिखा है।

आदिनाथ अपरनाम ऋषभदेव तीर्थंकर के नाम लेवा कहीं

वावा आदमको उसीरूपमे बताते हैं, तब नाथ सम्प्रदायवाले अपने नौ आराध्य नाथोमे ओकारनाथ के बाद आदिनाथ कहकर आदिनाथको अपना दूसरा नाथ स्वीकार करते है, भाषा भेद हो सकता है पर भावमें एकता ही झलकती है।

तीर्थंकरोने अपने मान-प्रतीष्ठा बढानेके हेतु, या लोगोको सम्प्रदायके घेरेमे डालनेके उद्देश्यसे कोई काम नही किया, उन्होंने तो मानवधर्मका प्रकाश फैलाकर मानवको सत्य तथ्य-हिताचारके द्वारा उसके स्तरको ऊँचा उठानेका काम अपने सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चरित्रसे किया है।

यहाँ तक कि(व्यावहारिक दृष्टि से)घरमे रहते हुये ऋषभदेव तीर्थंकरने उस समयके प्रकृतिके सरल, अबोध और भोले-भाले लोगोको खाना पकाना सिखाने, कपडे सीने, बरतन बनाने, हजामत करने, आदि शिल्पके साथ पढने-लिखने-गणित गिनने आदिका ज्ञान भी जनताका हित और उत्कर्ष ध्यानमे रखकर समझाया, उनमे मुतलक यह खयाल न था कि मैं ये धधेदारी के काम बता रहा हूँ, इसमे मुझे कुछ पारम्पारिकी क्रिया लगेगी, और चिरकाल तक लोग इन शिल्पोको काममे लाते रहेगे, और आगे वाले लोग इसे विज्ञान द्वारा बढायगे, इसमे मेरी आत्मा तक कुछ हानि-वृद्धि होगी या दोष आयगा। वे इस पचडेमे न पडे, उन्होने तो जनताको द्रव्य-भावसे ऊँचा उठाकर कर्म-भूमि बनाया। लोगोको कर्मवीरसे धर्मवीर तकका पाठ पढाकर मानवी आदर्श खडा किया। जोकि उस समयके आदमियोको उस पथका पथिक बनाना आवश्यक था।

तीर्थंकरोका इतिहास "सुत्तागमे" (सुखविपाक सूत्र) मे भरतक्षेत्रके बाहरी और दूरवर्ती क्षेत्रोंमे जैसे विदेहक्षेत्रमे भी युगबाहु जैसे विहरमान तीर्थंकरका वर्णन मिलता है, जोकि

मौलिक और महत्वपूर्ण है। हम पहले ही कह आये हैं कि तीर्थंकर-महामानव बाडे सिंघाडे बनानेका काम नही करते, वे तो आदर्श और तथ्यके वक्ता होते हैं। वे सबको समान उपदेश करते हैं। आचारागके आदेशानुसार वे तो तुच्छ और अतुच्छ सबको न्याय-सगत-सीधा-सरलमार्ग समझाकर लोगोके विचारोंके टुकडोको गोदकी तरह जोडते हैं।

'सुत्तागमे'(उपासक दशाँग सूत्र)मे सकडाल और महावीरके सवादसे यही प्रमाणित होता है। सकडाल एक करोडपति प्रजापति(कुम्हार)है। वह पुरुषार्थको न मानकर 'एकान्त होनहार' को मानता है। इसी विचारके बारेमे महावीर पूछते हैं कि सकडाल ! ये बरतन कैसे बनते हैं ?

वह बरतन बनानेकी सारी विधि-परम्पराको दोहराकर अन्तमे होनहारका छौक लगाता है, और कहता है कि मट्टीकी होनहार बरतन बननेके रूपमे होने की थी।

भगवान् बोले कि यदि कोई तेरी दुकानमे घुसकर इन करीनेसे रक्खे बरतनोको फोडने लगे तो तू क्या समझेगा ?

उसने कहा-उसे ऐसा करनेसे रोकू, स्वय व्यवहार-नीतिके अनुसार दण्ड दू, और सत्तासे दण्डित भी कराऊ।

भगवान्ने फर्माया, तब क्या यह घटना होनहारसे बाहर हुई है ?

अरे ! तेरी स्त्रीसे कोई बलात्कार करे तो उस समय तू क्या करेगा ?

उत्तर—उसको तो मैं जानू ही मार डालू, और यदि मेरे हाथसे बच जाय तो प्राणदण्ड दिलवाऊँ।

भगवान्-क्या यह होनहारसे अलग कुछ नई बात हुई है ?

बस वह इन सीधी, वाणीविलास रहित सरल युक्तिसे पुरुषार्थकी धार पर आकर टिक जाता है और पुराने अन्ध विश्वासकी ढोकरोंसे बच कर पुरुषार्थका राजमार्ग पा लेता है।

इसी प्रकार पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रमण परदेशी राजाके प्रकरण(सुत्तागमे-राय प्रसेणी-सूत्र)मे युक्ति प्रमाण और दलीलो से परदेशीको नास्तिक-धारणासे हटाकर उसे सरल-पथका राही(आस्तिक-प्रामाणिक-अहिंसापरायण-समदृष्टि-न्याय-यशील)बनाकर लोगोकी एक अन्यायी शासक से जान छुडवाते हैं। यानी मानव-प्रेमका पुजारी-समदृष्टि श्रावक बना देते हैं।

महामानव तो लोगोको जातिवाद-सम्प्रदायवाद पक्षवाद-अज्ञानवाद-वाह्याभ्यन्तरद्वन्द्व एव भ्रमणासे उबार लेते है। 'सुत्तागमे' के बत्तीस सूत्रोमे यह सब ठौर-ठौर पर प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार बुद्धने भी दुनियादारोको एक मानवी जातिके सूत्रमें पिरोनेका काम किया है।

"शोणदण्ड प्राध्यापक और बुद्धके सवाद से भी यही परिणाम निकलता है कि उस ब्राह्मण युगमें बुद्धने लोगोको जाति-जालके पचडेसे निकालकर उन्हे सर्वजाति-समभाव तथा अहकार रहित एकताके क्षेत्रमे रहनेका मानवी सन्देश देकर व्यवहार धर्मकी खरी कसोटी करके ही खरा माल तोला। उन्होने सिद्ध कर दिखाया कि ब्राह्मण जाति, रूप, और धनसे न हो कर ज्ञान और चरित्रसे है। जिसे उस समय के करोडो आदमियोंने डकेकी चोटसे मान लिया। अहिंसा और प्रेमकी सही प्रेरणाने उनको आपसमें मिश्री-दूधकी तरह मिलाकर सरस बना दिया। ठीक ही है महापुरुष लोगोंके मनोको मिलाते हैं, तोडते नही।"

अगरचे अवतार इसी अनुसन्धानके लिये जगत्के सामने हैं, परन्तु उनके प्रगट होनेमे जो विशेषता है उसे जाननेकी

आवश्यकता है। अवतार और तीर्थंकरमे यही अन्तर है कि वे ऊपरसे नीचे उतरते हैं, तब तीर्थंकर नीचेसे ऊपर(सिद्धगति-अपुनरावृत्तिधाम)को जाते हैं। उनके काम भी जनता को अभयदान देनेवाले उपयोगी और ऊँचे होते हैं।

जैसे, कि—भगवान् ऋषभदेव पहले तीर्थंकरके बडे पुत्र भरत चक्रवर्तीने अपने से छोटे अठानवें राजा)भाईओसे कहा कि अब से आगे तुम सब मेरे ही अधिकारमे रहकर मेरी आन-दान मानो, क्योंकि मैं अब सार्वभौम-शासक हू, अत मेरे दास होकर रहो। उत्तरमे उन्होंने दास बननेसे इकार करके(अपने पिता)ऋषभदेव तीर्थंकर की सेवामे आकर भरतकी शिकायत की। तथा दास न बननेका विचार प्रकट किया। तब भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकरने अपने अठानवें पुत्रोको युद्धकी सम्मति न देकर ससारसे विरक्ति दिलाकर श्रमण बननका मार्ग सुझाया, और वे सबके सब(तीर्थंकर की आज्ञा मानकर)श्रमण हो गये।

सोलहवें — शान्तिनाथ तीर्थंकरने शान्तिके पाने का राजमार्ग सडियल-सत्ता छोडकर आरम्भ परिग्रहसे मुक्त होकर परम शान्ति पाना बताया।

उन्नीसवे — मल्लीनाथ-तीर्थंकर(सुतागमे ज्ञाता धर्मकथा सूत्र)के कथानुसार यदि उनकी शिक्षा का अनुसरण किया जाये तो लोगो मे अराजकता ही न आने पाये, और समत्व-समाधि तथा प्रामाणिकता की पुष्टि हो। उन्होंने बाहर से युद्ध के लिये आये छ मित्र राजाओ को यह बोध(परामर्श) दिया कि तुम छहों मात्र एक स्त्री के अपावन देह पिण्ड मे आसक्त होकर क्यो नर सहार मचाने आये हो। औरत के बाहरी रूप-रग को न देखकर यदि उसके भीतरी भाग को अन्तर दृष्टि से जानोगे तो उसे अपावन और घिनावनी वस्तु पाओगे। जिस पर कोई भी बुद्धिमान् मोहित न होगा। उनका

अनासक्त प्रद वोध सुनकर उन्हे आत्मभान हुआ। वे युद्ध और विवाह के विचार से मुक्त होकर श्रमण की दिशा मे जाकर गणधर पद विभूषित हुये।

बीसवें—मुनिसुव्रत तीर्थंकर ने आत्म दमन पूर्वक शान्ति सोपान पर चढने की सम्मति प्रदान की।

बाईसवें—अरिष्टनेमि तीर्थंकरने विवाह के लिए जाते जाते मार्ग मे रोककर वाधे गये पशुओंकी पुकार पर ध्यान देकर उन्हें बन्धनमुक्त कराकर आप सदा के लिए योगी और वशी हो गये।

तेईसवे—पार्श्वनाथ तीर्थंकर किसी छोटी सी सूखी झील मे बड तले (समाधि-ध्यानावस्था मे) खडे थे, उनके विरोधी मेघ माली देवने अप्रसन्न होकर असीम पानी बरसाया और वह नाक तक आ गया पर वे अपने शुक्लध्यान मे मगन रहे, न हिले न डुले न विरोधी पर किसी प्रकार का दुर्भाव ही आने दिया, रोष तो उनमे कब उपजने वाला था। समदर्शिता का कितना अच्छा नमूना सिद्ध हुये अन्त मे अपराधी को भी क्षमादान दिया।

चौबीसवें—महावीर तीर्थंकर श्रमण अवस्था मे पेढाल उद्यान मे समाधिस्थ थे। और सगम विरोधी देवने बुरी धारणा से प्रेरित होकर उनको बडी बडी यातनाय दी, वह भी छ मास तक देता रहा, पर महावीर तीर्थंकर अणुमात्र भी विचलित न हुये। वह अन्त मे हार कर जाने लगा, कुछ दूर जाकर मुडकर देखा तो उनके आखो से आंसु की बूंद ढुलक रही थी। वह कौतुहल वश वापस आकर बोला कि भट्टारक! अब तो मैं तुम्हारा पीछा छोडकर जा रहा हूँ, तुम्हे अब क्या कष्ट क्या हुआ है?

महावीर—तुम छ मास मुझ पर उपसर्ग व आक्रमण करते रहे पर मैं तुम्हारी इस बुरी धारणा को न बदल सका। जड लोह को जड पारसमणि अपने स्पर्श से उसे सुवर्णता देता है,

पर मैं तुम्हारी हिंसक-क्रूर प्रकृति को दयालुता मे न बदल सका यही एक अर्मान है। सगम लज्जित मुख से खिसक गया, पर वह यातनायें देकर भी उन्हे चलायमान तो न कर सका। वे भी उसको असीम अवज्ञाओ पर जरा भी गर्म न हुये प्रत्युत समभावस्थ ही रहे।

ऐसे उत्तम समता के योगी, सन्मार्ग दर्शक पीछे अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, आगे भी होगे, उनकी निष्पक्ष उपकारिणी वाणी से अनन्तानन्त लोगो ने दुराग्रह-बुराइयोके सागरसे पार भी पाया।

हमारे लायक मित्र त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुल साकृत्यायनने महावीर-तीर्थंकरके उपदेश(सूत्रकृताङ्ग)का सरल-हिन्दी भाषाकी बोलचालमे अनुवाद करनेका यथाक्षयो पशम प्रयत्न किया है, देशकालके अनुसार मलजालका यह कितना अच्छा स्वर्णयुग है कि इसमे एक भिन्न विचारक दूसर भिन्न विचारककी धारणा-मान्यताओको अपनी राष्ट्रीय-लोक भाषामे प्रस्तुत करना है, यह अमूल्य सेवा कितनी गौरवपूर्ण वस्तु है। पहले भी कई अच्छे लोगोमे ऐसी ही विचारसरणी पाई गई है। जैसे कि पाणिनि ऋषि शाकटायन ऋषिकी रीतिको अपने व्याकरणमे दर्ज करते है, और गार्ग्य-गालव ऋषिके मतको कदर करके उसे पसद करते हैं, और अपनाते हैं। उन्होंने इसे शिष्टाचार और ग्रन्थका गौरव भी माना है। इसी भाँति यह युग भी राग-द्वेष मिटाकर गुण ग्रहणतापूर्वक परस्पर मिलनेका युग है। न कि खीचातानी का। प्रो० दिलमहम्मदने गीताको खालिस उर्दू-शायरीमे रगकर उसे दिलकी-गीता बनाया, और लोगोने उसे चावसे अपनाया।

श्रीमान् राहुलने सूत्रकृतागका अनुवाद करते समय स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-निदिध्यासन पूर्वक इसकी टीका-चूर्णी-भाष्य-वृत्ति-अनुवाद आदिकी भी आँखें देखी हैं। यदि स्वाध्याय

पर मैं तुम्हारी हिंसक-क्रूर प्रकृति को दयालुता मे न बदल सका यही एक अर्मान है। सगम लज्जित मुख से खिसक गया, पर वह यातनायें देकर भी उन्हे चलायमान तो न कर सका। वे भी उसकी असीम अवज्ञाओ पर जरा भी गर्म न हुये, प्रत्युत समभावस्थ ही रहे।

ऐसे उत्तम समता के योगी, सन्मार्ग दर्शक पीछे अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, आगे भी होगे, उनकी निष्पक्ष उपकारिणी वाणी से अनन्तानन्त लोगो ने दुराग्रह-बुराइयोके सागरसे पार भी पाया।

हमारे लायक मित्र त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुल साङ्कृत्यायनने महावीर-तीर्थंकरके उपदेश(सूत्रकृताङ्ग)का सरल हिन्दी भाषाकी बोलचालमे अनुवाद करनेका यथाक्षयोपशम प्रयत्न किया है, देशकालके अनुसार मेलजाल०। यह कितना अच्छा स्वर्णयुग है कि इसमे एक भिन्न विचारक दूसर भिन्न विचारककी धारणा-मान्यताओको अपनी राष्ट्रीय-लोक भाषामे प्रस्तुत करना है, यह अमूल्य सेवा कितनी गौरवपूर्ण वस्तु है। पहले भी कई अच्छे लोगोमे ऐसी ही विचारसरणी पाई गई है। जैसे कि पाणिनि ऋषि शाकटायन ऋषिकी रीतिको अपने व्याकरणमे दर्ज करते हैं, और गार्ग्य-गालव ऋषिके मतको कदर करके उसे पसद करते हैं, और अपनाते हैं। उन्होंने इसे शिष्टाचार और ग्रन्थका गौरव भी माना है। इसी भाँति यह युग भी राग-द्वेष मिटाकर गुण ग्रहणतापूर्वक परस्पर मिलनेका युग है। न कि खीचातानी का। प्रो० दिलमहम्मदने गीताको खालिस उर्दू-शायरीमे रखकर उसे दिलकी-गीता बनाया, और लोगोंने उसे चावसे अपनाया।

श्रीमान् राहुलने सूत्रकृतागका अनुवाद करते समय स्वाध्याय-चिन्तन-मनन-निदिध्यासन पूर्वक इसकी टीका-चूर्णी-भाष्य-वृत्ति-अनुवाद आदिकी भी आँखें देखी हैं। यदि स्वाध्याय

प्रेमियोने इसे अपनाया और इसके स्वाध्यायके द्वारा चरित्र सगठन और मनोबलका विकास किया तो इसके प्रकाशनका प्रयास सफल समझा जायगा।

इसके अतिरिक्त 'सूत्रागम प्रकाशक-समिति'ने अपने पवित्र ३२ सूत्र आगमोको 'सुत्तागमे' मे बरसो पहले(मूल अर्धमागधी मे)छपवाकर भारतीय यूनीवरसिटिके अलावा आन्तर-राष्ट्री की यूनिवरसिटियों और सेन्टरलाइब्रेरियोमे भी अमूल्य भेजा है। वहाके प्राकृत-सस्कृत-पालीके प्रखर-निष्पक्ष विद्वानोने इसे पढकर बडी कदर की है। तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थराज का अथ से अन्त तक खूब स्वाध्याय किया है, तथा अपने पत्रो-प्रमाणपत्रोमे 'सुत्तागमे' की बडी ही प्रतिष्ठाके साथ मुक्तकण्ठसे सराहना की है। उनके पत्रोका सग्रह विद्यमान है, अवकाश पाकर आपके मनोगृह तक पहुचानेका यथाशक्य प्रयत्न किया जायगा।

'सुत्तागमे' के समान अब अर्थागमके प्रकाशनका काम चालु है। आचाराग(पहला श्रुतस्कन्ध,),उपासक-दशाग, विपाकश्रुत, निरयावलिका पचक आदि तो प्रकाशित हो ही चुके हैं। अब यह सूत्रकृतागसूत्र हिन्दी आपके सुन्दर कर कमलोमे अर्पित है। इस आध्यात्मिक-दार्शनिक सूत्रके स्वाध्यायसे हमे आशा है आप व्यापक लाभ लेंगे। इसकी सरल हिन्दी आपके मनको मुरलीकी तानकी तरह मोह लेगी। तथा आगेकेलिये प्रश्न-व्याकरण और रायपसेणीके अनुवाद तैयार होकर कुछ ही दिनोमे छपनेकेलिये प्रेसमे पहुचने वाले हैं। विद्युद्वेगसे काम चालु है। आपका स्वाध्याय प्रेम यदि हमारे लिये वरदान स्वरूप बन कर बढता रहा तो हम उसके सहारे यथासम्भव कुछ ही वर्षोमे अर्थागमके शेष सूत्र भी प्रकाशमे ले आयगे, और आपकी स्वाध्याय एव साहित्य सेवा पुष्कल रूपमें कर पायगे।

भूमिका

पालि पिटकोंका भारतके समकालीन धर्म और भूगोल आदिके ज्ञानमे जैसे बड़ा महत्व है, वैसे ही जैन आगमोंका भी बड़ा महत्व है। इस प्रकार उनका सनातन महत्व बहुतसे वैसे लोगोंके लिये भी है, जिनका धर्मसे विशेष सम्बन्ध नहीं हैं। भारतके इतिहासकी ठोस सामग्री उसी समयसे मिलती है, जब कि महावीर और बुद्ध हुये, और वह दोनोंके पिटकोमे सुरक्षित है। दोनो पिटकोंमें बौद्ध पिटक बहुत विशाल है. ३२ अक्षरके श्लोकोमे गणना करने पर उनकी संख्या चार लाखसे अधिक होगी, जैन (आचार्य-गणि) पिटक (कानदोपसे) ७२००० श्लोक हैं।

दोनों की परम्परा उनकी भाषा मागधी बतलाती है, जिसका अर्थ यही है, कि महावीर और बुद्धके समय जो मागधी बोली जाती थी, दोनों महापुरुषोंके उसीमे (उस समयकी लोकभाषामे) उपदेश हुये थे। पर ग्रन्थ तो उस समय लिखे नहीं गये, केवल गुरुसे सुनकर उन्हें शिष्योंने धारण किया। धारण करते पालि पिटकको (बौद्ध पालि पिटक को) २४ पीढ़ी और जैन पिटकको २९ पीढ़िया बीत गईं, तब उन्हें लेखबद्ध किया गया। इस सारे समयमें पिटकधरोंकी भाषाका प्रभाव पड़ता रहा।

भगवान् महावीरका जन्म-स्थान वैशाली और भगवान् बुद्धका जन्म-स्थान लुम्बिनी (।) रुम्मिनदेई बिहार और उत्तरप्रदेश के दो प्रदेशोंमे है। हर जिला लेने पर वैशाली आधुनिक बसाढ़ मुजफ्फरपुर जिलेमें है, जहाँ से पश्चिममे चलने पर सारन, देवरिया फिर गोरखपुरकी सीमाके पास ही रुम्मिनदेई नेपालकी तराईमे पड़ती है। मील

प्रेमियोने इसे अपनाया और इसके स्वाध्यायके द्वारा चरित्र सगठन और मनोबलका विकास किया तो इसके प्रकाशनका प्रयास सफल समझा जायगा ।

इसके अतिरिक्त 'सूनागम प्रकाशक-समिति'ने अपने पवित्र ३२ सूत्र-आगमोको 'सुत्तागमे' मे वरसो पहले(मूल अर्धमागधी मे)छपवाकर भारतीय यूनीवरसिटिके अलावा आन्तर-राष्ट्री की यूनिवरसिटियों और सेन्टरलाइब्रेरियोमे भी अमूल्य भेजा है। वहाके प्राकृत-सस्कृत-पालीके प्रखर-निष्पक्ष विद्वानोने इसे पढकर वडी कदर की है। तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थराज का अथ से अन्त तक खूब स्वाध्याय किया है, तथा अपने पत्रो-प्रमाणपत्रोमे 'सुत्तागमे' की वडी ही प्रतिष्ठाके साथ मुक्तकण्ठसे सराहना की है। उनके पत्रोका सग्रह विद्यमान है, अवकाश पाकर आपके मनोगृह तक पहुचानेका यथाशक्य प्रयत्न किया जायगा ।

'सुत्तागमे' के समान अब अर्थागमके प्रकाशनका काम चालु है। आचाराग(पहला श्रुतस्कन्ध,),उपासक-दशाग, विपाकश्रुत, निरयावलिका पचक आदि तो प्रकाशित हो ही चुके हैं। अब यह सूत्रकृतागसूत्र हिन्दी आपके सुन्दर कर कमलोमे अर्पित है। इस आध्यात्मिक दार्शनिक सूत्रके स्वाध्यायसे हमे आशा है आप व्यापक लाभ लेंगे। इसकी सरल हिन्दी आपके मनको मुरलीकी तानकी तरह मोह लेगी । तथा आगेकेलिये प्रश्न-व्याकरण और रायपसेणीके अनुवाद तैयार होकर कुछ ही दिनोमे छपनेकेलिये प्रेसमे पहुचने वाले हैं। विद्युद्वेगसे काम चालु है। आपका स्वाध्याय प्रेम यदि हमारे लिये वरदान स्वरूप वन कर वढता रहा तो हम उसके सहारे यथासम्भव कुछ ही वर्षोमे अर्थागमके शेप सूत्र भी प्रकाशमे ले आयगे, और आपकी स्वाध्याय एव साहित्य सेवा पुष्कल रूपमें कर पायगे।

भूमिका

पालि पिटकोंका भारतके समकालीन धर्म और भूगोल आदिके ज्ञानमे जैसे बड़ा महत्व है, वैसे ही जैन आगमोका भी बड़ा महत्व है। इस प्रकार उनका सनातन महत्व बहुतसे वैसे लोगोंके लिये भी है, जिनका धर्मसे विशेष सम्बन्ध नहीं हैं। भारतके इतिहासकी ठोस सामग्री उसी समयसे मिलती है, जब कि महावीर और बुद्ध हुये, और वह दोनोंके पिटकोमे सुरक्षित है। दोनो पिटकोंमे बौद्ध पिटक बहुत विशाल है, ३२ अक्षरके श्लोकोंमे गणना करने पर उनकी सख्या चार लाखसे अधिक होगी, जैन (आचार्य-गणि) पिटक (कान्-दोपसे) ७२००० श्लोक हैं।

दोनों की परम्परा उनकी भाषा मागधी बतलाती है, जिसका अर्थ यही है, कि महावीर और बुद्धके समय जो मागधी बोली जाती थी, दोनों महापुरुषोंके उसीमे (उस समयकी लोकभाषामे) उप-देश हुये थे। पर ग्रन्थ तो उस समय लिखे नही गये, केवल गुरुसे सुनकर उन्हें शिष्योने धारण किया। धारण करते पालि पिटकको (बौद्ध पालि पिटक को) २४ पीढी और जैन पिटकको २६ पीढिया बीत गई, तब उन्हें लेखबद्ध किया गया। इस सारे समयमे पिटकधरोंकी भाषाका प्रभाव पडता रहा।

भगवान् महावीरका जन्म-स्थान वैशाली और भगवान् बुद्धका जन्म-स्थान लुम्बिनी (।) रुम्मिनदेई बिहार और उत्तरप्रदेश के दो प्रदेशोमे है। हर जिला लेने पर वैशाली आधुनिक बसाढ मुजफ्फरपुर जिलेमें है, जहाँ से पश्चिममें चलने पर सारन, देवरिया फिर गोरखपुरकी सीमाके पास ही रुम्मिनदेई नेपालकी तराईमे पडती है। मील

सीधा लेने पर वैशालीसे लुम्बिनी २५० मील पश्चिमोत्तर दिशामे है। आज भाषा दोनो जगहकी एक ही है, मात्र अन्तर इतना ही है कि वैशालीमे बहुत हल्कासा मैथिली भाषाका प्रभाव पडता दीखता है, जब कि रुम्मिनदेईमे बहुत हल्कासा प्रभाव अवधी कौसलीका है। दोनो जगह भोजपुरी बोली जाती है।

आज की मगही प्राचीन मागधीकी सन्तान है। भोजपुरीको भी विद्वान् उसीकी सन्तान मानते हैं। प्राचीनकालमे इनका अन्तर और कम रहा होगा। बुद्ध और महावीर एक ही भाषा बोलते रहे होंगे। जो बदलते-बदलते ईसापूर्व तीसरी सदीमे अशोकके पूर्वी अभिलेखो की भाषा बन गई, जिसे पालि नाम दे दिया गया है। ईसवी सन् के आरम्भके साथ प्राकृत भाषा आन उपस्थित होती है, जिसकी बोल-चालकी भाषाका नमूना किसी अभिलेखमे नही पाया जाता, पर उसका साहित्यिक नमूना बहुत मिलता है। पालि त्रिपिटक पालि काल ही मे ··· हाँ उसके अन्तमे लेखबद्ध हुये, इसलिये वहा पुराने रूप मिलते हैं, जैनागम प्राकृत कालमे लिपिबद्ध हुये, इसलिये उनको अर्धमागधीमे होना ही चाहिये। दोनोंकी भाषाओ पर पिटकधरों की भाषा का प्रभाव है, इसलिये पालि पिटक की भाषा मागधी पालिकी अपेक्षा सौराष्ट्री-महाराष्ट्री पालिके समीपम है, और जैन आगमो की मागधी सौरसेनी-महाराष्ट्री प्राकृतके समीप है।

पालि पिटक पर काल और देशका प्रभाव पडा है, पर इसमे सन्देह नहीं, बुद्धकी वाणी इसीमे सुरक्षित है, वही बात जैन आगमों के बारेमे भी है। महावीरकी वाणी जैन आगमोमे ही है। पालि त्रिपिटक सिंहल, बर्मी, और रोमन लिपियोंमें प्राप्य था, अब तो नवनालन्दाविहारसे नागरीमें भी प्राय. सारा निकल चुका है। जैन आगमके अलग-अलग भाग अलग-अलग स्थानोंसे निकले थे, जिनमें कितने ही दुर्लभ भी हो गए, श्रीपुष्फ

भिक्खूने सारे (वर्तमान) जैन पिटक सुत्तागम (।) को दो भागोंमें मुद्रित कराके सुलभ कर दिया। मैं बहुत दिनोंसे उन्हें संग्रह करना चाहता था, पर ऊपर लिखी दिक्कतोंके कारण आशा नहीं रखता था, कि उन्हें देख सकूंगा।

आगम शब्द बौद्धोंमें भी सुपरिचित है। जैसे तीर्थंकरके प्रवचनको आगम कहते हैं, वैसे ही बुद्धवचनका भी वही नाम है, सूत्र पिटकके भिन्न भिन्न भाग दीर्घ आगम, मज्झिम आगम, संयुक्त आगम और क्षुद्रक आगम कहे जाते हैं, पालि वाले उन्हें निकाय नामसे कहना अधिक पसन्द करते हैं, पर सर्वास्तिवाद-स्याद्वादवाले आगम नाम ज्यादा पसन्द करते थे। विनय पिटकको आगम या निकाय नहीं कहा जाता था।

दोनों धर्मोंमें सुत्तका संस्कृत रूप सूत्र

दोनो जगह सुत्त का संस्कृत रूप सूत्र स्वीकार किया गया है, पर यह समय ईसा-पूर्व छठवीं सदी सूत्र कहनेका समय नहीं था, सूत्र उसके बाद रचे गये। उस समय ऋग्वेदके सूक्तका प्रवाह था इसलिये महावीर और बुद्धके मुँहसे निकले सूक्त ही थे, जिन्हें सूत्र कहा गया। जो कि जैन सूत्रागम और बौद्ध सूत्रपिटकके स्थान पर हैं।

सुत्तागम के अंग-उपांगके प्रकारसे दो भेद हैं, उपलब्ध अंगोंकी संख्या निम्न ग्यारह हैं—

आचार—आयारे, सूत्रकृत्-सूयगडे, स्थानम्-ठाणे, समवाय—समवाये, भगवती=विवाहप्रज्ञप्ति-भगवई विवाहपण्णत्ती, ज्ञाताधर्मकथा-णायाधम्मकहाओ, उपासकदशा-उवासगदसाओ, अन्तकृद्दशा-अंतगडदसाओ, अनुत्तरोपपातिकदशा-अणुत्तरोववाइयदसाओ, प्रश्नव्याकरण-पण्हावागरणं, विपाकसूत्र विवागसुय।

सीधा लेने पर वैशालीसे लुम्बिनी २५० मील पश्चिमोत्तर दिशामे है। आज भाषा दोनो जगहकी एक ही है, मात्र अन्तर इतना ही है कि वैशालीमे बहुत हल्कासा मैथिली भाषाका प्रभाव पड़ता दीखता है, जब कि रुम्मिनदेईमे बहुत हल्कासा प्रभाव अवधी कौसलीका है। दोनो जगह भोजपुरी बोली जाती है।

आज की मगही प्राचीन मागधीकी सन्तान है। भोजपुरीको भी विद्वान् उसीकी सन्तान मानते हैं। प्राचीनकालमे इनका अन्तर और कम रहा होगा। बुद्ध और महावीर एक ही भाषा बोलते रहे होंगे। जो बदलते-बदलते ईसापूर्व तीसरी सदीमे अशोकके पूर्वी अभिलेखो की भाषा बन गई, जिसे पालि नाम दे दिया गया है। ईसवी सन् के आरम्भके साथ प्राकृत भाषा आन उपस्थित होती है, जिसकी बोल-चालकी भाषाका नमूना किसी अभिलेखमे नही पाया जाता, पर उसका साहित्यिक नमूना बहुत मिलता है। पालि त्रिपिटक पालि काल ही मे ''' हाँ उसके अन्तमे लेखबद्ध हुये, इसलिये वहाँ पुराने रूप मिलते हैं, जैनागम प्राकृत कालमे लिपिबद्ध हुये, इसलिये उनको अर्धमागधीमे होना ही चाहिये। दोनोंकी भाषाओ पर पिटकधरों की भाषा का प्रभाव है, इसलिये पालि पिटक की भाषा मागधी पालिकी अपेक्षा सौराष्ट्री-महाराष्ट्री पालिके समीपमे है, और जैन आगमो की मागधी सौरसेनी-महाराष्ट्री प्राकृतके समीप है।

पालि पिटक पर काल और देशका प्रभाव पडा है, पर इसमे सन्देह नहीं, बुद्धकी वाणी इसीमे सुरक्षित है, वही बात जैन आगमों के बारेम भी है। महावीरकी वाणी जैन आगमोंम ही है। पालि त्रिपिटक सिंहल, बर्मी, और रोमन लिपियोंमें प्राप्य था, अब तो नवनालन्दाविहारसे नागरीमें भी प्राय सारा निकल चुका है। जैन आगमके अलग-अलग भाग अलग-अलग स्थानोंसे निकले थे, जिनमें कितने ही दुर्लभ भी हो गए, श्रीपुप्फ

ब्राह्मण उन्हें वृषल(शूद्र)कहते थे। श्रमणों के समान पारिभाषिक शब्दोंके लिये ग्रन्त की शब्द सूची को देखें, जिसमे बौद्धो और जैनों के सम्मिलित शब्दों के आगे हमने ॐ चिह्न बना दिये हैं।

भिक्षु-भिक्षुणी उपासक और उपासिका तो हैं ही, भिक्षु बननेकी उपसम्पदा का भी एकसा ही शब्द है।

गुरुको दोनों आचार्य उपाध्याय कहते हैं, साधु होके रहना 'ब्रह्मचर्य पालन करना' काम को पराजित शब्द का प्रयोग दोनो मे है। भिक्षा के लिए पिण्डपातका शब्द समान है।

पोषध या उपोसथ भी श्रमणोपासकोका व्रत है, जो महीने की दोनों अष्टमियो और अमावास्या, पूर्णिमाका दिन होता था। बौद्ध विहारोंमे इसके लिए पोषधशालायें या पोषधागार बनाये जाते थे। वैसे साधारण बौद्ध उपासक जन उन चारो दिनोंमे या कम से कम पूर्णिमा के दिन विशरण और पञ्च शील ग्रहण करते हैं, दिन मे भिक्षुओंकी तरह दो पहरके बाद भोजन न ो करते। और भी समय पूजा और सत्संगमें बिताते हैं।

और भी कितने ही श्रमणों के विधान एक से शब्दों मे हैं—

वेरमणी अर्थात् विरत होना, श्रावक और उपासक शब्दका तो इतना प्रयोग हुआ कि जैन शब्द का पर्याय ही सावक या (बिहार की बराकर नदी के किनारे बसने वाले लोग सराक) और सरावगी हो गया। बुद्ध, सम्बुद्ध, तथागत, तायी, अर्हत्, ये सारे विशेषण बुद्ध और महावीर दोनोंके लिए प्रयुक्त होते हैं। बोधि, सम्बोधिकी भी वही बात है। यह सारी समानतायें बतलाती हैं, कि सारे श्रमण किसी एक परम्परा के मानने वाले थे, जिनने कि यह समान शब्द दिय। बुद्ध के पहले किसी ऐतिहासिक बुद्धका पता नहीं लगता, यद्यपि अशोक राजाने बुद्धके पहलेके एक बुद्ध कोनागमन नाम पर एक

सुत्तागम के भीतर ही ११अग, १२ उपाङ्ग, ४ छेद, ४ मूल आवश्यक सूत्र सम्मिलित है। इस प्रकार अग-उपाग, छेद, मूल तथा आवश्यकसूत्र सहित सारा सुत्तागम ३२ ग्रन्थो का है। बारहवा दृष्टिवाद अग लुप्त हो गया है, यह परम्परा मानती है। जिन-वचनो के देर से लेखारूढ होनेसे ऐसा होना ही था, पर जो मुनियोने अपनी स्मृतिम सुरक्षित रक्खा, उसीके लिये हम उनके ऋणसे उऋण नहीं हो सकते।

ब्राह्मण परम्परा वेद ब्राह्मण आदिके रूपमे हम तक पहुँची, श्रमणपरम्परा भी उसमे कम विशाल नही थी। जैन और बौद्ध पिटक विशाल हैं, कपिलकी परम्परा षष्टितन्त्रके रूपमे ईसवी सन्के आरम्भ तक थी, जब कि उसके परवाद और आख्यायिकाके आशको ईश्वरकृष्णने साख्य रचीं। कपिल बुद्ध और पालिवालमें तीर्थ नही था, इसलिये तत्कालीन तीर्थङ्करोमे उसका नाम नही मिलता। अन्य छः तीर्थङ्करो के नाम आते हैं, जैसे—

जो श्रमण ब्राह्मण सघके अधिपति सघके आचार्य ज्ञात यशस्वी तीर्थङ्कर बहुत जनो द्वारा साधुसम्मत थे, जैसे—पूर्णकाश्यप, मक्खरी गोसाल, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र, सजय वेलट्ठिपुत्र, प्रकुधकात्यायन, अजितकेशकम्बली। वह भी" ''' सम्बोधिको जान लिया ऐसा दावा नही करते। 'फिर आप गौतम तो जन्मसे अल्पवयस्क और प्रव्रज्या म नये के लिये क्या कहना ?" संयुत्तनिकाय ३।१।१ बुद्धचर्या पृष्ठ ८५।

निग्रन्थ ज्ञातपुत्र की भांति और तीर्थङ्करोके भी पिटक थे, जो उनके अनुयायियो के साथ लुप्त हो गये। उपरोक्त उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि काश्यप ज्ञातपुत्र (महावीर) बुद्धसे आयुमे बड़े थे। सभी श्रमणोंकी परिभाषायें एक सी थीं और विचारोंमे कुछ समानता थी। सभी विचार स्वातन्त्र्यके मानने वाले थे और ब्राह्मणो के साथ उनका शाश्वतिक विरोध था। सभी वर्णव्यवस्था के विरोधी थे। इसीलिये

ब्राह्मण उन्हें वृषल(शूद्र)कहते थे । श्रमणो के समान पारिभाषिक शब्दोके लिये अन्त की शब्द सूची को देखें, जिसमे बौद्धो और जैनो के सम्मिलित शब्दों के आगे हमने * चिह्न बना दिये हैं ।

भिक्षु-भिक्षुणी उपासक और उपासिका तो हैं ही, भिक्षु बननेको उपसम्पदा का भी एकसा ही शब्द है ।

गुरुको दोनो आचार्य उपाध्याय कहते हैं, साधु होके रहना 'ब्रह्मचर्य पालन करना' काम को पराजित शब्द का प्रयोग दोनों मे है । भिक्षा के लिए पिण्डपातका शब्द समान है ।

पोषध या उपोसथ भी श्रमणोपासकोका व्रत है, जो महीने की दोनो अष्टमियों और आमावास्या, पूर्णिमाका दिन होता था । बौद्ध विहारोंमे इसके लिए पौषधशालायें या पोषथागार बनाये जाते थे । वैसे साधारण बौद्ध उपासक जन उन चारो दिनोंमे या कम से कम पूर्णिमा के दिन त्रिशरण और पञ्च शील ग्रहण करते हैं, दिन मे भिक्षुओंकी तरह दो पहरके बाद भोजन न ी करते । और भी समय पूजा और सत्संगमे बिताते हैं ।

और भी कितने ही श्रमणो के विधान एक से शब्दो मे हैं—

वेरमणी अर्थात् विरत होना, श्रावक और उपासक शब्दका तो इतना प्रयोग हुआ' कि जैन शब्द का पर्याय ही सावक या (बिहार की बराकर नदी के किनारे बसने वाले लोग सराक) और सरावगी हो गया । बुद्ध, सम्बुद्ध, तथागत, तायी, अहृत्, ये सारे विशेषण बुद्ध और महावीर दोनोंके लिए प्रयुक्त होते हैं । बोधि, सम्बोधिकी भी यही बात है । यह सारी समानतायें बतलाती हैं, कि सारे श्रमण किसी एक परम्परा के मानने वाले थे, जिसने कि यह समान शब्द दिय । बुद्ध के पहले किसी ऐतिहासिक बुद्धका पता नहीं लगता, यद्यपि अशोक राजाने बुद्धके पहलेके एक बुद्ध कोनागमन नाम पर एक

स्तम्भ लुम्बिनीके पास निगालिहवा मे स्थापित करवाया था पर इसमे कोनागमनकी ऐतिहासिकता सिद्ध नही होती, सिर्फ यही मालूम होता है कि अशोकके समय कोनागमन बुद्धका ख्याल प्रचलित था। जैसे बुद्धके साथ २४ बुद्धोकी बात कही जाती है, वैसे ही महावीरको लेते २४ तीर्थंकरोकी भी बात जैन परम्परा कहती है। पर वहाँ कम से कम २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वके ऐतिहासिक होनेके जबरदस्त कारण हैं। पार्श्वके अनुयायी श्रावक और श्रमण उस समय मौजूद थे। यहीं सूत्रकृताङ्ग मे उदक पेढालपुत्र (।) पृष्ट १३४, १४५ का सवाद प्रथम गणधर भिक्षु गौतम-इन्द्रभूति से आया है, अन्तमे पेढाल भिक्षु गौतमके प्रवचन से सन्तुष्ट होते हैं और पार्श्वके चातुर्याम सवरके स्थान पर महावीरके पच महाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार पार्श्वके अनुयायी भिक्षुओका होना उस समय सिद्ध होता है। कुछ विद्वान मानते है कि तीर्थकर पार्श्व महावीरसे प्राय दो शताब्दी पहले हुए थ अर्थात् वह ईसा पूर्व आठवी सदीमे मौजूद थे। यही समय पुराने उपनिषदोंका है। अर्थात् जिस समय ब्राह्मण पुराने वैदिक कर्मकाण्डके जालको तोडकर उपनिषद्की अपेक्षाकृत मुक्त हवामे सास लेनेका प्रयास कर रहे थे उसी समय श्रमणोंके सबसे पुराने तीर्थंकर स्वतन्त्रताका पाठ दे रहे थे।

उपनिषद् काल से पहले श्रमणोके अस्तित्वको ले जाना ठोस ऐतिहासिक सामग्री के बल पर मुश्किल है। मोहनजोदरो और हडप्पाकी सस्कृति वैदिक आर्योंसे अधिक मृदु, अधिक अहिंसापरायण रही होगी, इसकी सम्भावना कम है। मानव धीरे-धीरे हिंसासे अहिंसाकी ओर आया। ताम्रयुग नरमेध[illegible] हिंसाके लिए अधिक सक्षम था, इसलिए [illegible] किया। ईसा पूर्व आठवीं सदी [illegible]

बुद्धने वर्षाम भिक्षुओंसे [illegible] करम

यातायात बंद कर एक जगह वर्षावास करने का नियम बनाया, इसमें श्रमणोंकी परम्परा भी कारण थी, एक इन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होनेके डरसे तृण वनस्पतिके काटनेसे भिक्षुओंको रोका, यह भी पुरानी श्रमण परम्परा का ख्याल था। श्रमण परम्पराओंमें भेद भी थे, पर साथ ही कुछ समानतायें भी थीं।

सूत्रकृतांग ११ विद्यमान अंगोंमें दूसरा है। इसके कुछ अंश पद्य और कुछ गद्य में हैं। जैन दृष्टिसे ध्यान शील और आध्यात्मिक तत्वज्ञान जानने के लिए यह सूत्र बहुत उपयोगी है। तत्वज्ञानकेलिए यहां भी बौद्धों की तरह ही बोधि और सम्बोधिका प्रयोग किया जाता है। यहां २। १। १ में आया है कि—"किं न बुज्झह संबोही।" समवायाङ्ग ३। २२। ७ में बोधि के तीन प्रकार बतलाये हैं—"णाणबोही, दंसणबोही चरित्तबोही।' बोधिप्राप्त पुरुषोंको बुद्ध कहते हैं। वह भी तीन प्रकारके होते हैं—

तिविहा बुद्धा, णाणबुद्धा, दंसणबुद्धा, चरित्तबुद्धा, समवायांग ३। २। २०७॥

शाम के वक्त बौद्ध विहारों में कुछ स्तुति गाथायें पढ़ी जाती हैं, जिनमें एक इस प्रकार है—

ये च बुद्धा अतीता च, ये च बुद्धा अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा, अहं वंदामि ते सदा॥

पालि के किस ग्रन्थसे इसे लिया गया, इसका ढूँढने पर भी पता नहीं लगा। ऐसी ही एक गाथा सूत्रकृताङ्ग में है—

जे य बुद्धा अतिक्कन्ता जे य बुद्धा अणागया॥ १। ११। ३६॥

महावीर और बुद्ध लोककल्याण के लिए बराबर घूम घूम कर उपदेश देते रहे। बौद्ध पिटकमें पर्यटनकी भूमिको मध्यमण्डल कहा गया है। विनयपिटककी अट्ठकथामें मध्यमण्डल की सीमाके बारेमें लिखा है—

स्तम्भ लुम्बिनीके पास निगलिहवा में स्थापित करवाया था पर इससे कोनागमनकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं होती, सिर्फ यही मालूम होता है कि अशोकके समय कोनागमन बुद्धका ख्याल प्रचलित था। जैसे बुद्धके साथ २४ बुद्धोंकी बात कही जाती है, वैसे ही महावीरको लेते २४ तीर्थंकरोंकी भी बात जैन परम्परा कहती है। पर वहाँ कम से कम २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वके ऐतिहासिक होनेके जबरदस्त कारण हैं। पार्श्वके अनुयायी श्रावक और श्रमण उस समय मौजूद थे। यहीं सूत्रकृताङ्ग में उदक पेढालपुत्र (।) पृष्ट १३४, १४५ का संवाद प्रथम गणधर भिक्षु गौतम-इन्द्रभूति से आया है, अन्तम पेदाल भिक्षु गौतमके प्रवचन से सन्तुष्ट होते हैं और पार्श्वके चातुर्याम संवरके स्थान पर महावीरके पंच महाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार पार्श्वके अनुयायी भिक्षुओंका होना उस समय सिद्ध होता है। कुछ विद्वान मानते हैं, कि तीर्थंकर पार्श्व महावीरसे प्रायः दो शताब्दी पहले हुए थे अर्थात् वह ईसा पूर्व आठवीं सदीमें मौजूद थे। यही समय पुराने उपनिषदोंका है। अर्थात् जिस समय ब्राह्मण पुराने वैदिक कर्मकाण्डके जालको तोड़कर उपनिषदकी अपेक्षाकृत मुक्त हवामें साँस लेनेका प्रयास कर रहे थे, उसी समय श्रमणोंके सबसे पुराने तीर्थंकर स्वतन्त्रताका पाठ दे रहे थे।

उपनिषद् काल से पहले श्रमणोंके अस्तित्वको ले जाना ठोस ऐतिहासिक सामग्री के बल पर मुश्किल है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पाकी संस्कृति वैदिक आर्योंसे अधिक मृदु, अधिक अहिंसापरायण रही होगी, इसकी सम्भावना कम है। मानव धीरे धीरे हिंसासे अहिंसाकी ओर आया। ताम्रयुग नरमेधोंका युग था, लोहयुगमें हिंसाके लिए अधिक सक्षम था, इसलिए कोमल हृदयोंने हिंसाका विरोध किया। ईसा पूर्व आठवीं सदी लौहयुगका आरम्भ थी।

बुद्धने वर्षामें भिक्षुओंके लिए अधिक प्राणियों की हिंसा होनेके कारण

कम्पिलाका भी जैनागमोमे उल्लेख है, पालिमे भी इसे कम्पिला कहते हैं। पंचालकी पुरानी राजधानी काम्पिल्य आज एटा जिले का कम्पिल कस्बा है।

श्रमण-ब्राह्मण शब्दोका प्रयोग मुनि-सयमीकेलिए यहा बहुत आया है। बौद्ध-धम्मपद मे तो एक सारा वर्ग ब्राह्मण वग्ग है, वहाँ भी ब्राह्मण इसी अर्थमे प्रयुक्त हुआ। अभी वह ब्राह्मणोंकी एक जातिकेलिए रूढ नहीं बनाया गया था। पर पाणिनिके समय ईसा पूर्व चौथी सदीमें ब्राह्मण श्रमणोंके शाश्वत विरोधी बन गये थे। इसीलिए जैन अनुवादक या टीकाकार ब्राह्मण शब्द से जाति ब्राह्मणका भ्रम न हो जाये, इसीलिए उसके ठीक अर्थको देते हैं। हमने सदा उसी शब्दको रक्खा है, क्योकि अब भ्रम करनेका जमाना बीत चुका है।

बुद्ध और महावीर दोनोकी वाणी अपनी सरलता और स्पष्टताके कारण बड़ी मधुर मालूम होती है। अनुवाद को मैंने सरल करनेकी कोशिश की है। वह और भी सरल हो सकता था, यदि मेरे पास समयकी कमी न होती।

सिहल द्वीप
४-१२-६०

राहुल सांकृत्यायन

बुद्धचारिका बुद्धोका घूमना बुद्धोका आचार है। वर्षावास समाप्त कर प्रवारणा क्वार पूर्णिमा करके लोकसंग्रहके लिए देशाटन करते हुए महा-मण्डल, मध्यमण्डल, अन्तिममण्डल इन तीन मण्डलों में से एक मण्डलमे चारिका करते थे। महा-मंडल नौ सौ योजनका है, मध्यमंडल ६०० योजन का और अन्तिम मंडल ३०० योजन का।•

जातकट्ठकथा मे निदान (1) मे मध्यदेश की सीमा दी है—

मध्यदेश की पूर्व दिशा मे कजंगल नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (1) वन हैं और फिर आगे सीमान्त देश है। मध्यम सललवती नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त देश • है। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश है। पश्चिमदिशामें थून नामक ब्राह्मणोका ग्राम है उसके बाद •• सीमान्त देश है। उत्तरदिशामे उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद.. सीमान्त प्रदेश••• है। यह लम्बाई मे ३०० योजन, चौड़ाई म २५० योजन और घेरेम ९०० योजन है। यहाँ उल्लिखित स्थानोमें कजङ्गल वर्तमान ककजोल जिला सथाल पर्गनाम है। सललवती नदी हजारी बाग जिलेकी सिलई नदी मालूम होती है। पश्चिमी सीमाके थून *ब्राह्मण-ग्रामको आजकल थानेसर कहा जाता है। यही मध्य जनपद* भगवान् महावीर की भी विचरण भूमि रहा होगा।•

दोनों की विचरण-भूमि के ग्राम भी कितने ही एक से आजकल कम प्रसिद्ध पर पहले बहुत प्रसिद्ध बुद्ध प्रसिद्ध स्थान हैं—

आलम्भिया इसे आलविया पालिमे कहा गया है, और यह भी कि यहाँ के प्रसिद्ध यक्षको पचालचण्ड कहा जाता था। अर्थात् इसे पंचालदेश फतेहगढ़ या आगरा कमिश्नरीमें ढूंढना होगा, वैसा स्थान कानपुरके पश्चिमी ओर पर अवस्थित आवकलश। अर-बस है।

कम्पिलाका भी जैनागमोंमे उल्लेख है, पालिम भी इसे कम्पिला कहते हैं। पचालकी पुरानी राजधानी काम्पिल्य आज एटा जिले का कम्पिल कस्बा है।

श्रमण-ब्राह्मण शब्दोंका प्रयोग मुनि-सयमीकेलिए यहा बहुत आया है। बौद्ध धम्मपद मे तो एक सारा वर्ग ब्राह्मण वग्ग है, वहाँ भी ब्राह्मण इसी अर्थमे प्रयुक्त हुआ। अभी वह ब्राह्मणोंकी एक जाति-केलिए रूढ नहीं बनाया गया था। पर पाणिनिके समय ईसा पूर्व चौथी सदीमें ब्राह्मण श्रमणोंके शाश्वत विरोधी बन गये थे। इसी-लिए जैन अनुवादक या टीकाकार ब्राह्मण शब्द से जाति ब्राह्मणका भ्रम न हो जाये, इसीलिए उसके ठीक अर्थको देते हैं। हमने सदा उसी शब्दको रक्खा है, क्योंकि अब भ्रम करनेका जमाना बीत चुका है।

बुद्ध और महावीर दोनोंकी वाणी अपनी सरलता और स्पष्टताके कारण बडी मधुर मालूम होती है। अनुवाद को मैंने सरल करनेकी कोशिश की है। वह और भी सरल हो सकता था, यदि मेरे पास समयकी कमी न होती।

सिंहल द्वीप
४ १२-६०

राहुल साकृत्यायन

बुद्धचारिका: बुद्धोंका घूमना: बुद्धोंका आचार है। वर्षावास समाप्त कर महापवारणाके बाद पूर्णिमा करके लोकानुग्रहके लिए देशाटन करते हुए महा-मण्डल, मध्यमण्डल, अन्तिममण्डल इन तीन मण्डलों में से एक मण्डलमें चारिका करते थे। महा-मंडल नौ सौ योजनका है, मध्यमंडल ६०० योजन का और अन्तिम मंडल ३०० योजन का।

जातकट्ठकथा में निदान (1) में मध्यदेश की सीमा दी है—

मध्यदेश की पूर्व दिशा में कजंगल नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े साल (1) वन हैं और फिर आगे सीमान्त देश है। मध्यमें सललवती नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त देश······है। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश है। पश्चिमदिशामें थून नामक ब्राह्मणोंका ग्राम है उसके बाद ··सीमान्त देश है। उत्तरदिशामें उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद......सीमान्त प्रदेश······है। यह लम्बाई में ३०० योजन, चौड़ाई में २५० योजन, और घेरेमें ९०० योजन है। यहाँ उल्लिखित स्थानोंमें कजंगल वर्तमान कंकजोल जिला संथाल परगनामें है। सललवती नदी हजारीबाग जिलेकी सिलई नदी मालूम होती है। पश्चिमी सीमाके थून ब्राह्मण-ग्रामको आजकल थानेसर कहा जाता है। यही मध्य जनपद भगवान् महावीर की भी विचरण-भूमि रहा होगा।

दोनों की विचरण-भूमि के ग्राम भी कितने ही। एक से आजकल कम प्रसिद्ध पर पहले बहुत प्रसिद्ध कुछ प्रसिद्ध स्थान हैं—

आलम्भिया इसे आलविया पालिमें कहा गया है, और यह भी कि यहाँ के प्रसिद्ध यक्षको अग्गालवचेत्य कहा जाता था। यद्यपि इसे कंवाधेदेनः क्षेत्रखण्ड या आमरा कनिंघमीन ढूँढना चाहा, वैसा स्थान कानपुरके पश्चिमी ओर पर अवस्थित आवकनका पर बन है।

कम्पिलाका भी जैनागमोमे उल्लेख है, पालिमे भी इसे कम्पिला कहते हैं। पचालकी पुरानी राजधानी काम्पिल्य आज एटा जिले का कम्पिल कस्बा है।

श्रमण-ब्राह्मण शब्दोका प्रयोग मुनि-सयमीकेलिए यहा बहुत आया है। बौद्ध-धम्मपद मे तो एक सारा वर्ग ब्राह्मण वग्ग है, वहाँ भी ब्राह्मण इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ। अभी वह ब्राह्मणोंकी एक जाति-केलिए रूढ नही बनाया गया था। पर पाणिनिके समय ईसा पूर्व चौथी सदीमें ब्राह्मण श्रमणोके शाश्वत विरोधी बन गये थे। इसी-लिए जैन अनुवादक या टीकाकार ब्राह्मण शब्द से जाति ब्राह्मणका भ्रम न हो जाये, इसीलिए उसके ठीक अर्थको देते हैं। हमने सदा उसी शब्दको रक्खा है, क्योकि अब भ्रम करनेका जमाना बीत चुका है।

बुद्ध और महावीर दोनोकी वाणी अपनी सरलता और स्पष्टताके कारण बडी मधुर मालूम होती है। अनुवाद को मैंने सरल करनेकी कोशिश की है। वह और भी सरल हो सकता था, यदि मेरे पास समयकी कमी न होती।

सिंहल द्वीप
४ १२-६०

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

नमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ णायपुत्तमहावीरस्स

सूत्रकृताङ्ग

पहला-श्रुतस्कन्ध

समयअध्ययन १

१ उद्देशक

१—स्वसिद्धान्त

(१) बूझे, खूब जानकर बन्धन को तोडे। (महान्) वीरने किसे बन्धन बताया, किसे जानकर (बन्धन) टूटता है? ॥१॥

(२) (जो पुरुष) सप्राण या निष्प्राण किसी छोटे(पदार्थ)को भी फँसाता है, या दूसरे को (वैसा करनेकी) अनुमति देता है वह (ससार-) दुखसे नहीं छूटता ॥२॥

(३) प्राणियोंको अपने आप मारता है, या दूसरेसे मरवाता है। या मारने वालेको अनुज्ञा देता है, वह अपने वैर को बढाता है ॥३॥

(४) आदमी जिस कुल मे पैदा हुआ, या जिनके साथ रहता है, (उनमें) ममता करता वह अजान हुआ दूसरोंके मोहमें पडकर बर्बाद होता है ॥४॥

(५) धन और सहोदर(भाई-बहिन) ये सारे(आदमीको)नहीं बचा सकते, जीवनको भी ऐसा (थोडा) समझकर कर्म (के बन्धन) से अलग होता है ॥५॥

(६) इन ग्रन्थ (वचनों)को छोडकर कोई-कोई अजान श्रमण-ब्राह्मण

(मतवादी) (अपने मतमे) अत्यन्त बधे काम भोगोमे फसे है ॥६॥
२—लोकायत-भौतिकवाद—

(७) कोई कहते हैं…"यहाँ पाँच महाभूत हैं—(१) पृथिवी (२) जल, (३) अग्नि), (४) वायु और पाचवा आकाश।" ॥७॥

(८) ये पाच महाभूत हैं, तिनमेसे एक (चेतना पैदा) होती है फिर उन (महाभूतो) के विनाशसे देहधारी (आत्मा) का भी विना होता है ॥८॥
अद्वैत—

(९) जैसे एक पृथिवी समुदाय एक (होते भी) अनेक दीखता। ऐसे ही विद्वान् सारे लोकको नाना देखता है ॥९॥

(१०) ऐसे कोई-कोई मन्द एक (आत्मा) बतलाते हैं। कोई स्व पाप करके भारी दुख भोगते है ॥१०॥
३—भौतिकवाद—

(११) मूढ हो या पण्डित प्रत्येक मे पूर्ण आत्मा है, मरने प होते भी नहीं होते भी (परलोक मे) जाने वाला कोई नित्य पदा नहीं है ॥११॥

(१२) न पुण्य है न पाप है, इस (जन्म) के बाद दूसरा लोक नही शरीरके विनाशमे शरीरधारी (आत्मा) का भी विनाश हो जाता है ॥१२॥
४—आत्मा अकर्ता—

(१३) सब करते और कराते भी करनहार नही है, इस प्रका आत्मा अकारक है, ऐसा वे ढीठ (कहते) हैं ॥१३॥

(१४) जो ऐसे (मतके) माननेवाले हैं, उनके लिए (पर-)लोक कैसे होगा ? वे हिंसा-रत मन्द(-बुद्धि) अन्धकारसे भारी अन्धकारमे जाते हैं ॥१४॥

५—नित्य आत्मा—

(१५) यहा कोई-कोई कहते हैं—(पृथिवी आदि) पाच महाभूत हैं, आत्मा छठा है, फिर कहते हैं कि आत्मा और लोक नित्य है ॥१५।

(१६) दोनो (कभी) नही नष्ट होते, और न अ-सत् (वस्तु) से कोई (वस्तु) उत्पन्न हो सकती है। सारे ही पदार्थ सर्वथा नियति रूपसे (चले) आये हैं ॥१६॥

६—बौद्ध मत—

(१७) कोई-कोई मूढ कहते हैं···पाच स्कन्ध (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) क्षणिक (तत्त्व) हैं। (आत्मा) उनसे भिन्न है या अभिन्न, स-कारण है या अ-कारण यह नही बतलाते ॥१७॥

(१८) दूसरे कहते हैं···पृथिवी, जल, तेज और वायु ये एकत्र चार धातुओंके रूप हैं ॥१८॥

७—अन्यमत—

(१९) घरमे या अरण्य या पर्वतमे वसते (हमारे) इस दर्शन पर आरूढ (पुरुप) सारे दु खो से छूट जाता है ॥१९॥

(२०) उन (मतवादियो) ने न (द्रव्य या मानसिक भावो की) सन्धि जानी, न वे धर्मवेत्ता हैं। वे जो ऐसा मानते हैं, वे (ससार रूपी) बाढ़के पारगत नही कहे गय ॥२०॥

(२१) वे न सन्धि जानते, न वे लोग धर्मवेत्ता हैं, वे ससार पारगत नही कहे गये ॥२१॥

(२२) ० गर्भ (आवागमन) पारग नहीं कहे गये ॥२२॥

(२३) ० जन्म पारग नहीं कहे गये ॥२३॥

(२४) ० दु ख पारग नही कहे गये ॥२४॥

(२५) ० मार (मृत्यु) पारग नही कहे गये ॥२५॥

सब को प्रत्येक को (समष्टि-व्यष्टि-रूप से) स्व स्व-अतिमान-संरक्षण
ही चिन्ता है, अधिकारमात्र का ही व्यामोहन है । उत्तरदायित्व के निर्व
एकान्ततः विस्मृति, अनार्य अधिकारों के निर्वाह की एकान्ततः स्मृति ही आ
मानव का, सर्वलक्ष्य-हीन, सर्वशक्ति-विहीन-श्रद्धाविगलित-मानव का परमपुर
बनता जा रहा है। दृष्टिकोणभेद से यदि कोई लक्ष्यहीन मानव
बनने के लिए आतुर है, तो कोई मानव सहसा एकहेलया (एकबारगी)
'देवता' बन जाने के लिए समुत्सुक है। मध्यस्था मानवता आज इस
सदशापतित-बनती हुई मानव के पदाघात से कन्दुक-क्रीड़ा का ही साधन बनती
रही है, किंवा बन चुकी है।

शाश्वत-सनातन-ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण-मानवधर्म की, मानवता ही उ
तिरस्कार-करने वाले आज के मानव समाज ने अपनी उस ईश्वरीय दिव्य-अ
परिपूर्ण-मानवता-लक्षणा निधि की उपेक्षा कर विश्वशान्ति के वक्षस्थल पर 'अ
का जो शिलान्यास कर दिया है, सचमुच वह मानवसमाज के लिए, मानवधर्म
लिए, किंवा मानवता के लिए एक भयङ्कर चिनौती है। यदि भारतवसुन्धरा
सौभाग्य से, आर्ष महर्षियों के पुण्य-संस्कारों से मानवतानुगत कुछ एक मानव
परोक्षरूपेण यत्र तत्र विद्यमान हैं, तो उनसे साञ्जलिबन्ध मुहुर्मुहुः यही प्रार्थना
कि, वे सर्वप्रथम मानवता के संरक्षण के लिए ही अपना पुण्यदान करने
अनुग्रह करें। सर्वप्रथम वे हमारे दूसरे प्रस्तुत प्रश्न का सम्यक् समाधान करने
अनुग्रह करें कि—

क्या आज हम भारतीय मानव हैं ?

देख रहे हैं, (कर्णाकर्णिपरम्परया यदा कदा) सुन भी रहे हैं कि, राष्ट्र
कतिपय विचारशील मानव, पूर्ण शिक्षित कहे माने जाने वाले मानव, नेतृ
पदाधिरूढ मानव, सत्तापदानुगत मानव आज इसी चिन्ता से थक थक जा
हैं। किन्तु अद्यावधि भी उनकी ओर से राष्ट्र के सम्मुख ऐसा कोई भी मौलि
उपाय उपस्थित न हो सका, जिसके द्वारा मानवता का पुनरुद्धार शक्य बन सके।
कारण !—'अमृ पन विमृ पन् यापि नरो मर्वति

बड़ी ही हुआ करतीं हैं। अतएव उनके सम्बन्ध में आलोचना प्रत्यालोचना ना यद्यपि कभी कथमपि उचित नहीं है। तथापि-'आपत्तिकाले मर्य्यादा स्ति' न्याय से इस क्यों ? कारण का भी स्पष्टीकरण क्षम्य कोटि में हीं समाविष्ट न लेना चाहिए।

मनु, और मनुपत्नी श्रद्धा से सयुत-समन्वित मानवीय धरातल का सम्बन्ध उस आर्षनिष्ठा से, जिसका सन्देश उपलब्ध होता है एकमात्र आर्ष-प्राच्य-रतीय साहित्य से, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदसाहित्य से, वेदशास्त्र से। विलुप्तप्राय र्षसाहित्य के प्राकृतिक रहस्य-ज्ञान से एकान्ततः वञ्चित, केवल प्रतीच्य-शिक्षा-स्कार-सुसस्कृत ? राष्ट्र के विचारशील मानव हीं अमुक सामयिक तात्कालिक तावरण की दृष्टि से मानवसमाज के पथप्रदर्शक बनते हुए भी तत्वतः आर्ष-मौलिक-भारतीय-सास्कृतिक-प्राच्य-दृष्टिकोण से तो इस प्रश्न के समाधान में न्तान्त असमर्थ ही मानें जायँगे।

इसीलिए तो तथाकथित वर्त्तमान राष्ट्र के वर्त्तमान कतिपय विचारशील मानवों के, पूर्ण शिक्षित मानवों के सुसस्कृत मस्तिष्क भी तो प्राकृतिक नित्यसिद्ध मानवता को विस्मृत करते हुए विशुद्ध अधिकार-बल को ही तो रक्षासाधन मानने-मनवाने की भयावहा भ्रान्ति के अनुगामी बनते जारहे हैं। वही शिक्षा, वही सस्कृति-सभ्यता-आदर्श,-सर्वात्मना-प्रतीच्य-पथानुसरण, और उसके द्वारा भारतीय आर्षमानवता के समुद्धार के लिए सतत प्रयास। यही है वह विडम्बनापूर्ण पथ, जो आज उन विचारशीलों के द्वारा भारतीय मुग्ध-सुप्त-भ्रान्त-नितान्त-भावुक-हृदयहीन--भारतीय-मानवसमाज के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

मानवता के सहज आर्षधरातल से एकान्ततः परा परावत (अत्यन्त विदूर) उन विचारशीलों में से समाज के सम्मुख उपस्थित होने वाले जो महानुभाव अपने आपको शिक्षित मानने की भ्रान्ति कर बैठे हैं, उनकी प्रथम धारणा यही है कि,-'मुझ जैसे शिक्षित-सस्कृत-सभ्य-समुन्नत-असाधारण-मानवश्रेष्ठ का सर्वसाधारण से क्या सम्बन्ध !'। दूसरा वर्ग है वेश-भूषानुगत विचारशीलों का।

सब की प्रत्येक को (समष्टि-व्यष्टि-रूप से) स्व स्व-अभिमान-संरक्षणमात्र ही चिन्ता है, अधिकारमात्र का ही व्यामोहन है । उत्तरदायित्व के निर्वाह एकान्ततः विस्मृति, अनार्ष अधिकारों के निर्वाह की एकान्ततः स्मृति ही आज मानव का, सर्वलक्ष्य-हीन, सर्वशक्ति-विहीन-श्रद्धाविगलित-मानव का परमपुरुषा बनता जा रहा है। दृष्टिकोणभेद से यदि कोई लक्ष्यहीन मानव 'पशु' बनने के लिए आतुर है, तो कोई मानव सहसा एकहेलया (एकबारगी ही 'देवता' बन जाने के लिए समुत्सुक है । मध्यस्था मानवता आज इसप्रकार सदशापतित बनती हुई मानव के पदाघात से कन्दुक-क्रीड़ा का ही साधन बनती रही है, किंवा बन चुकी है ।

शाश्वत-सनातन- ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण--मानवधर्म्म की, मानवता ही उपे तिरस्कार-करने वाले आज के मानव समाज ने अपनी उस ईश्वरीय-दिव्य-अमृ परिपूर्ण-मानवता लक्षण निधि की उपेक्षा कर विश्वशान्ति के वक्षस्थल पर 'अशान्ति' का जो शिलान्यास कर दिया है, सचमुच वह मानवसमाज के लिए, मानवधर्म्म लिए, किंवा मानवता के लिए एक भयङ्कर चिनौती है । यदि भारतवसुन्धरा सौभाग्य से, आर्ष महर्षियों के पुण्य-संस्कारों से मानवतानुगत कुछ एक मानव परोक्षरूपेण यत्र तत्र विद्यमान हैं, तो उनसे साञ्जलिबन्ध मुहुर्मुहुः यही प्रार्थना कि, वे सर्वप्रथम मानवता के संरक्षण के लिए ही अपना पुण्यदान करने अनुग्रह करें । सर्वप्रथम वे हमारे दूसरे प्रस्तुत प्रश्न का सम्यक् समाधान करने अनुग्रह करें कि—

क्या आज हम भारतीय मानव हैं ?

देख रहे हैं, (कर्णाकर्णिपरम्परया यदा कदा) सुन भी रहे हैं कि, राष्ट्र कतिपय विचारशील मानव, पूर्ण शिक्षित कहे माने जाने वाले मानव, नेतृ पदाधिरूढ मानव, सत्तापदानुगत मानव आज इसी चिन्ता से थक थक गए हैं । किन्तु अद्यावधि भी उनकी ओर से राष्ट्र के सम्मुख ऐसा कोई भी मौलि उपाय उपस्थित न हो सका, जिसके द्वारा मानवता का पुनरुद्धार शक्य बन सके कारण !—'अमृ यन विमृ यन् यापि नरो मर्यति किल्विषः' । यही तो

इस वर्ग के साथ सर्वसाधारण मानव का क्या सम्बन्ध ? * । उनका तो प्रत्येक सत्-असत्–(अच्छा-बुरा, उचित–अनुचित) सामयिक-असामयिक आदेश सर्वात्मना हमारे लिए मान्य रहना ही चाहिए। इस 'घोषणाश्रवण' मात्र के अतिरिक्त उनके साथ सर्वसाधारण का और कोई सम्बन्ध हो भी क्या सकता है ?, हो भी कैसे सकता है ? । उनसे तो आज यह सामान्य सा प्रश्न भी नहीं किया जा सकता, कि,

क्या आप, और हम मानव हैं ?

'मानवता' की सहज परिभाषा का लोकन्याय से स्पष्टीकरण करते हुए आर्ष–मानव ने (भारतीय महर्षियों ने) आदियुग में यह नीति व्यवस्थित की थी कि, "धार्मिक–सामाजिक—राजनैतिक–कौटुम्बिक (परिवारिक), तथा वैयक्तिक (प्रातिस्विक) जीवनधाराओं के प्रवाह में मानव परस्पर सापेक्षवादमूलक–सहयोग की भावना के अनुगामी बनते हुए सशक्त प्रमाणित होते रहें ।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

—ऋक्संहिता

कभी परस्पर ईर्ष्या–द्वेष का समावेश न होने दें । समानपथानुगामी बने हैं । समसमन्विता घोषणा व्यक्त करें । निष्कर्षतः किसी भी अधिकार–सत्ता–बल के माध्यम से मानव–मानव के सहज–समान–सम्बन्ध में अन्तर न आने दें । एकमार्ग पर चलें । एक बात बोलें । मिलकर चलें । हमारे राष्ट्र की एक शब्द–ध्वनि हो । एक मानव दूसरे मानव के मनोभावों को लक्ष्य बनाता हुआ–समादर करता हुआ—

---

*–आते हैं ऐसे सुअवसर भी यदा कदा, जब 'बहुमत' नाम से प्रसिद्ध इनका महान् दुर्ग विकम्पित होने लगता है, फलतः जनसाधारण के 'वोटों' के माध्यम से दुर्ग को सुदृढ बनाने की चिन्ता से जब ये आकुल-व्याकुल हो पड़ते हैं । सचमुच इन सङ्कटकालों में तो यह वर्ग सर्वथा ही 'जनसेवक' की सगुणप्रतिमा ही प्रमाणित कर लेता है अपने आपको । अहो ! महतीय विडम्बना राष्ट्रस्य ।

यदि किसी ने विशुद्ध, हाँ निश्चयेन सर्वथा ही विशुद्धतम चरणारविन्दों से। नहीं, अपितु पादारविन्दों से कती-बुनी-खादी-से विनिर्मिता अमुक आकार प्रकार-विशेष की साज-सज्जा-से अपने स्वस्थ-पुष्ट-परिपुष्ट पाञ्चभौतिक पिं (शरीर) को समलङ्कृत करने का महान् गौरव प्राप्त कर सुविशाल व्याख्यान मञ्चों-(सभामञ्चों) पर तारस्वर (पञ्चमस्वर) से गर्ज्जन-तर्ज्जन के अभ्यास नैपुण्य (प्रचण्ड कौशल-विलक्षण भावभङ्गिमा-तदनुप्राणित विविध आकार विन्यास प्रदर्शन कौशल) प्राप्त कर लिया, तो··········· अलमतिपल्लवितेन फिर तो मानो योग्यता-सम्पादन के लिए अन्य कुछ भी शेष नहीं र जाता। *कौन प्रभावित न होगा इन देशनेताओं से !। क्या ये मानव हैं!* नहीं! नहीं!। मानव के परमगुरु, किंवा देशनेता हैं। मानवसुलभ-सहृदयत श्रद्धा, आस्था, आत्मप्रवणता, सहज सद्भाव-आदि सामान्य योग्यताओं इनका क्या सम्बन्ध ?।

और हमारा सत्तारूढ विचारशील वर्ग!। 'आलप्यालमिदं' ही पर्य्याप्त है। इ सम्बन्ध में तो कुछ भी आत्मनिवेदन करना अनुशासनभङ्गरूपा अनैतिकता का अ गमन करते हुए अपने आपको अपराधी ही प्रमाणित कर लेना है *। क्यों!। इ लिए कि, ये विचारशील सत्तारूढ हैं, न्यायतग्ड के सञ्चालक हैं। राष्ट्र के भाग विधाता हैं। 'परामुक्तिधाम'से भी कहीं उच्च 'परस्थान'जब इनकी प्रतिष्ठाभूमि है,

---

* आज से अनुमानतः दो वर्ष पूर्व मानवाश्रमसंस्थान की सांस्कृतिक साहित्यिक-प्रगतियों के सम्बन्ध में समवेत राजस्थान के एक सत्तारूढ महानुभाव *इस साहित्यिक-दृष्टिकोण से यत्किञ्चित् भी परिचय न प्राप्त करते हुए* 'विद्यापी शब्द के सम्बन्ध में अपने ये तात्त्विक! उद्गार अभिव्यक्त कर डालने का महा अनुग्रह कर डाला था कि, **'हम इन पोंगापन्थी-नामों को कोई महत्त्व नहीं देते'।** 'विद्या' शब्द पोंगापन्थी शब्द, और 'अविद्या' शब्द!। हमत कर ही कैसे सकते थे इस प्रश्नोत्थान की धृष्टता। यह है हमारे सत्तारूढ महानु भावों की भारतीय साहित्य-संस्कृति-आदि के प्रति अपनी विमल धारणाओं क एक ज्वलन्त उदाहरण।

की नामघोषणापूर्वक तत्त्वतः स्वाधिकारसरक्षणात्मक पद–संरक्षण–पदव्यामोहन में ही कटिबद्ध है। सर्वत्र एकमात्र चिन्ता है अधिकार–सरक्षण की। भले ही तदनुरूपा योग्यता का इन अधिकारी–महानुभावों के साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध न हो।

मानव इस तथाकथित कल्पित अधिकार–व्यामोहन से आत्मत्राण करता हुआ अपना उत्तरदायित्व समझे। मानवोचित उत्तरदायित्व के निर्वाहयोग्य सर्वप्रथम आर्षसरणि से योग्यता–सम्पादन करे। तभी इस तरङ्गायिता–भ्रमरजाल-निमग्ना नौका का सन्त्राण सम्भव है। शान्त मस्तिष्क से अन्वेषण कर्म्म में प्रवृत्त मानव आज भी मानवता के तात्विक स्वरूपान्वेषण के द्वारा वर्त्तमान–भयावहा स्थिति से मानवसमाज के उद्बोधन का पुण्यार्जन कर सकता है। और अवश्य कर सकता है।

यदि मानव इसी प्रकार 'मानवता' के साथ गजनिमीलिका करता हुआ लोकैषणा (नामख्याति) का ही अनुगामी बना रहा, तो * 'सम्भवामि युगे युगे' ही एकमात्र आश्रयभूमि शेष रह जायगी। इसी प्रासङ्गिक–सामयिक, किन्तु अत्यावश्यक प्रश्न को पुनः अन्तिम बार मानवसमाज के सम्मुख प्रणतभावपूर्वक उपस्थित करते हुए हमारे अन्तःकरण से बारम्बार यही वैखरी वाणी विनिःसृत है कि—

क्या हम मानव हैं ?

देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा आदि के भेद से प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक प्रातिस्विक (निजी) विशेषता रहा करती है। 'विश्वमानवता' के उदात्त–उद्घोष से पूर्व (पहिले) राष्ट्र का प्राथमिक कर्त्तव्य यह हो जाता है कि, वह अपने इस प्रातिस्विक विशेषधर्म्म का सरक्षण करता हुआ ही सामान्य–

*–यदा यदाहि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समाना हृदयानि नः

—ऋक्संहिता

इस मानवता को लक्ष्य बनाए रहें। क्या आज मानवता का स्वरूप सुरक्षित रखने वाली यह सहजनीति–आर्षसरणि सुरक्षित है ? नहीं। तो पुन प्रश्न उपस्थित है कि—

क्या हम मानव हैं ?

राष्ट्र के सभी विभिन्न वर्गों में आज पर्याप्त अहमहमिका–प्रक्रान्त है। उदाहरण के लिए–भुक्त–प्रक्रान्त–पदारूढानुगत–निर्वाचनक्षेत्र ही पर्याप्त होगा प्रबलतम संघर्षात्मक महाभारत युग में केवल दो ही क्षेत्र थे। किन्तु आज त क्षेत्रों की परिगणना ही अशक्य है। दो क्षेत्र ही जब युद्धप्रवृत्ति के कारण बन गए थे, तो इन विविध–असंख्य क्षेत्रों का संघर्ष किस परिणाम, किंवा महाभयावह दुष्परिणाम का जनक बन जायगा ?, प्रश्न की कल्पना भी मानवतानुवर्ती मानवों का हृत्कम्प कर रही है। प्रतिष्ठात्मक मौलिक आधार से वञ्चित आज क संघर्ष परिणाम में एक नवीन संघर्ष का जनकमात्र बन कर ही अपनी गन्धर्वलीला का संवरण कर लेगा, यह सुनिश्चित है। केवल आन्दोलनों के लिए होने वाली ये आन्दोलनपरम्पराएँ मानव को इतस्ततः दोलायमान (दन्द्रम्यमाण) करने के अतिरिक्त और कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध कर लेंगी ?, यह प्रश्न मानवबुद्धि के लिए आज अचिन्त्य–अविज्ञेय ही बनता जा रहा है।

विभिन्न वर्गों में प्रज्ञापराधवश समुत्पन्न व्यवधान को दूर करने के लिए जो नूतन नूतन उद्योग आविर्भूत हो रहे हैं, वे भी सर्वथा विपरीत पथानुगामी ही प्रमाणित होते जारहे हैं। क्यों ! । इस क्यों ! का इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर सम्भव है कि, मानवता की सर्वात्मना उपेक्षा–तिरस्कार करते हुए मानव ने पदे पदे पूर्व–प्रदर्शित अतिमानात्मक 'अधिकारमद' को ही सर्वाग्रणी बना रक्खा है। जनसाधारण अपने कल्पित अधिकारों के लिए प्रतिक्षण विलक्षण आन्दोलनों में प्रवृत्त है। तो सत्तारूढ वर्ग प्रतारणामात्र के लिए जनसाधारण

: से ही आज हम न तो अपने जिज्ञासुवर्ग की धर्मजिज्ञासाओं का ही समा-
र पाते, न सस्कृति के विरोधियों का ही समाधान कर पाते।, यह निश्चित
जबतक हमारा विद्वत्समाज विलुप्तप्राय वैदिकतत्त्ववाद को पुनरुज्जीवित
र लेता, तबतक अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी आत्महननपूर्वक, यथाकथञ्चित्
उदरपूर्ति के अतिरिक्त न तो वह अपना हीं वास्तविक पुरुषार्थ साधन कर
, एवं न अपने उपदेशों से जनता का ही कुछ भला कर सकता। विद्वानों
ह नहीं भुला देना चाहिए कि, गत शताब्दियों से उनके सौभाग्य से भारतीय
में जो स्वाभाविक श्रद्धारस प्रवाहित होता आ रहा था, भौतिक विज्ञान–
। पाश्चात्य वातावरण के चाकचिक्य के आक्रमण से आज वह रसस्रोत
चला जा रहा है। ऐसी सघर्षावस्था में यदि वे प्रजा का श्रद्धा रस पुनः
हेत करना चाहते हैं, तो इसके लिए उन्हें अनन्यनिष्ठा से वैदिक विज्ञानरस
रण में जाना चाहिए।

यह भी सर्वथा अविस्मरणीय है कि, राजनीति के समर्थक देशनेताओं का
ह्मप्रतिष्ठामूलक विवेक (?) भारतीय प्रजा को आज किसप्रकार लक्ष्यच्युत कर
है ?, सचमुच आज यह भी मानव के लिए एक महती समस्या है। जब हम
भावना को आगे कर किसी लक्ष्य पर आरूढ होते हैं, तो राष्ट्रीय भावना
रे सामने रख दी जाती है। एवं जब राष्ट्रीय भावना को अपनाने के लिए
आगे बढते हैं, तो हमें 'मतवादाभिनिविष्ट' कर हमारी उपेक्षा कर दी
ती है।

यह स्मरण रखिए कि, राष्ट्र नगरों का नगर ग्रामों का, ग्राम विभिन्न समाजों
, समाज विभिन्न परिवारों का, एवं परिवार विभिन्न व्यक्तियों का समूह है। इस
म्परा के आधार पर हमें यह मान ही लेना चाहिए कि, सब की मूलप्रतिष्ठा
तित्त्व ही है। जिस परिवार के व्यक्ति सुसम्स्कृत शिक्षित-योग्य होंगे, वे ही
रिवार योग्य माने जायँगे। ऐसे परिवारों की समष्टिलक्षण ग्राम, एवंविध ग्रामों
समष्टिलक्षण नगर ही राष्ट्रसमृद्धि के उपोद्बलक माने जायँगे। व्यक्तित्त्व की
क्षा के नाते प्रतिशत ५-७ सख्याएँ हीं दुर्भाग्य से हमारे सामने आती हैं।

आज के इस अर्थविभीषिकायुग में सम्प्रदाचार्यों का ही है । धार्मिक जनत
अतिशय श्रद्धा के अनुग्रह से हमारा आचार्यवर्ग पर्य्याप्त सम्पन्न है । छोटे
गद्दीधारी शासकों की अपेक्षा इनका स्थान कथमपि निम्न नहीं है । परन्तु इ
से, अथवा तो राष्ट्रसत्ता की उपेक्षा से इस वर्ग की ओर से धर्म्मरक्षा क
चाहिए, प्रयत्न नहीं हो रहा । अपितु इनके द्वारा तो आज 'धर्म्म' के नाम
इनके मतवाद ही पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं । यही क्यों, यदि इस सम्बन्ध
भी कह दिया जाय कि, इन्हें अपनी स्वार्थसिद्धि के नाते जितनी चिन्ता
मतवादों की है, उतनी प्राच्य आर्ष-धर्म्म की नहीं, तो भी अतिशयोक्ति न
जायगी ।

राज्याश्रय से वञ्चित आज के विद्वान् भी वही कर रहे हैं, जो उन्हें
चाहिए । कहीं धनिक सेठों की सेवा सुश्रूषा में आत्मसमर्पण, कहीं सन्त-महन्त
उपासना में तल्लीनता । इसप्रकार अपने आर्थिक संकट से त्राण पाने के
देश के विद्वानों नें भी धर्म्म के स्थान में मतवादों को ही प्रतिष्ठित कर रक्खा
इसके अतिरिक्त जो सब से बड़ी भूल कहिए, अथवा तो परिस्थितिवश उत्पन्न
वाली बुद्धिमानी मानिए–यह है कि, गत कुछ एक शताब्दियों में नव्य
साहित्य, व्याकरणपरिष्कारग्रन्थ, आदि जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, उ
अध्ययनाध्यापन में ही इनकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है । 'वेदस्वाध्या
बिना ब्राह्मण जीता हुआ ही अपने वंशजों के साथ शूद्रकोटि में आ जाता
इस मानवसिद्धान्त के प्रति 'गजनिमीलिका' न्याय का अनुगमन करते
भारतीय विद्वत्समाज ने वेदशास्त्र की उपेक्षा कर जो भूल की है, उसका दु
उसी को भोगना पड़ रहा है ।

वेदतत्त्वज्ञान हीं एक ऐसा साधन है, जिसे आगे कर ब्रह्मास्त्र की भाँति
सम्पूर्ण सांस्कृतिक शस्त्रप्रहारों को व्यर्थ बनाया जा सकता है । तत्त्वज्ञानविलु

+ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥
—मनु: २।१६८।

नुगमन नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। मौलिक ज्ञान से वञ्चित कर्म्म अकर्म्म नेवा हुआ पतन का ही कारण बन जाता है। आज देश में मौलिक ज्ञान का नितान्त अभाव हो चला है। उस मौलिक भारतीय ज्ञान का, जिस का मुख्य दिय आध्यात्मिक विकासपूर्वक-नि श्रेयस् साधनपूर्वक राष्ट्र के अभ्युदय विकास का, मव-विकास का अन्यतम कारण था।

हमारे देश की साहित्यिक मनोवृत्ति कैसी है ?, यह भी एक जटिल समस्या है। जारों लाखों वर्षों से जिस साहित्य ने भारतीय गौरव को सुरक्षित रक्खा, आज के मारे रचनात्मक कार्य्यों में, राष्ट्रीय कार्य्यों में उसका स्मरणमात्र भी उचित नहीं माना जा रहा। हाँ कुछ एक आयोजनाएँ ऐसी अवश्य आविर्भूत हो पड़ी हैं, जिन्हें सांस्कृतिक-आयोजन' कहा जा रहा है, जिनके इतिहास का स्पष्टीकरण न करना हीं श्रेय पन्था है। पश्चिम के राजनैतिक दृष्टिकोण को छोड़ते हुए उसके साहित्यिक दृष्टिकोण की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो उस समय उनका हृदय से अभिनन्दन किए बिना नहीं रहा जाता। विदेशी गवर्नमेन्टों नें सुदूरपूर्व के प्राच्य साहित्य के पुन प्रकाशन के लिए जो स्तुत्य प्रयत्न किया, एवं आज भी कर रहीं हैं, विदेशयात्रा के भक्त भारतीयों नें सम्भवत. उसका तो साक्षात्कार करना भी आवश्यक न समझा होगा ?। बौद्ध, जैन, आदि अर्वाचीन साहित्य के अतिरिक्त प्राच्य वैदिक साहित्य के जिन ग्रन्थों का हमें आज नाम भी विदित नही है, वे अतुल द्रव्यराशि के व्यय से बड़े परिष्कृतरूप से वहाँ प्रकाशित हो रहे हैं। वाल्मीकि रामायण, तथा महाभारत का अनुवाद तो अभी कल की ही घटना है। स्मरण रखिए ! उनके सम्पादक न तो भारतीय विद्वान् हीं हैं, न राष्ट्रप्रेमी हीं। अपितु उन के न केवल सम्पादक ही, प्रत्युत टीका-टिप्पणी आदि के रचयिता भी वहीं के विद्वान हैं, जिन्होंनें मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि, संसार की गुप्त ज्ञाननिधि यही प्राच्य साहित्य है। हम राष्ट्रप्रेमियों की महती ? विशाल दृष्टि में प्राच्यसाहित्यभाषा संस्कृतभाषा, गीर्वाणवाणी जहाँ मृतभाषा बन रही है, वहाँ वे पश्चिमी विद्वान् अपने प्रकाशनों में उसी भाषा को अपनाने में प्रयत्नशील हैं, एवं गौरव का अनुभव कर रहे हैं हैं। जिस 'शर्म्मा' (ब्राह्मण) जाति की प्राच्य-साहित्यसेवा को हमारा राष्ट्रीय दल आए दिन कोसता रहता है, उस 'शर्म्मा'

इन ५-७ शिक्षित व्यक्तियों के भी वास्तविक व्यक्तित्व का जब हम स्वरूपान्वे करने के लिए आगे बढते हैं, तो सर्वथा निराश ही होना पडता है। वर्तमा परिभाषा में जिन्हें पूर्ण शिक्षित कहा जाता है, साथ ही जो राष्ट्र की मङ्गलका से ओतप्रोत भी हैं, उनके व्यक्तित्व का दुःखपूर्ण इतिहास यही है कि, समाज पर सघटन सुधार त्याग राष्ट्रसेवा, प्रगति, आदि का शङ्खनाद फूँकते हुए अधिकाश में हमारे ये त्यागी देश प्रजा सेवक राष्ट्रभक्त स्वार्थलिप्सा की ही बी प्रतिमा प्रमाणित हो रहे हैं। पिता, पुत्र, भ्राता, भगिनी, आदि कुटुम्बियों साथ पूर्ण असहयोग को कार्य्यरूप में परिणत करने वाले ऐसे व्यक्ति देशोद्धार लिए प्रवृत्त होते हुए एक विशेष प्रकार की साज सज्जा से सुशोभित होकर, अमुक प्रकार की विशेष प्रकार की भावभङ्गी का प्रदर्शन करते हुए जब अ उपदेश प्रक्रान्त करते हैं, तो उस समय सचमुच इनके इस व्यक्तित्व (!) हम आश्चर्य्यचकित हो जाते हैं। जो अपने आपको विकसित नहीं रख स अपने व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से जिनका मनस्तन्त्र सर्वथा पराङ्मुख चुका है, अपने परिवार में शान्ति जो नहीं रख सकते, उनके वाचिक उपदेश समाज, किंवा राष्ट्र का क्या हितसाधन होगा ?, यह उन्ही शिक्षितों से पूँछ चाहिए।

'किं कर्म, किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता' (गी० ४।१६) अनुसार कर्ममार्ग एक उलझी हुई ऐसी पहेली है, जिसके सुलझाने में बड़े व विचारशीलों को भी यदा कदा कुण्ठित हो जाना पड़ता है। स्थिति तो वास्तव यह है कि, किस कर्म से कब कैसा सस्कार उत्पन्न हो जाता है ?, यह एक इन्द्रियातीं विषय है। सस्कारानुसार जब कर्मों के अच्छे बुरे परिणाम हमारे सामने आते तभी हमारी आँखें खुलतीं हैं, और उस समय हमें पश्चात्ताप करना पड़ता है भारतीय कर्माचार्य्यों ने एकमात्र इसी जटिलता को लक्ष्य में रखते हुए अधिका एव योग्यताभेद से कर्त्तव्यकर्मों की व्यवस्था की है, जिनका विश्लेषण भारती मौलिक साहित्य में हुआ है। प्रत्येक देश का मौलिक साहित्य ही उस की प्राए प्रतिष्ठा है। उसी के आधार पर उसके जीवन का स्वरूप सुरक्षित रहता है। वि उस मौलिक साहित्यिक ज्ञान के यह देश कभी कर्म्म का व्यवस्थित ढङ्ग

उक्त साहित्य-चर्चा से अभिप्राय हमारा यही है कि, अनुरूप-बलप्रद-सफल-संस्कारजनक कर्त्तव्यकर्म्म के लिए मौलिक ज्ञान-शिक्षण नितान्त ही अपेक्षित है, एवं उसका मूलस्रोतएतद्देशीय मौलिक वैदिक-साहित्य ही माना गया है, जिस की ओर से न केवल उदासीन ही रहते हुए, प्रत्युत उसका विरोध करते हुए कोई भी राष्ट्र अपना कदापि अभ्युत्थान नहीं कर सकता । इसप्रकार जो समस्या देश के धार्मिक नेताओं को लक्ष्यच्युत बना रही है, उसी समस्या ने दूसरे राजनैतिक नेताओं को भी लक्ष्यहीन बना रक्खा है। उनके, और इनके बीच में एक गहरी खाई बन जाने का भी यही एकमात्र कारण है । **समान संस्कृति ही समन्वय की मूल प्रतिष्ठा है। एवं दोनों ही दल अपनी मौलिक प्राच्यसंस्कृति के स्वरूपज्ञान से वञ्चित हैं।**

लक्ष्यहीन धार्मिक नेताओं नें यदि अकर्म्मण्यों की सृष्टि की है, तो लक्ष्य-च्युत राजनैतिक नेताओं नें उच्छृङ्खल कर्म्म को जन्म दिया है। इसप्रकार इन दो जनकों के अनुग्रह से दो सन्ततियाँ आज भारतवर्ष में पुष्पित पल्लवित हो रही हैं । धार्मिक नेताओं से सञ्चालित धर्म्मप्रजा जगन्मिथ्यात्व-सिद्धान्त का असामयिक राग आलापती हुई हाथ पर हाथ धरे बैठी है । वर्ष में दो चार बार धर्म्मसभाएँ कर डालना, बड़े बड़े प्रस्ताव पास कर देना, पुनः कुम्भकरणीनिद्रा के क्रोड़ में विश्राम ले लेना, साथ ही देशहित से सम्बन्ध रखने वाले राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य्यों का विरोध करते रहना हीं इस सु (?) सन्तति का आज परमपुरुषार्थ बन रहा है । उधर राष्ट्रीय नेताओं के प्रभाव में आने वाली देशहितैषिणी प्रजा अपनी शक्ति का समतुलन किए बिना हीं तथाकथित अन्धश्रद्धा की अनुगामी बनती हुई प्रतीच्य-पथों का अनुसरण करती हुई रचनात्मककार्य्यों से व्याज से उच्छृङ्खल कर्म्मवाद को ही निष्काम कर्म्मयोग मानने की भयानक भूल करती जा रही है । वे जहाँ के तहाँ रहने में ही जहाँ अपना अभ्युदय समझ रहे हैं, तो वहाँ ये देश की संस्कृति के नाम शेष को भी स्मृतिगर्भ में विलीन करने के लिए बद्धपरिकर हैं । एक विशुद्ध धर्म्मनीति के उपासक हैं, तो दूसरे केवल राजनीति के भक्त हैं । एक विशुद्ध विद्यापथ के पथिक हैं, तो दूसरे केवल अविद्यापथ के समर्थक हैं ।

उपाधि को अपनाने में वे अपने आपको गौरवान्वित मान रहे हैं। सं० १९०० में वीणा से प्रकाशित होने वाली 'कठ' नामक वेदसंहिता के, सं० १८८५ में प्रकाशित होने वाली 'मैत्रायिणीसंहिता' के, एवं सं० १८५५ में ही प्रकाशित होने वाले 'शतपथब्राह्मण' सभाष्य के मुखपृष्ठों पर उन विद्वानों की ओर से जो वाक्य उद्धृत हुए हैं, वे ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि, पश्चिमी देश जहाँ हमारे प्राच्य साहित्य के अनन्य उपासक हैं, वहाँ हमारा भारत, एव भारतीय संस्कृति का यशोगान करने वाले हमारे राष्ट्रवादी उसके नाम से भी अपरिचित हैं। देखिए !

अथ काठकम्

जनविक्रमिणा श्रौत्रा लीवएयदेशोद्भवेन प्राचीन राष्ट्रे वीणाख्यायां राजधान्यां निवासिना शोधितम् शार्म्मणानां राष्ट्रे लिप्सा-भिधानायां पुरि मुद्रितम् सम्वत्सरे १९००

——※——

अथ मैत्रायणीसंहिता

जनकविक्रमिणा श्रोत्रा लीवएयेदेशोद्भवेन शोधिता प्रुष्यनाम्नि राष्टे वेर्लीनाख्यायां राजधान्यां मुद्रिता सम्वत्सरे १८८५

* * *

अथ

श्रीशुक्लयजुर्वेदशतपथब्राह्मणम् माध्यन्दिनीयां शाखामनुसृत्य श्रीमत्सायणाचार्य्य-हरिहरस्वामि-द्विवेद-गङ्गकृतभाष्येभ्यः सारमुद्धृ अल्बेर्चेन वेबरेण संशोधितम्

प्रुष्यनाम्नि जनपदे वेर्लीनाख्यायां राजधान्यां मुद्रितम् सम्वत्सरे १८५

——※——

माकुलिता हरे राम-राधेश्याम-संकीर्तनमूला भक्तिगाथा राष्ट्र को आचार-प्रदान कर सकेगी ?। क्या तिलक-कण्ठी-माला-आदि से समन्विता दाम्भिका धर्म्मघोषणा राष्ट्रीय मानवधर्म्म का पुनःसंस्थापन कर सकेगी ?। वर्त्तमान युग के टिड्ढाणत्र-परायण-वैय्याकरणधुरीणों, घटत्वावच्छिन्न-ा नैय्यायिकों, प्रतिगणितनक्षत्रतिथिकुशल ज्यौतिषियों, नारीशरीरमात्र के र्णन में प्रमत्त शृङ्गाररसपरायण-साहित्यिकों से भारतराष्ट्र अपनी समस्याओं माधान प्राप्त कर सकेगा ?। 'अधर्म्म का नाश हो, धर्म्म की जय हो' दि प्रचण्ड उद्घोषमात्रों से समन्विता धर्म्मभावना क्या राष्ट्रीय समस्याओं ाल निदान कर सकेगी ?। नेति हो वाच । कदापि नहीं । दृष्टिपात कीजिए ! २-३ सहस्र वर्षों के मुक्त भारतीय इतिहास पर । स्थिति का सर्वात्मना करण हो जायगा । हम धर्म्म-धर्म्म- का चीत्कार करते ही गए, तो उधर तायीवर्ग हमारा सर्वस्व लूटते-लुटाते ही रहे । यही क्यों, कुछ ही समय पूर्व- का सर्वस्व अपहरण करने वाले प्रतीच्य शासक इन धर्म्मसंरक्षक ? भारतीय नों के तो आराध्य ही बने हुए थे । इनकी समस्त विद्वत्ता इसी 'राजभक्ति' अपना परमधर्म्म मान रही थी *, जो कि धर्म्मरक्षक दल स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र अपनी स्वतन्त्रसत्ता का प्रचण्ड विरोध करते रहने में ही आज धर्म्मरक्षा के स्वप्न देखने की भयानक भूल करता जा रहा है । सम्भवतः ही क्यों, निश्चय इसकी इसी भूल ने आज राष्ट्रसत्ता-प्राङ्गण में उस 'धर्म्म' को सर्वथा 'निरपेक्ष' उद्घोषित करवा दिया है, जिस 'धर्म्म' के बिना 'राष्ट्रप्रतिष्ठा' सर्वथा ही शून्य-या बन जाया करती है ।

तदित्थं अपने घर में 'कर्त्तव्यनिष्ठा' रूप से कुछ भी उपलब्ध न होने के परिणाम-स्वरूप ही हमारी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रा भी राष्ट्रसत्ता अपनी प्रत्येक समस्या समन्वय के लिए प्रतीच्यजगत् को ही अपना 'आदर्शगुरु' मानने मनवाने सर्वनाशकारिणी भावुकता का अनुगमन करती जा रही है । इसमें तो यत्किञ्चित्

---

* देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड-'हम काले हैं, और वे रे हैं' नामक अवान्तर प्रकरण ।

रूप से कि, जिन साधारण समस्याओं के निदान में ही राष्ट्रीय प्रज्ञाओं को बहुत बड़ी शक्ति का दान करना पड़ रहा है। उदाहरण के लिए अकस्मात् उत्पन्न हो पड़ने वाली पुनर्वासमस्या, प्रभूत अन्नोत्पादक क्षेत्रों से भारत वञ्चित हो जाने के कारण योग-क्षेम-साधन-सम्रह-की समस्या, विभिन्न वर्गों के दर्शनात्मक आत्मीय दृष्टिकोण से (अनेक शताब्दियों से) पराङ्मुख बन जाने वाले राष्ट्रीय प्रजावर्ग के विविध वर्गभेदों की कटुसमस्या, अपने दुर्दान्त क्रमलाभ मद से मदोन्मत्त बन जाने वाले सामन्तों के शासन से निष्प्राण बन जाने वाली प्रान्तीय प्रजाओं की शोषणात्मिका समस्या, सर्वोपरि राजनीति कुशल-चाणाक्ष सम्मान्य आतिथियों के निग्रहानुग्रह से समुत्पन्न होतीं रहने वाली अनन्त समस्या, आदि आदि पर.शताधिक समस्याओंनें राष्ट्र को शान्ति का श्वास लेने दिया स्वतन्त्रताप्राप्ति के आरम्भक्षण से वर्त्तमानक्षण पर्य्यन्त ।

किन्तु इस असदिग्धता के साथ साथ यह भी सर्वथैव सुनिश्चित तथ्य उक्त समस्यापरम्पराओं के जो भी निदान हुए, जो भी समाधान अवश्य गए सभी में भारतराष्ट्र की 'ऐन्द्री प्रज्ञा' तत्त्वतः प्रतीच्या 'वारुणी प्रज्ञा' अपना आदर्श मानने की भ्रान्ति करतो रही, कर रही है आज भी। जिस हम राष्ट्रीय प्रजा को इसलिए कोई दोष नहीं देना चाहते कि, दुर्भाग्यवश २-३-सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र का नैष्ठिक-चिरन्तन-इतिहास नवग्रहों से सर्वग्रस्त होता आ रहा है। नीति-धर्म्म-आचार-शिक्षा-सभ्यता संस्कृति ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-आदि आदि के सम्बन्ध में इस लम्बी अवधि में न द्वारा राष्ट्र को जो कुछ भी मिलता आ रहा है, उसी ने यहाँ की राष्ट्रीयता, मानवता, एवं तन्मूलक मानवधर्म्म को इस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर कि, आज हमारे राष्ट्रीय कोश में 'अपना कौशल' कहने जैसी कोई भी हमें उपलब्ध ही नहीं हो रही। दूसरे शब्दों में-आज भारतराष्ट्र के कोश में 'मौलिक-निधि' नाम की कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष में हमें उपलब्ध नहीं जिसके माध्यम से भारतीय-दृष्टिकोण से हम अपनी तथाकथिता ‿ भलीभाँति समन्वय कर सकें।

क्या आचार निष्ठाओं से सर्वथा शून्य, अग्निमित्थ्यारत्ववादमूलक वेद राष्ट्र की उक्त समस्याओं का समाधान कर सकेगा ?। क्या

आदि का सान्निध्य विस्पष्टरूप से यह प्रमाणित कर रहा है कि, माननी श्रीनेहरू महाभाग आतुर हैं भारतीय मौलिकता के अन्वेषण के लिए। किन्तु !

अत्यन्त दुःख के साथ हमें यह निवेदन कर देने में कोई भी सङ्कोच नहीं कर चाहिए कि, आजतक मन्त्रीमहाभाग की उक्त आतुलता का निराकरण न होसका है। क्यों !। इसलिए कि, जिस मौलिकता के लिए श्रीनेहरू आतुर वह तो अनन्तकाल से विविध मतवादात्मक उन नवग्रह-ग्राहों से कवलित ब हुई है, जिसके पुनः गस्थापन के लिए एकबार भारतीय नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों उस महती क्रान्ति का ही अनुगमन करना पड़ेगा, जो क्रान्ति भगवान् व्यासदे के शब्दों में-'श्वेतक्रान्ति' नाम से प्रसिद्ध हुई है। जबतक मतवादात्मक नवग्र को ही हम 'धर्म्म' मानते रहेंगे, दूसरे शब्दों में जबतक हमारा राष्ट्र मतवादों प्रत्यक्षप्रभावोत्पादक आपातरमणीय काल्पनिक चाकचिक्यों से ही चमत्कृत ह रहने की भूल करता रहेगा, तबतक कदापि हमें भारतराष्ट्र की मौलिकता तन्मूलक 'मानव' के, तदभिन्ना 'मानवता' के, एवं तत्स्वरूपसंरक्षक उस 'मान वधर्म्म' के कदापि दर्शन न हो सकेंगे, जिस मानवधर्म्म का मूलरहस्यात्म एकमात्र सूत्र माना गया है यह कि—

"समदर्शनञ्चानुगतं-विषमवर्त्तनञ्चमेव मानवधर्म्मरूपम्"

समस्याओं के समाधानात्मक समन्वय के लिए आज राष्ट्र में 'मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना' न्याय से अनेक वर्ग आविर्भूत हो पड़े हैं, जिनमें अर्थसमीकरणात्मक साम्यवाद (कम्यूनिज्म), प्रजासमाजवाद, कांग्रेसवाद (मतवादाभिनिविष्ट) धर्म्मभावनात्मक रामराज्यवाद, साम्प्रदायिकभावानुग हिन्दूसभावाद, उत्तेजनात्मक जनसंघवाद, आदि आदि कतिपय वाद आज कण कर्णिपरम्परया अतोपधृता कोटि में समाविष्ट हो रहे हैं, जिन इन सम्पूर्ण वादों सर्वप्रबलवाद आज 'कांग्रेसवाद' ही प्रमाणित हो रहा है, जो कि महद्मा से सत्तापदारूढ है।

जहाँ तक कांग्रेस नामक 'तत्त्व' 'वाद' सीमा में समन्वित है, वहाँ तक अन्या मतवादों में हम इस का भी विशेष महत्त्व नहीं मान रहे। शक्तिस्पर्धापरामि

भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि, सत्तासञ्चालक उच्चपदप्रतिष्ठित अगुग-
गणित मानवश्रेष्ठ आज राष्ट्र की इन समस्याओं से ,अन्तर्जगत् में आत्यन्ति
से उत्पीडित हैं। साथ ही वे अन्त:करण से यह चाह भी रहे हैं कि, उनका
अपनी मौलिकताओं के आधार पर ही अपनी समस्याओं का समन्वय कर सं

राष्ट्रसत्ता के महामात्य पद पर समारूढ अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न
सम्माननीय जॅवाहरलालनेहरू की इस पवित्रता के सम्बन्ध में अगुमा
सन्देह करना अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाना है। कुछ ही स
कुरुक्षेत्र में विघटित होने वाली 'विश्वसंस्कृतपरिषत्' के सम्बन्ध में श्र
समाचारपत्रों में संस्कृतभाषा' के सम्बन्ध में इस मानवश्रेष्ठ ने अ
निर्व्याज उद्गार व्यक्त किए थे कि—"**एकमात्र संस्कृतभाषा ही राष्ट्र**
मूलप्रतिष्ठा है, जिसने राष्ट्रीयता को आजतक एकसूत्र में आबद्ध कर
है,*। 'राष्ट्रपति' पद पर समारूढ माननीय सर्वश्री **डॉ राजेन्द्रप्रसादजी**
भाग की प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठा से तो प्राय सभी राष्ट्रप्रेमी सुपरिचित होंगे।
डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय का 'उपराष्ट्रपति' पद पर समासी
भी श्रीनेहरू की इसी भावना को व्यक्त कर रहा है कि, वे सत्तातन्त्र
महाप्राण श्रेष्ठ मानवों के सहयोग के लिए अहर्निश लालायित हैं, जो
क अपने दृष्टिकोण से राष्ट्र की समस्याओं का समाधान ढूँढ निकालें।

'पञ्चशील' पथ का उद्घोष, दिगम्बर तेरहपन्थी मतवाद
सर्वश्री तुलसी महाभाग के द्वारा आविष्कृत 'अणुव्रत' के प्रति श्र
अनुधावन, तिब्बतके ख्यातनामा। बौद्धमतकर्णधार सर्वश्री .लामा-

* महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के सम्मानित सभापतित्व में
'विश्वसंस्कृतपरिषत्' में राष्ट्रपति महाभाग की विशेष प्रेरणा से हमें भी
का अवसर मिला था, जहाँ-'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्' नाम से
निवेदन उपस्थित किया गया था। उसी समय (सम्भवतः ११ जनवरी
के इंगलिश पत्र में) श्रीनेहरूजी के उक्त उद्गार अभिव्यक्त हुए थे।

अपना सिर टकराता हुआ अपना सर्वनाश करा बैठता है, तो यह कदापि वेदशास्त्र का अपराध नहीं माना जा सकता। उसी शास्त्र का विज्ञानात्मक मौलिक विशुद्ध स्वरूप हमें इस राष्ट्रीय सुसगठित सस्थान (कांग्रेस) के सम्मुख रख देना है। यह केवल कल्पना ही नहीं है। अपितु ध्रुव आस्था है कि, जिस दिन भी राष्ट्रसत्ता अपनी इस मूलनिधि के वास्तविक-ज्ञानविज्ञानात्मक-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष-मतवादों से असस्पृष्ट-मौलिक स्वरूप से अंशतः भी परिचय प्राप्त कर लेगी, निश्चयेन तत्क्षण ही उसकी धर्मनिरपेक्षिता, प्राच्य आदर्शों के प्रति एकान्ता उपेक्षा-तटस्थता शरदभ्रवत् विलीन हो जायगी।

और जो कांग्रेस, जो तदभिन्ना राष्ट्रसत्ता अपने राष्ट्र की इस मूलनिधि के स्वरूप से दुर्भाग्यवश सर्वथैव अपरिचित रहती हुई, साथ ही अपने शिक्षा-दीक्षाकाल में केवल प्रतीच्य सस्कारों से ही आलोमभ्य -आनखाग्रेभ्यः-(आपादमस्तक) ओतप्रोत बनी रहती हुई आज भारतीय धर्म्म-ज्ञान-उपासना-कर्म्म-व्याख्याओं से, तन्मूलक-आर्ष शास्त्रों के नामश्रमवणमात्र से भी झुँझला उठती है, जो सत्ता अपने सत्तावेश में आकर इस भारतीय हिन्दूमानव की मूलभूता शास्त्रीया आर्षसस्कृति का क-च-ट-त-प-भी न जानती हुई इसके लिए-'यह हिन्दू संस्कृति क्या बला है' इस उद्वेगकरी वैखरी वाणी का अनुगमन कर बैठती है, वही सत्ता इसके यत्किञ्चित् मौलिक आभास-परिज्ञान से भी निश्चयेन यह अनुभूत कर ही लेगी कि, यह सस्कृति 'बला' नहीं है, अपितु अविबलात्मिका वह 'सबला' सस्कृति है, जिसके प्रति आक्रोश प्रकट करने वाले पुरायुगों के मदान्ध-सत्ताधारी टकरा-टकरा कर अपना सर्वनाश अवश्य करा बैठे हैं, किन्तु सस्कृति का मूलस्रोत आज तक ज्यों का त्यों प्रवाहित है, प्रवाहित ही रहेगा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। सनातन शाश्वत प्रजा के आधार पर प्रतिष्ठिता इस भारतीय सनातन-शाश्वत-सस्कृति को, एवं तदभिन्न आर्ष-धर्म्म को कौन अभिभूत कर सका है ? ।

'गतानुगतिको लोकः-न लोकः पारमार्थिकः' सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले वर्तमान युग के तथाकथित विभिन्न वाद अपनी अपनी रुचि के अनुपात से पूर्वोक्त समस्याओं के समन्वय के लिए विभिन्न विभिन्न पथों का सर्जन करते आ रहे हैं केवल अपनी कल्पनाओं के द्वारा, जिनके निग्रहात्मक अनुग्रह से अनेक-

'योग्यता' के मापदण्ड की सर्वथा उपेक्षा कर बैठने वाली कांग्रेस ने सचमुच अ
अपने आपको केवल 'मतवादविशेष' ही प्रमाणित कर लिया है। सम्भव
इसी आशङ्का से इस संस्था के कर्णधार नैष्ठिक सर्वश्री गान्धी जी ने स्वतन्त्रता
उदयकाल में इस 'नामव्यामोहन' के प्रति राष्ट्रप्रजा को जागरूक भी कर दि
था। किन्तु यह जागरूकता आगे चल कर पदप्रतिष्ठाव्यामोहनात्मिका लोकैषणा
एवं तद्गर्भीभूता वित्तैषणा के तमोमय आकर्षण से सर्वथा ही पराभूत हो कर
गई उस सूत्रधार–'बापू' के अनन्य भक्तों के ही द्वारा, जिसके परिणाम, नि
भयावह दुष्परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख सर्वथा नग्नरूप से अपना ताण्डव
ही प्रदर्शित कर रहे हैं। करते आ रहे हैं सर्वथा स्वच्छन्दरूप से।

तो क्या 'कांग्रेस' का उन्मूलन कर तथाकथित साम्यवाद–रामराज्यवाद
हिन्दूसभावाद, आदि इतरवादों में से किसी को राष्ट्रप्रजा अपना कर्णधा
मान ले ?। नेति होवाच। कदापि नहीं। क्योंकि भारतीय राजनीति का 'सं
शक्तिः कलौ युगे' सिद्धान्त हमारे सामने है। फिर कांग्रेस का अतीत इतिहा
भी अपनी त्याग–तपस्या की दृष्टि से कम महत्त्व नहीं रख रहा। अतएव इसी
केन्द्र मान कर हमें इसी से प्रणतभाव से यह आवेदन कर देना है कि–"व
मतवादात्मक धर्म्म को ही यहाँ का धर्म्म मान कर इसके प्रति निरपे
न बने। अपितु ज्ञानविज्ञानसिद्ध उस सनातन–आर्षधर्म्म के स्वरूप
परिचय के लिए ही वह प्रयत्नशील बने, जिस आर्षधर्म्म के सन्देशवाह
मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राजापत्यशास्त्र (वेदशास्त्र), तथा तदुपबृंहणात्म
पुराणशास्त्र बने हुए हैं"।

अवश्य ही वेदपुराणशास्त्र आज नवग्रहात्मक मतवादों से अपने ज्ञानविज्ञान
त्मक मौलिक स्वरूप से सर्वथा अन्तर्मुख बन गए हैं। किन्तु यह शास्त्र
अपराध तो नहीं माना जा सकता। 'न ह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो
पश्यति'। अर्थात् पुरोऽवस्थित एक वृक्षादि स्थाणु से यदि एक अन्धा टक
कर अपना सिर फुड़ा लेता है, तो यह स्थाणु का तो अपराध नहीं है। एवमे
वेदपुराणशास्त्र के नाम–छद्म से यदि कोई अन्ध श्रद्धालु मतवादात्मक स्थूणों

: रहे हैं, अथवा तो बन जाने के लिए उतावले हो रहे हैं। नेतृत्व की, , सुधार की, उपदेश की कसौटी है आज एकमात्र हमारे प्लेटफॉर्म। पर खड़े होकर अपनी आकर्षक वाणी से यदि हम भोली प्रजा को डालने में समर्थ होगए, तो सभी उपाधियाँ हमें मिल गईं। कहना न १०० में से ६६ प्रतिशत ऐसे ही पथप्रदर्शक आज हमारा नेतृत्व । परिणाम इस नेतृत्व का यह हो रहा है कि, हम अपनी वैय्यक्तिक का परीक्षण किए बिना ही केवल अन्धश्रद्धा के अनुगामी बनते हुए धोके से पतन का ही निमन्त्रण करते जा रहे हैं। एवं यही हमारे पतन जटिल समस्या है, जिसका हमें विश्लेषण कर ही लेना है।

स्या को जटिलता का बाना पहिनाने वाली जिस अन्धश्रद्धा का ऊपर हुआ है, पहले दो शब्दों में उसी का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। ज्ञान' के अनुसार यह श्रद्धा 'सात्त्विकी-राजसी-तामसी' भेद से तीन) मानी गई है। साधारण दोषों के रहते हुए भी बलवान्, उत्कृष्ट, तथा अधिक गुणों की सत्ता के कारण सत्यता को लिए हुए जो श्रद्धा होती है, त्त्विकी श्रद्धा' मानी गई है। जहाँ दोष दोष ही न माने जाते हों, प्रत्युत गुणरूप से दिखाई देते हों, वह 'राजसी श्रद्धा' मानी गई है। एवं जिस दोषों को दोष जानते हुए भी उन्हें गुण बतलाने की चेष्टा की जाती हो, वेश (दुराग्रह-हठधर्मी) मूला वैसी श्रद्धा ही 'तामसी श्रद्धा' कह ।

यदि हम जानते हैं कि, अमुक व्यक्ति में अमुक दोष है। परन्तु लोकप्रतिष्ठा मिन से, अथवा और किसी स्वार्थ के आकर्षण से जानते हुए भी हम क्ति के दोषों को छिपाने की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते हैं। यही तामसी श्रद्धा है, के वास्तविक स्वरूप को कलङ्कित करने वाली 'मिथ्याश्रद्धा' है। यह अनेक रूप कर हमारे सामने आती रहती है, एवं हमारी वञ्चना करती हुई हमें र्ग से च्युत किया करती है। यदि दुर्भाग्य से कुछ समय पर्य्यन्त यह तामसी हमारे मनस्तन्त्र में सुरक्षित हो जाती है, तो कालान्तर में यही स्व का

ताब्दियों से अपने शरीर-मन-बुद्धि-आत्मा-नामक चारों मानवीय पर्वों से
मशा' अपुष्ट-अतुष्ट-अतृप्त-अशान्त-बनी रहने वाली सर्वथा दासभावा-
गता भारतीय भावुक (भोली) मानवप्रजा एकान्तन लक्ष्यविहीना हीं प्रमाणित
ो रही है । परिणामत 'समस्या-समन्वय' के स्थान में राष्ट्रप्रजा की समस्याएँ
उत्तरोत्तर अधिकाधिक जटिलतमा हीं बनती जा रहीं हैं । अवश्य ही इसे किसी का भी
अनुसरण' (अनुकरण नहीं) करने से पहिले तटस्था निष्ठाबुद्धि से यह निश्चय
कर ही लेना होगा कि,—' शान्ति-सन्देश के सवाहक इन शान्तिदूतों ने जो ज
उपाय आज हमारे सम्मुख उदात्त-आकर्षक घोषणा-परम्पराओं के माध्यम से र
देने का नि.सीम अनुग्रह कर रक्खा है, वास्तव में इन उच घोषणाओं में, उत्ताल
तरङ्गायित इन महत्तोमहीयान् आश्वासनों में कुछ तथ्य है ?, अथवा यह हमार
प्रतारणमात्र ही है ? ।

जानते हैं, साथ ही मानते भी हैं कि ध्वंस के गर्भ में हीं निर्माण छि
रहता है, अविद्या ही विद्याविकास का आरम्भसूत्र है, क्रान्ति के आधार
ही शान्ति का सूत्रपात होता है । परन्तु इस मान्यता के साथ साथ हमें यह
नहीं भुला देना चाहिए कि, देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा-आदि को लक्ष्य बन
बिना केवल अन्धानुकरण को आधार बना कर होनें वाली ध्वंसात्मिका प्रवृत्ति
कुछ समय के लिए आत्मतुष्टि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा सर्वना
का ही कारण सिद्ध हुई हैं । अतीत, और भविष्य, दोनों का केन्द्र वर्त्तमान है
हमारा अतीत समुज्ज्वल था, भविष्य भी समुज्ज्वल रहेगा, इस आशा की एकम
मूलप्रतिष्ठा हमारा वर्त्तमान ही है । वर्त्तमान शक्तियों को आधारशिला बना
ही हमें अपने भविष्य का निर्माण करना है, एवं ऐसे निर्माण-कर्म में प्रत
दशा में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, किसी भी पथ के पथि
बनने से पहिले हम अपनी वर्त्तमान शक्तियों का भलीभाँति परीक्षण करने
अनन्तर ही निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करें । यदि हम ऐसा नहीं कर रहे, तो
यह कह ही देना चाहिए कि, आज यह शक्तिपरीक्षण हमारी दृष्टि से सर्व
उपेक्षणीय बन गया है । आ-बाल-वृद्ध-वनिता, सभी देशनेता हैं, विद्व
हैं, सुधारक हैं, उपदेशक हैं, पथप्रदर्शक हैं । सभी स्वयंबुद्ध बने हुए की भा_

र रहे हैं, अथवा तो बन जाने के लिए उतावले हो रहे हैं। नेतृत्व की, ी, सुधार की, उपदेश की कसौटी है आज एकमात्र हमार प्लेटफॉर्म। पर खड़े होकर अपनी आकर्षक वाणी से यदि हम भोली प्रजा को ं डालने में समर्थ होगए, तो सभी उपाधियाँ हमें मिल गईं। कहना न , १०० में से ९९ प्रतिशत ऐसे ही पथप्रदर्शक आज हमारा नेतृत्व ै। परिणाम इस नेतृत्व का यह हो रहा है कि, हम अपनी वैय्यक्तिक का परीक्षण किए बिना हीं केवल अन्धश्रद्धा के अनुगामी बनते हुए के धोके से पतन का ही निमन्त्रण करते जा रहे हैं। एव यही हमारे पतन जटिल समस्या है, जिसका हमें विश्लेषण कर ही लेना है।

मस्या को जटिलता का बाना पहिनाने वाली जिस अन्धश्रद्धा का ऊपर हुआ है, पहले दो शब्दों में उसी का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। विज्ञान' के अनुसार यह श्रद्धा 'सात्त्विकी-राजसी-तामसी' भेद से तीन ी मानी गई है। साधारण दोषों के रहते हुए भी बलवान्, उत्कृष्ट, तथा में अधिक गुणों की सत्ता के कारण सत्यता को लिए हुए जो श्रद्धा होती है, ात्त्विकी श्रद्धा' मानी गई है। जहाँ दोष दोष ही न माने जाते हों, प्रत्युत गुणरूप से दिखाई देते हों, वह 'राजसी श्रद्धा' मानी गई है। एवं जिस ें दोषों को दोष जानते हुए भी उन्हें गुण बतलाने की चेष्टा की जाती हो, ावेश (दुराग्रह-हठधर्मी) मूला वैसी श्रद्धा ही 'तामसी श्रद्धा' कह ै।

यद्यपि हम जानते हैं कि, अमुक व्यक्ति में अमुक दोष है। परन्तु लोकप्रतिष्ठा लोभन से, अथवा और किसी स्वार्थ के आकर्षण से जानते हुए भी हम क्ति के दोषों को छिपाने की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाते हैं। यही तामसी श्रद्धा है, के वास्तविक स्वरूप को कलङ्कित करने वाली 'मिथ्याश्रद्धा' है। यह अनेक ारण कर हमारे सामने आती रहती है, एवं हमारी वञ्चना करती हुई हमें ार्ग से च्युत किया करती है। यदि दुर्भाग्य से कुछ समय पर्य्यन्त यह तामसी हमारे मनस्तन्त्र में सुरक्षित हो जाती है, तो कालान्तर में यही सत्य का

भी रूप धारण कर लेती है। उस दशा में पहुँच जाने के अनन्तर वही चिर अभ्यास के अनुग्रह से अपने वास्तविक 'मिथ्या' भाव की ओर से बनाती हुई हमें अपने आपके स्वरूप को उसी प्रकार 'सत्य' बना कर दि में समर्थ हो जाती है, जैसे एक बाजीगर के कल्पित प्रदर्शन को हम सत्य की भ्रान्ति करने लगते हैं। इसप्रकार आरम्भ में मिथ्या बनी हुई यही श्रद्धा आगे आकर 'भ्रान्तश्रद्धा' बन जाती है। एवं यही भ्रान्तश्रद्धा परिभाषा में 'अन्धश्रद्धा' कहलाई है, जिसका दार्शनिक विद्वान् निम्न लक्षण किया करते हैं—

"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा"।

'दोष देखने के लिए अनुकूल वृत्ति को रोक देने वाली मानसवृत्ति का धा ही श्रद्धा है' इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाले उक्त लक्षण का तात्पर्य है कि, जिसके प्रति हम ऐसी अन्धश्रद्धा कर बैठते हैं, उसके दोष हमें नहीं दि लाई देते। *मन की स्वाभाविक सत्यदृष्टि को ढँक देने वाला श्रद्धा का* आवरण श्रद्धेय के दोषों को भी गुणरूप से ही हमारे सामने रखने लगता दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि, किसी भी व्यक्ति के दोषों को दे की जो एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है, उस वृत्ति को रोक देने वाली वृत्ति का अ करण में प्रतिष्ठित होकर स्वाभाविकी सत्यवृत्ति (सात्त्विकी श्रद्धा) का द्वार बन्द देना ही अन्धश्रद्धा का मुख्य पुरुषार्थ है। यही अन्धश्रद्धा आगे आकर बु पारतन्त्र्य का कारण बन जाती है, जिसे अपनी सहज भाषा में हम 'विचारों गुलामी' कह सकते हैं। स्वाभाविक आत्मसत्य को विकसित करने वाली सत्य (सात्त्विकी श्रद्धा) जहाँ विचारस्वातन्त्र्य की जननी बनती हुई 'स्वतन्त्र' (स्व+आ तन्त्र-आत्मतन्त्र) शब्द की मूलप्रतिष्ठा है, ठीक इसके विपरीत आगन्तुक को पुष्पित पल्लवित करने वाली *मिथ्याश्रद्धा* (तामसी श्रद्धा) विचारपारतन्त्र्य जननी बनती हुई 'परतन्त्र' (पर×विषय-तन्त्र-विषयतन्त्र) शब्द की मूलप्र बन जाती है, एवं यही उभयविध श्रद्धा का प्रासङ्गिक इतिहास है।

विश्व-समस्या को थोड़ी देर लिए एक ओर रखते हुए भारतीय समस्य ओर ही हम अपने विज्ञ श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं।

र से विश्व के पूर्व, पश्चिम, ये दो भेद सामने रखते हुए ही समस्या का
न कीजिए। पूर्वदिशा से सम्बन्ध रखने वाले प्राच्य देश, तथा पश्चिम-
से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीच्य देश, दोनों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न भिन्न
दिक-विज्ञान के अनुसार पूर्वदिशा के दिक्पाल, एवं लोकपाल[1] 'इन्द्र' हैं।
दिशा के दिक्पाल, तथा लोकपाल[2] 'वरुण' हैं। इन्द्र का सूर्य्य से
है[3], एवं इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य ही आत्मा की प्रतिष्ठा है[4]। वारुण-प्राण
पतत्त्व से दाम्पत्य सम्बन्ध है[5], आपोमय वरुण ही परमेष्ठी है[6], एवं वारुण-
त्मक अप्तत्त्व ही शरीर का उत्पादक है[7]। तात्पर्य्य यही है कि, अध्यात्म-
के 'आत्मा, शरीर' नामक दो मुख्य पर्व हैं। इनमें से आत्मा का सम्बन्ध
न्द्र के साथ है, एवं शरीर का सम्बन्ध पारमेष्ठ्य वरुण के साथ है। दूसरे
में-आत्मा का इन्द्र से निर्म्माण हुआ है, एवं शरीर का आपोमय वरुण

१—'अथैनमिन्द्रं प्राच्या दिशि वसवो देवा अभ्यषिञ्चन् साम्राज्याय'-
ऐ ब्रा० ८।१४। ("पार्थिव वसुदेवताओं ने साम्राज्य के लिए इन्द्र का पूर्व-
में अभिषेक किया")॥

२—"प्रतीची दिक्, वरुणोऽधिपति"-अथर्वसं० ३।२७।३। (पश्चिमा-
है, वरुण इसके अधिपति हैं)।

३—"एष वाऽइन्द्र, य एष सूर्य्यस्तपति"-शतपथब्रा० १ ६।४।१८।
ो इन्द्र है, जो कि यह सूर्य्य तप रहा है)।

४—"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"-यजु सं० १३।४६। (स्थावर-जङ्ग-
जङ्गम-चेतन,-दोनों का आत्मा सूर्य्य है)।

५—"आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्"-तैत्तिरीयब्रा० १।१।३।८। (पानी
ण की स्त्री है)।

६—"आपो वै प्रजापति परमेष्ठी"-शत० ब्रा० ८।२।३।१३। (पानी ही
ष्ठी नामक प्रजापति है)।

७—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति"-छान्दोग्यउप०
।१। (क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, रेत, क्रम से पाँचवीं आहुति में पानी
पुरुषशरीररूप में परिणत होता है)।

भी रूप धारण कर लेती है। उस दशा में पहुँच जाने के अनन्तर यही मिथ्या चिर अभ्यास के अनुग्रह से अपने वास्तविक 'मिथ्या' भाव की ओर से उ बनाती हुई हमें अपने आपके स्वरूप को उसी प्रकार 'सत्य' बना कर दि में समर्थ हो जाती है, जैसे एक बाजीगर के कल्पित प्रदर्शन को हम सत्य की भ्रान्ति करने लगते हैं। इसप्रकार आरम्भ में मिथ्या बनी हुई यही श्रद्धा आगे जाकर 'भ्रान्तश्रद्धा' बन जाती है। एवं यही भ्रान्तश्रद्धा परिभाषा में 'अन्धश्रद्धा' कहलाई है, जिसका दार्शनिक विद्वान् निम्न लक्षण किया करते हैं—

"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा"।

'दोष देखने के लिए अनुकूल वृत्ति को रोक देने वाली मानसवृत्ति का ही श्रद्धा है' इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाले उक्त लक्षण का तात्पर्य है कि, जिसके प्रति हम ऐसी अन्धश्रद्धा कर बैठते हैं, उसके दोष हमें नहीं लगा देते। मन की स्वाभाविक सत्यदृष्टि को ढँक देने वाला श्रद्धा का आवरण अद्वेष के उपासकों को भी गुरुजन ने ही हमारे सामने रखने ल दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि, किसी भी व्यक्ति के दोषों को दे की जो एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है, उस वृत्ति को रोक देने वाली वृत्ति का अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होकर स्वाभाविकी सद्वृत्ति (सात्त्विकी श्रद्धा) का द्वार बन्द कर देना ही अन्धश्रद्धा का मुख्य पुरुषार्थ है। यही अन्धश्रद्धा आगे जाकर बु पारतन्त्र्य का कारण बन जाती है, जिसे अपनी सहज भाषा में हम 'दिमागी गुलामी' कह सकते हैं। स्वाभाविक आत्मस्थ को विकसित करने वाली सत् (सात्त्विकी श्रद्धा) जहाँ विचारस्वातन्त्र्य की जननी बनती हुई 'स्वतन्त्र' (स्व+स्व तन्त्र-आत्मतन्त्र) शब्द की मूलप्रतिष्ठा है, ठीक इसके विपरीत आगन्तुक को पुष्पित पल्लवित करने वाली मिथ्याश्रद्धा (तामसी श्रद्धा) विचारपारतन्त्र्य जननी बनती हुई 'परतन्त्र' (पर-विषय-तन्त्र-विषयतन्त्र) शब्द की मूल बन जाती है, एवं यही तामसिक श्रद्धा का संक्षिप्त इतिहास है।

विश्व-व्यवस्था को थोड़ी देर लिए एक ओर रखते हुए भारतीय समस्या ओर ही हम अपने विज्ञ श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं। विज्ञ

से विश्व के पूर्व, पश्चिम, ये दो भेद सामने रखते हुए ही समस्या का
न कीजिए। पूर्वदिशा से सम्बन्ध रखने वाले प्राच्य देश, तथा पश्चिम–
से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीच्य देश, दोनों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न भिन्न
दिक्–विज्ञान के अनुसार पूर्वदिशा के दिक्पाल, एव लोकपाल[1] 'इन्द्र' हैं।
दिशा के दिक्पाल, तथा लोकपाल[2] 'वरुण' हैं। इन्द्र का सूर्य्य से
है[3], एव इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य ही आत्मा की प्रतिष्ठा है[4]। वारुण–प्राण
पृतत्त्व से दाम्पत्य सम्बन्ध है[5], आपोमय वरुण ही परमेष्ठी है[6], एव वारुण–
मक अपृतत्त्व ही शरीर का उत्पादक है[7]। तात्पर्य्य यही है कि, अध्यात्म–
के 'आत्मा, शरीर' नामक दो मुख्य पर्व हैं। इनमें से आत्मा का सम्बन्ध
न्द्र के साथ है, एव शरीर का सम्बन्ध पारमेष्ठ्य वरुण के साथ है। दूसरे
में–आत्मा का इन्द्र से निर्माण हुआ है, एव शरीर का आपोमय वरुण

१—"अथैनमिन्द्र प्राच्यां दिशि वसवो देवा अभ्यषिञ्चन् साम्राज्याय"–
ब्रा॰ ८।१४। ("पार्थिव वसुदेवताओं ने साम्राज्य के लिए इन्द्र का पूर्व–
में अभिषेक किया") ॥

२—"प्रतीची दिक्, वरुणोऽधिपति"–अथर्वस॰ ३।२७।३। (पश्चिमा–
है, वरुण इसके अधिपति हैं)।

३—"एष वाऽइन्द्र, य एष सूर्य्यस्तपति"–शतपथब्रा॰ १६।४।१८।
इन्द्र है, जो कि यह सूर्य्य तप रहा है)।

४—"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"–यजु स॰ १३।४६। (स्थावर–जड़–
जङ्गम–चेतन,–दोनों का आत्मा सूर्य्य है)।

५—"आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्"–तैत्तिरीयब्रा॰ १।१।३।८। (पानी
की स्त्री है)।

६—"आपो वै प्रजापति परमेष्ठी"–शत॰ ब्रा॰ ८।२।३।१३। (पानी ही
ष्ठी नामक प्रजापति है)।

७—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"–छान्दोग्यउप॰
।१। (इसप्रकार श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, रेत, क्रम से पाँचवीं आहुति में पानी
पुरुषशरीररूप में परिणत होता है)।

से निर्माण हुआ है। क्योंकि आत्मस्वरूप-सम्पादक इन्द्र की पूर्वदिशा में है। अतएव प्राच्य देशों के मनुष्यों की दृष्टि में इन्द्रात्मक आत्मतत्व एव वरुणात्मक शरीर गौण है। ठीक इसके विपरीत क्योंकि शरीरस्वरूप वरुण की पश्चिम दिशा में प्रधानता है। अतएव प्रतीच्य देशों के मनुष्यों में वरुणात्मक शरीर प्रधान है, एव इन्द्रात्मक आत्मा गौण है। पूर्वी आत्मवादी हैं, वहाँ पश्चिमी देश शरीरवादी हैं। आत्मानन्द को दुर्गत हुए शरीर की रक्षा करना हमारा दृष्टिकोण है, एव शरीर को सुखी बनाना उनका दृष्टिकोण है। 'भोजन जीवन के लिये है', यह हमारा लक्ष्य 'जीवन भोजन के लिए है', यह उनका लक्ष्य है। 'हमें जीवित लिए भोजन करना चाहिये', यह हमारा आदर्श है। एवं 'हमें लिए ही जीवित रहना चाहिए' यह उनका आदर्श है। हम यदि ए (आत्ममूलक) नानाभाव (भेदभाव) के उपासक हैं, तो वे नाना समत्व के (समवर्त्तन) के अनुगामी हैं। इसप्रकार प्राकृतिक इन्द्र-वरुण भेदों से दोनों देशों के लक्ष्य सर्वथा विभिन्न बन रहे हैं। और निश्चयेन ऐसी समस्या है, जिसे न जान कर हम उत्तरोत्तर अपने पूर्वी देशों जटिल ही बनाते जा रहे हैं।

हाँ, तो उक्त प्राकृतिक रचनाक्रम के आधार पर दोनों के आदर्शों कीजिए। आत्मा नित्य है, अनादि है, समदर्शक है। शरीर अनित्य है विषयानुगामी है। इन्द्रिय-मनोऽनुगत-शरीर कर्म-करने वाला आत्मा शरीर-कर्मों का द्रष्टा (देखने वाला) है। द्रष्टा (आत्मा स्वरूपतः समान है, कर्त्ता (शरीराभिमानी शरीरविशिष्ट जीव) का कर्म नाना है। 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'-मूलक एकत्व का अनुगामी बनता हुआ समानदर्शन (अभेददर्शन) की प्रतिष्ठा है सुसमर्थित शरीराभिमानी कर्त्ता अनेकत्वानुगत कर्मप्रपञ्च का-अनु हुआ विषमवर्त्तन (भिन्न व्यवहार) की प्रतिष्ठा है। जिस की दृष्टि इन्द्रानुगत आत्मपर्व प्रधान, तथा वरुणानुगत शरीरपर्व गौण दृष्टि समान रहेगी, व्यवहार भिन्न भिन्न होगा, एवं यही पूर्वीय,

र्श माना जायगा। यच्चयावत् प्राणियों में आत्मब्रह्म समान, तन्मूलक दर्शन ं, यही यहाँ का आरम्भ है। प्रत्येक प्राणी का शरीराभिमानी कर्त्ता त्रिगुणा- । प्रकृति के भेद से परस्पर सर्वथा विभिन्न, तन्मूलक वर्त्तन (व्यवहार) विषम, यहा की समाप्ति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सच्छूद्र, असच्छूद्र, राजा, प्रजा, पुत्र, माता, भगिनी, कन्या, पत्नी, मित्र, शत्रु, उदासीन, पशु, पक्षी, कृमि, ओषधि, वनस्पति, आदि आदि सम्पूर्ण जङ्गम-स्थावर प्रपञ्च के मूल में अभिन्न एक आत्मब्रह्म की समदर्शनमूला भावना करते हुए व्यावहारिक में सबकी विभिन्न मर्य्यादाओं को यथास्थान प्रतिष्ठित रखते हुए यथानुरूप भिन्न व्यवहार रखना ही हमारा मुख्य आदर्श है। निष्कर्षतः 'समदर्शन- क विषमवर्त्तन' ही हमारी मूलप्रतिष्ठा है। दृष्टि समान रहेगी, क्योंकि द्रष्टा मब्रह्म सब में समान है। इसी आधार पर कर्त्तव्यकर्म्मों के प्रधान निर्णायक ान् कृष्ण ने इस सम्बन्ध में हमें निम्न लिखित ही आदेश दिया है कि—

ाविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
ने चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (न तु समवर्त्तिनः)।
—गीता ५।१८।

प्रकृतिसिद्ध-विभिन्न-वर्त्तनात्मक भेदव्यवहारों के उच्छेद के लिए आतुर बने वर्तमानयुग के अमुक भारतीय भावुक बन्धु (सुधारक, एवं राष्ट्रप्रेमी) त गीता-सिद्धान्त को उद्धृत करते हुए बड़े आवेश से (किन्तु अन्धश्रद्धा प्रभाव से) अपने ये उद्गार प्रकट किया करते हैं कि,-'भगवान् ने सबको समान ना है। अतएव सबको समानाधिकार है, सब के साथ समान व्यवहार ना चाहिए'। हमारे ये आत्मबन्धु गुरुदीक्षा में प्राप्त अन्धश्रद्धा के अनुग्रह से मा विचार-स्वातन्त्र्य खोते हुए यह भूल जाते हैं कि, भगवान् ने स्थान स्थान केवल समदर्शन का आदेश दिया है, न कि समवर्त्तन का। अवश्य ही कथनानुसार समदर्शन प्रत्येक दशा में प्रत्येक गीताभक्त के लिए समादरणीय । गीता के निम्न लिखित उदाहरणों की ओर अपने कल्पित साम्यवादियों का ान आकर्षित करते हुए क्या उनसे हम यह पूँछने की धृष्टता कर सकते हैं कि,

से निर्म्माण हुआ है । क्योंकि आत्मस्वरूप–सम्पादक इन्द्र की पूर्वदिशा में ... है । अतएव प्राच्य देशों के मनुष्यों की दृष्टि में इन्द्रात्मक आत्मतत्त्व ... एवं वरुणात्मक शरीर गौण है । ठीक इसके विपरीत क्योंकि शरीरस्वरूप ... वरुण की पश्चिम दिशा में प्रधानता है । अतएव प्रतीच्य देशों के मनुष्यों ... में वरुणात्मक शरीर प्रधान है, एवं इन्द्रात्मक आत्मा गौण है । पूर्वी ... आत्मवादी हैं, वहाँ पश्चिमी देश शरीरवादी हैं । आत्मानन्द को सुरक्षित ... हुए शरीर की रक्षा करना हमारा दृष्टिकोण है, एवं शरीर को सुखी बना... उनका दृष्टिकोण है । 'भोजन जीवन के लिये है', यह हमारा लक्ष्य ... 'जीवन भोजन के लिए है', यह उनका लक्ष्य है । 'हमें जीवित ... लिए भोजन करना चाहिये', यह हमारा आदर्श है । एवं 'हमें ... लिए ही जीवित रहना चाहिए' यह उनका आदर्श है । हम यदि ... (आत्ममूलक) नानाभाव (भेदभाव) के उपासक हैं, तो वे नाना... समत्व के (ममवर्त्तन) के अनुगामी हैं । इसप्रकार प्राकृतिक इन्द्र–वरुण–... भेदों से दोनों देशों के लक्ष्य सर्वथा विभिन्न बन रहे हैं । और निश्चयेन ... ऐसी समस्या है, जिसे न जान कर हम उत्तरोत्तर अपने पूर्वी देशों ... जटिल ही बनाते जा रहे हैं ।

हाँ, तो उक्त प्राकृतिक रचनाक्रम के आधार पर दोनों के आदर्शों का ... कीजिए । आत्मा नित्य है, अनादि है, समदर्शक है । शरीर अनित्य है ... विषयानुगामी है । इन्द्रिय–मनोऽनुगत–शरीर कर्म्म–करने वाला है ... आत्मा शरीर–कर्म्मों का द्रष्टा (देखने–वाला) है । द्रष्टा (आत्मा) ... स्वरूपतः समान है, कर्त्ता (शरीराभिमानी शरीरविशिष्ट जीव) का कर्म ... नाना है । 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'–मूलक ... एकत्व का अनुगामी बनता हुआ समानदर्शन (अभेददर्शन) की प्रतिष्ठा है ... सुत्रमथित शरीराभिमानी कर्त्ता अनेकत्वानुगत कर्म्मप्रपञ्च का अनुग... हुआ विषमवर्त्तन (भिन्न व्यवहार) की प्रतिष्ठा है । जिस की अध्यात्म... इन्द्रानुगत आत्मपर्व प्रधान, तथा वरुणानुगत शरीरपर्व गौण रहे... दृष्टि समान रहेगी, व्यवहार भिन्न भिन्न होगा, एवं यही पूर्वीय, किंतु...

स्थान पर यह आदेश किया है कि, वर्णभेदभिन्न स्वधर्म्म-भेद ही लोकव्यवस्था का अनन्य सरक्षक है। समस्त गीताशास्त्र सिद्धान्ततः इस कर्म्मभेद का ही समर्थक बन रहा है, जैसा कि गीताभक्तों ने पारायण करते हुए शतशः बार देखा सुना होगा। अस्तु. निवेदन यही करना है कि, हमारी स्वरूपरक्षा, हमारा अभ्युदय (ऐलौकिक सुख), निःश्रेयस् (पारलौकिकसुख), हमारा सामाजिक, राजनैतिक, कौटुम्बिक, वैय्यक्तिक विकास, सब कुछ समदर्शनानुगत-विषमवर्त्तन पर ही अवलम्बित है। वैसी राज्यलिप्सा, वैसा सामाजिक उत्थान, वैसा वैय्यक्तिक विकास भारतीय दृष्टिकोण से सर्वथा ही त्याज्य है, जिस में आत्मस्वातन्त्र्य का तो दलन हो, एव शरीरमात्र की तुष्टि-पुष्टि हो। आगन्तुक दोषों का जहाँ हमें समूल विनाश कर डालना है, वहाँ अपने स्वरूप को सर्वथा सुरक्षित भी बनाए रखना है, एव यह तभी सम्भव है, जब कि हम पूर्व-पश्चिम के उक्त लक्ष्यभेद की समस्या को भलीभाँति सुलझालें।

अब क्रमप्राप्त पश्चिमी देशों के दृष्टिकोण का भी समन्वय कर लीजिए। कहा गया है कि, पश्चिमा-दिक् के सम्बन्ध से वहाँ आपोमय वरुण का साम्राज्य है। तत्वविज्ञान की दृष्टि से आपोमय वरुणदेवता ही कुत्सित साम्राज्य-लिप्सा के प्रधान आलम्बन माने गए हैं—। साम्राज्य जहाँ भारतीय आर्षदृष्टिकोण से उपादेय, तथा आवश्यक है, वहाँ साम्राज्यलिप्सा सर्वथा हेय है। यह लिप्सा एक प्रकार का वैसा राग है, जो विराग से सर्वथा दूर है। लिप्सा एक प्रकार का सङ्कोचधर्म्म है, सकोच आत्मबन्धन है, बन्धन के प्रवर्तक वरुणदेवता हैं। जल-प्रधान-देशों में यदि वरुण का प्राधान्य स्वाभाविक है, तो वहाँ वरुणपाशमूलक आत्मविकासाभावलक्षण बन्धन, तथा तन्मूला साम्राज्यलिप्सा भी स्वाभाविकी ही है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर वेदभगवान् ने यह प्राकृतिक सिद्धान्त स्थापित किया है कि, 'पश्चिम दिशा में रहने वाले राजाओं का एकमात्र

—"क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराज"—तै० ब्रा० ३।१।२७।
"वरुणः सम्राट्, सम्राट्पतिः"—तै० ब्रा० २।५।७।२।

वे किस अश्रुत अदृष्ट गीताशास्त्र के आधार पर समवर्त्तन का उद्घोष १ भारतीय प्रजा को यों सन्मार्ग से च्युत कर रहे हैं ?

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं "यः पश्यति स पश्यति" ॥
—गीता १३।२७।

"समं पश्यन् हि सर्वत्र" समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
—गी० १३।२८।

यदा भूतपृथग्भाव–"मेकस्थमनुपश्यति" ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तथा ॥
—गी० १३।३०।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा "सर्वत्र समदर्शनः"
—गी० ६।२९।

यो "मां पश्यति" सर्वत्र सर्वं च "मयि पश्यति" ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
—गी० ६।३०।

आत्मौपम्येन सर्वत्र "समं पश्यति योऽर्जुन !" ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
—गी० ६।३२।

उक्त वचनों में सर्वत्र जहाँ आत्मब्रह्ममूलक समदर्शन का आदेश हुआ है वहाँ अन्य वचनों मे कर्तृभेदमूलक विषमवर्त्तन-सिद्धान्त ही स्थापित हुआ है । उस अधिकारभेदभिन्न कर्म्मभेद को गीताशास्त्र ने 'स्वधर्म' कहा है । साथ ही स्पष्ट

ोदा करने वाले श्रीगौतमबुद्ध को भी यहाँ की उदार प्रज्ञा ने 'अवतार' मानने
ोच न किया। यही कारण था कि, यहाँ बहुत कम ऐसे अवसर आए, जिनमें
तक, तथा धार्मिक क्षेत्रों में संघर्ष उपस्थित हुआ हो। धार्मिक विचारों की
ता का उल्लेख करते हुए वेदभगवान् ने एक स्थान पर कहा है कि, 'धर्म्म-
के बल पर एक निर्बल मनुष्य भी सबल का नियन्त्रण कर सकता है'*।

आत्मविकासमूलक उक्त विचारस्वातन्त्र्य के साथ साथ कर्त्ता शारीरक के दृष्टि-
से यहाँ कर्म्मपारतन्त्र्य भी यथानुरूप व्यवस्थित रहा। अपने अपने विचारों
स्तन्त्र रखते हुए भी यहाँ कर्म्म के सम्बन्ध में कभी स्वतन्त्रता का समावेश न
। प्रजा ने जहाँ अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में कोई संकोच नहीं किया,
सत्ता के प्रति व्यवस्थित अपने नियत कर्म्मों में भी कभी उदासीनता न दिख-
। इसी प्रकार सत्ता ने प्रजा के प्रति भी अपने कर्त्तव्यपालन में उदासीनता
वेश न होने दिया। यही नियम सामाजिक, तथा कौटुम्बिक व्यवस्थाओं की
तिष्ठा बना रहा। इसप्रकार–'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नरः'
० १८।४५) के अनुसार सब श्रेणियाँ अपने अपने अधिकारसिद्ध प्राकृतिक
न कर्त्तव्यों की ही अनुगामिनी बनीं रहीं। कर्त्तव्यभेद जहाँ भारतराष्ट्र की विभिन्न
ायों की प्रातिस्विक स्वरूपरक्षा का कारण बना, वहाँ समानदर्शन ने इन्हें 'एक-
', किंवा 'विश्वबन्धुत्व का भी अनुगामी बनाए रक्खा। और विचारस्वातन्त्र्या-
त कर्त्तव्यभेदमूलक इसी समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनरूप आदर्श ने 'मा कश्चित्
ःखभाग् भवेत्' का सर्वप्रथम आविष्कार किया।

ठीक इस के विपरीत विषमदर्शन, तथा समवर्त्तन को आदर्श मानने वाले
श्चमी देशों ने विषमदर्शन के आधार पर जहाँ विचार-पारतन्त्र्य को जन्म दिया, वहाँ
वर्त्तन के आधार पर कर्म्मस्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा की। इसप्रकार वहाँ 'आत्म-
स्वतानुगता' पशुवृत्ति' ने जन्म लिया। विचारों का पारतन्त्र्य जहाँ आत्मसंकोच

*–"अथोऽबलीयान् बलीयासं समाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा–एवम्"।
—शत० ब्रा० १४।४।२।२५।

लक्ष्य साम्राज्यलिप्सा ही है' * । श्रुति का यह सिद्धान्त ही वहाँ की स्वाभाविक मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त प्रमाण है। वरुण के अनुग्रह से वहाँ शरीर प्रधान है, आत्मब्रह्म गौण है । अतएव शरीरकर्त्ता का वहाँ प्राधान्य है, एवं द्रष्टा आत्मब्रह्म की गौणता है । फलस्वरूप 'विषमदर्शनानुगत समवर्त्तन' ही वहाँ का प्रधान आदर्श बना हुआ है । व्यवहार में समानता, दर्शन में विषमता ही वहाँ की स्वाभाविक चर्य्या है, जो चर्य्या भारतीय आदर्श से ठीक विपरीत है।

समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनलक्षण भारतीय आदर्श, तथा विषमदर्शनानुगत-समवर्त्तनलक्षण पश्चिमी आदर्श, इन दोनों विभिन्न आदर्शों से स्वाभाविक जीवनधारा में क्या विभिन्नता उत्पन्न हुई ?, यह भी एक स्वाभाविक प्रश्न है, जिस का समाधान कर लेना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा । सिद्ध विषय है कि, समदर्शन से आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है, विषमदर्शन से आत्मा अधिकाधिक सङ्कुचित होता जाता है । समदर्शन के अनुगामी भारतवर्ष के आत्मा ने इसी विकास के आधार पर विचार-स्वातन्त्र्य को जन्म दिया । भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में, तथा धार्म्मिक क्षेत्र में सबको अपने अपने विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता मिली । यदि एक ओर यहाँ ईश्वरसत्ता के अनुयायी आस्तिकों के विचार मान्य हुए, तो दूसरी ओर ईश्वरसत्ता का आत्यन्तिक विरोध करने वाले नास्तिकों के विचार भी सुने गए। यही नहीं, नास्तिकों के विचार-स्वातन्त्र्य को पुष्पित पल्लवित होने का अवसर दिया गया, जिसके फलस्वरूप आत्मवादी भारतवर्ष के प्राङ्गण में अनात्मवादी नास्तिकदर्शन भी अपना स्वरूप प्रतिष्ठित कर सके। यही क्यों, जिस सीमा तक उन के स्वतन्त्र विचार उपादेय थे, उन का समादर भी किया गया । परिणामस्वरूप अपना अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाली सभी सम्प्रदाएँ, सभी मतवाद भारतीय आर्यधर्म (सनातनधर्म) की शीतल छाया में स्थान पा सके । इसी विचारस्वातन्त्र्य के बल पर आर्यधर्म के मूलस्तम्भरूप वेदशास्त्र

*-"तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां, स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । स्वराडित्ये[illegible] भिषिक्तानाचक्षते" । ऐतरेयब्रा० ८।१४।

देश करने वाले श्रीगौतमबुद्ध को भी यहाँ की उदार प्रज्ञा ने 'अवतार' मानने
तेज न किया । यही कारण था कि, यहाँ बहुत कम ऐसे अवसर आए, जिनमें
तिक, तथा धार्मिक क्षेत्रों में संघर्ष उपस्थित हुआ हो । धार्मिक विचारों की
त्रता का उल्लेख करते हुए वेदभगवान् ने एक स्थान पर कहा है कि, 'धर्म्म-
के बल पर एक निर्बल मनुष्य भी सबल का नियन्त्रण कर सकता है'* ।

आत्मविकासमूलक उक्त विचारस्वातन्त्र्य के साथ साथ कहाँ शारीरिक के दृष्टि-
से यहाँ कर्म्मपारतन्त्र्य भी यथानुरूप व्यवस्थित रहा । अपने अपने विचारों
तन्त्र रखते हुए भी यहाँ कर्म्म के सम्बन्ध में कभी स्वतन्त्रता का समावेश न
। प्रजा ने यहाँ अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में कोई संकोच नहीं किया,
सत्ता के प्रति व्यवस्थित अपने नियत कर्म्मों में भी कभी उदासीनता न दिख-
। इसी प्रकार सत्ता ने प्रजा के प्रति भी अपने कर्त्तव्यपालन में उदासीनता
वेश न होने दिया । यही नियम सामाजिक, तथा कौटुम्बिक व्यवस्थाओं की
तिष्ठा बना रहा । इसप्रकार-'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:'
० १८।४५) के अनुसार सब श्रेणियाँ अपने अपने अधिकारसिद्ध प्राकृतिक
त कर्त्तव्यों की ही अनुगामिनी बनीं रहीं । कर्त्तव्यभेद जहाँ भारतराष्ट्र की विभिन्न
यों की प्रातिस्विक स्वरूपरक्षा का कारण बना, वहाँ समानदर्शन ने इन्हें 'एक-
, किंवा 'विश्वबन्धुत्व का भी अनुगामी बनाए रक्खा । और विचारस्वातन्त्र्या-
कर्त्तव्यभेदमूलक इसी समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनरूप आदर्श ने 'मा कश्चित्
भाग् भवेत्' का सर्वप्रथम आविष्कार किया ।

ठीक इस के विपरीत विषमदर्शन, तथा समवर्त्तन को आदर्श मानने वाले
मी देशों ने विषमदर्शन के आधार पर जहाँ विचार-पारतन्त्र्य को जन्म दिया, वहाँ
र्त्तन के आधार पर कर्म्मस्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा की । इसप्रकार वहाँ 'आत्म-
तानुगता' पशुवृत्ति' ने जन्म लिया । विचारों का पारतन्त्र्य वहाँ आत्मसंकोच

---

*"अथोऽबलीयान् बलीय स समाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा-एवम्" ।
—शत० ब्रा० १४।४।२।२५।

लक्ष्य साम्राज्यलिप्सा ही है' *। श्रुति का यह सिद्धान्त ही वहाँ की स्वाभाविक मनोवृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त प्रमाण है। वरुण के अनुग्रह से वहाँ शरीर प्रधान है, आत्मब्रह्म गौण है। अतएव शरीरकर्त्ता का वहाँ प्राधान्य है, एवं द्रष्टा आत्मब्रह्म की गौणता है। फलस्वरूप 'विषमदर्शनानुगत समवर्त्तन' ही वहाँ का प्रधान आदर्श बना हुआ है। व्यवहार में समानता, दर्शन में विषमता ही वहाँ की स्वाभाविक चर्या है, जो चर्या भारतीय आदर्श से ठीक विपरीत है।

समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनलक्षण भारतीय आदर्श, तथा विषमदर्शनानुगत-समवर्त्तनलक्षण पश्चिमी आदर्श, इन दोनों विभिन्न आदर्शों से स्वाभाविक जीवनधारा में क्या विशेषता उत्पन्न हुई ?, यह भी एक स्वाभाविक प्रश्न है, जिस का समाधान कर लेना भी अप्रासङ्गिक न माना जायगा। सिद्ध विषय है कि, समदर्शन से आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है, विषमदर्शन से आत्मा अधिकाधिक सङ्कुचित होता जाता है। समदर्शन के अनुगामी भारतवर्ष के आत्मा ने इसी विकास के आधार पर विचार-स्वातन्त्र्य को जन्म दिया। भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में, तथा धार्मिक क्षेत्र में सबको अपने अपने विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता मिली। यदि एक ओर यहाँ ईश्वरसत्ता के अनुयायी आस्तिकों के विचार मान्य हुए, तो दूसरी ओर ईश्वरसत्ता का आत्यन्तिक विरोध करने वाले नास्तिकों के विचार भी सुने गए। यही नहीं, नास्तिकों के विचार-स्वातन्त्र्य को पुष्पित पल्लवित होने का अवसर दिया गया, जिसके फलस्वरूप आत्मवादी भारतवर्ष के प्राङ्गण में अनात्मवादी नास्तिकदर्शन भी अपना स्वरूप प्रतिष्ठित कर सके। यही क्यों, जिस सीमा तक उन के स्वतन्त्र विचार उपादेय थे, उन का समादर भी किया गया। परिणामस्वरूप अपना अपना विभिन्न दृष्टिकोण रखने वालीं सभी सम्प्रदाएँ, सभी मतवाद भारतीय आर्षधर्म (सनातनधर्म) की शीतल छाया में स्थान पा सके। इसी विचारस्वातन्त्र्य के बल पर आर्षधर्म के मूलस्तम्भरूप वेदशास्त्र

*-"तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, येऽपाच्यानां, स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते । स्वराडित्येनान भिषिक्तानाचक्षते"। ऐतरेयब्रा० ८।१४।

उपेक्षा करने वाले श्रीगौतमबुद्ध को भी यहाँ की उदार प्रज्ञा ने 'अवतार' मानने में संकोच न किया। यही कारण था कि, यहाँ बहुत कम ऐसे अवसर आए, जिनमें राजनैतिक, तथा धार्मिक क्षेत्रों में संघर्ष उपस्थित हुआ हो। धार्मिक विचारों की स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हुए वेदभगवान् ने एक स्थान पर कहा है कि, 'धर्म्म-बल के बल पर एक निर्बल मनुष्य भी सबल का नियन्त्रण कर सकता है'*।

आत्मविकासमूलक उक्त विचारस्वातन्त्र्य के साथ साथ क्या शारीरक के दृष्टि-कोण से यहाँ कर्म्मपारतन्त्र्य भी यथानुरूप व्यवस्थित रहा। अपने अपने विचारों को स्वतन्त्र रखते हुए भी यहाँ कर्म के सम्बन्ध में कभी स्वतन्त्रता का समावेश न हुआ। प्रजा ने जहाँ अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में कोई संकोच नहीं किया, वहाँ सत्ता के प्रति व्यवस्थित अपने नियत कर्म्मों में भी कभी उदासीनता न दिख-लाई। इसी प्रकार सत्ता ने प्रजा के प्रति भी अपने कर्त्तव्यपालन में उदासीनता का प्रवेश न होने दिया। यही नियम सामाजिक, तथा कौटुम्बिक व्यवस्थाओं की मूलप्रतिष्ठा बना रहा। इसप्रकार–'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरत संसिद्धिं लभते नर' (गी० १८।४५) के अनुसार सब श्रेणियाँ अपने अपने अधिकारसिद्ध प्राकृतिक विभिन्न कर्त्तव्यों की ही अनुगामिनी बनीं रहीं। कर्त्तव्यभेद जहाँ भारतराष्ट्र की विभिन्न श्रेणियों की प्रातिस्विक स्वरूपरक्षा का कारण बना, वहाँ समानदर्शन ने इन्द्र 'एक-राष्ट्र', किंवा 'विश्वबन्धुत्व का भी अनुगामी बनाए रक्खा। और विचारस्वातन्त्र्या-नुगत कर्त्तव्यभेदमूलक इसी समदर्शनानुगत विषमवर्त्तनरूप आदर्श ने 'मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्' का सर्वप्रथम आविष्कार किया।

ठीक इस के विपरीत विषमदर्शन, तथा समवर्त्तन को आदर्श मानने वाले पश्चिमी देशों ने विषमदर्शन के आधार पर जहाँ विचार-पारन्त्र्य को जन्म दिया, वहाँ समवर्त्तन के आधार पर कर्म्मस्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा की। इसप्रकार वहाँ 'आत्म-सम्बन्धानुगता' पशुवृत्ति' ने जन्म लिया। विचारों का पारतन्त्र्य जहाँ आत्मसंकोच

*–"अथोऽबलीयान् बलीयांस समाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा–एवम्"।

का कारण बनता हुआ आत्मदासता का कारण है, वहाँ कर्त्तव्य की स्वतन्त्रता यं स्वेच्छाचार-विहार करने वाले पशुओं की पशुवृत्ति का ही नग्न प्रदर्शन है । पशुधर्म्म का, जिसे वर्तमान परिभाषा में 'स्वतन्त्रता' कहा जाता है—वेद में आख्यान के द्वारा बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है । आख्यान के तात्त्विक विश्लेषण की ओर न जाकर यहाँ केवल उसका सामान्य स्वरूप उद्धृत कर दे ही पर्याप्त मान लिया जायगा ।

''ईश्वरप्रजापति ने असुर, देवता, पितर, मनुष्य, पशु' ये पाँच सन्त उत्पन्न कीं । पाँचो ने अपनी जीवनरक्षा के लिए पिता प्रजापति (ईश्वर) से प्रार्थना की कि, आपने हमें उत्पन्न तो कर दिया । किन्तु हमारे लिए अन्न ऐसी व्यवस्था करने का भी अनुग्रह होना चाहिए, जिससे हम जीवित रह सकें प्रजापति ने सन्तानों की इस प्रार्थना पर देवताओं को यह आदेश दिया कि, तु वर्ष में एक बार 'स्वाहा' नाम का तो अन्न मिला करेगा, 'सूर्य' तुम्हारा प्रका रहेगा । पितरों को यह आश्वासन दिया कि, प्रत्येक महीने के अन्त में (अमावस्या में) तो तुम्हें 'स्वधा' नाम का अन्न मिलेगा, एवं 'चन्द्रमा' तुम्ह प्रकाश रहेगा । मनुष्यों को यह कहा गया कि, प्रतिदिन साय प्रातः तुम्हें 'अ मिलेगा, 'प्रजा' (सन्तति) सम्पत्ति मिलेगी, मृत्यु तुम्हारा स्वाभाविक धर्म्म होग एवं 'अग्नि' तुम्हारा प्रकाश होगा । पशुओं को यह आदेश मिला कि, तुम खा पान के सम्बन्ध में सर्वथा 'स्वतन्त्र' रहोगे । तुम दिन में, रात में, चलते, फिर सोते, बैठते, जब भी, जहाँ भी, जो भी कुछ मिल जाय, खा सकोगे । पाँचों सन्ता में असुर सब से ज्येष्ठ थे । क्योंकि ज्येष्ठ सन्तान में पिता की सम्पत्ति पर प आक्रमण करने की स्वाभाविक मनोवृत्ति है । अतएव-'शश्वदुष्यसुरा उपसेदु इस कथन के अनुसार जब जब देवता, पितर, मनुष्य, पशु, चारों क्रमशः प्रजापति के समीप जीवन-व्यवस्था के लिए पहुँचे, तब तब ही असुर भी पहुँच रहे । असुरों में धैर्य्य न था, क्योंकि धैर्य्य आत्मधर्म्म है । उधर वरुणप्रधा आप्यप्राण ही असुरों का अपना स्वरूप है । अपनी स्वाभाविक इसी अनीयवृत्ति पुरस्कार में प्रजापति ने यह आदेश दिया कि, 'माया' (छल-कपट-धूर्तता मिथ्या मायामृत-धोखा) तुम्हारा अन्न होगा, एवं 'अन्धकार' तुम्हारा प्रकाश । आ

र श्रुति कहती है कि, प्रजापति ने आरम्भ में इन पाँचों के लिए जो व्यवस्था थी, आजतक और तो सभी प्रजावर्ग उसी नियम को मानता चला हा है, परन्तु मनुष्यप्रजा इस नियम का (अपने दोष से कभी कभी) नन कर जाती है। (अतएव एकमात्र इसी के लिए शास्त्रोपदेश हुआ है)।" सए—शतपथब्राह्मण २ काण्ड, ४ अध्याय, २ ब्राह्मण)।

उक्त श्रौत आख्यान से निष्कर्ष यह निकला कि, यथेच्छाचारविहार-ण कर्मस्वातन्त्र्य मानवधर्म नहीं अपितु पशुधर्म्म है। एवमेव छल-आत्म-वञ्चना धोका आदि आसुरधर्म्म है, मानवधर्म्म नहीं यदि कोई ताय मानव कर्म्म स्वातन्त्र्य को मानवस्वतन्त्रता कहता है, तो भारतीय कोण से ऐसी स्वतन्त्रता विशुद्ध पशुधर्म है। यदि कोई बुद्धिमान ालक्षण छलप्रपञ्च को ही स्वतन्त्रता का आन्दोलन कहता है, तो यह रा आसुर धर्म्म है। आत्मस्वातन्त्र्य ही वास्तविक स्वतन्त्रता है, वार-स्वातन्त्र्य ही स्वतन्त्रता की आधारशिला है, एवं यही पूर्व-पश्चिम विभिन्न आदर्शों का संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है।

आजकल के विचारशीलों का यह कहना है कि, 'जिस युग में भारतवर्ष का ष्ट्रों के साथ कोई सम्पर्क न था उस आङ्गल-युग में यह संभव था कि, भारतीय अपने आदर्शों को सुरक्षित रख सकी। परन्तु यातायात-साधनों की सुलभता आज भारतवर्ष का प्राय सम्पूर्ण विश्व की संस्कृतियों के साथ जब निकटतम बन्ध स्थापित हो गया है, तो उस दशा में केवल भारतीय आदर्शों का गुणानुवाद विशेष महत्त्व नहीं रखता"। विचारकों की इस धारणा के प्रति नम्र शब्दों हमें अभी यही निवेदन कर देना है कि, यह विचारधारा ऐतिहासिक तथ्य से सर्वथा दूर है। भारतीयों का सम्बन्ध यदि आज है, तो सहस्रों वर्ष पहिले भी था। हाँ ब स्मानरूप से सम्बन्ध है, पहिले शासक के रूप में सम्बन्ध था। पूर्ण विश्व को मानवधर्म की शिक्षा इसी भारतवर्ष ने सर्वप्रथम प्रदान की है।

भगवान् मनु का यह कथन कि,—* "भारतीय शिक्षागुरु ब्राह्मणों से सम
पृथिवी के मनुष्य अपना अपना चरित्र सीखें" इस बात का द्योतक है
भारतवर्ष का पुरायुग में भी बाह्य संस्कृतियों के साथ निकटतम सम्पर्क रहा है।
अतीत, तथा वर्त्तमान सम्पर्क में अहोरात्र का अन्तर है। अतीत सम्पर्क में ह
अपने आप को अपने आदर्शों पर प्रतिष्ठित रखते हुए जहाँ उन्हें आध्या
सम्पत्ति प्रदान करते हुए ऋणी बनाया था, वहाँ वर्त्तमान सम्पर्क में उनके
दृष्टिकोण के प्रभाव में आकर हम स्वयं उनके ऋणी बन गए हैं। आज
उनका अन्ध अनुकरण करते हुए विषमदर्शन, तथा समवर्त्तन का उद्घोष
लगे हैं। भारतवर्ष का प्राकृतिक जलवायु क्योंकि वहाँ के आदर्शों के अनु
क्षेत्र नहीं है। अतएव दोनों संस्कृतियों में पर्य्याप्त संघर्ष उपस्थित हो चला
अब देखना यह है कि, इस सांस्कृतिक संघर्ष में कौन बाजी मार ले जाता है!

समस्या इसलिए जटिल है कि, आज हमारे कोश में प्रस्तुत सांस्कृतिक संघ
विजय प्राप्त करने के साधनों का अभाव हो चला है। दुःखमयी आश्चर्य्य-
तो यह है कि, हम जिन साधनों को उपयोग में ला रहे हैं, वे वस्तुतः उन्हीं के
वर्द्धक सिद्ध हो रहे हैं, जैसा कि वर्त्तमान श्रेणिविभागों की विषमदर्शनानु
अहमहमिका के स्पष्ट है। वर्त्तमान भारत के विचारशील समुदाय को स्थूलरू
आज दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है, एवं दोनों को क्रमशः धार्मि
एवं राजनैतिक, नामों से पुकारा जा सकता है। दोनों ही दल भारत के अभ्यु
के इच्छुक हैं, एवं इच्छानुसार यथाशक्य प्रयत्नशील भी हैं। परन्तु देखते हैं,
एकीकरण के सम्बन्ध में दोनों के ही प्रयत्न असफल से बनते जा रहे हैं। क्यं
समस्या के समन्वय से पहिले दोनों के मन्तव्यों, तथा कार्य्यप्रणालियों का विश्ले
कर लेना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा।

आत्मवाद की प्रधानता से भारतवर्ष धर्मप्राण देश रहा है। कहने के
वर्त्तमान युग में भी इतर देशों की तुलना में भारतीय धर्मभावना का

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
—मनुः २।२०।

में विशेष समादर देखा सुना जाता है, फिर भले ही वर्त्तमान धर्म्मभावना, एवं धर्माचरण केवल नग्न प्रदर्शन ही क्यों न बन रहा हो। इन्हीं कतिपय कारणों से सर्वप्रथम धार्मिक समाज की कार्य्यप्रणाली का ही विचार अपेक्षित हो जाता है। वर्त्तमान दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाते हुए धार्मिक समाज का हम 'धर्म्म-मत' इन दो भागों में वर्गीकरण कर सकते हैं। पुरुष (ईश्वर) से नित्य युक्त, सत्त्व-रज-स्तमोगुण-बहुला प्रकृति के द्वारा ही सम्पूर्ण चर अचर प्रपञ्च का सुव्यवस्थितरूप से उत्पादन-पालन पोषण हो रहा है। प्रकृति देवी अपने शाश्वत सत्य जिन नियमों से विश्वमर्य्यादाओं का सञ्चालन कर रही है, प्रकृति के वे अटल नियम ही विश्वस्वरूप को धारण किए हुए हैं। अतएव 'धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते-प्रजा' इस लक्षण के अनुसार उन प्राकृतिक नियमों की समष्टी को ही हम 'धर्म्म' कह सकते हैं। भूत भविष्यत्-वर्त्तमान के परिज्ञाता भारतीय महर्षियोंने ईश्वर-प्रदत्त दिव्य प्रतिभा के बल पर प्रकृति के उन गुप्त नियमों का साक्षात्कार किया। और उनके साक्षात्कार से उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, जबतक मानव-समाज प्रकृति के उन नियमों के अनुरूप अपनी जीवनधारा प्रवाहित करना न सीख लेगा, तबतक उसे वास्तविक सुख-शान्ति न मिल सकेगी। इसी लोका-भ्युदय-भावना से प्रेरित होकर परम कारुणिक महर्षियों की ओर से उन प्राकृतिक नियमों के विश्लेषण के लिए ही 'वेदशास्त्र' का आविर्भाव हुआ। क्योंकि यह ऋषियों का प्रत्यक्ष ज्ञान था, अतएव इसे 'श्रुति' कहना अन्वर्थ माना गया। प्रकृतितत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, अधियज्ञ, आदि आदि सभी प्राकृतिक तत्त्वों का जैसा विश्लेषण इस शास्त्र (वेद) में हुआ है, वैसा अन्यत्र मिल सकना कठिन है।

प्राकृतिक तत्त्वों का विश्लेषण करने वाले, दूसरे शब्दों में धर्म्मलक्षण प्राकृतिक नियमों का रहस्योद्घाटन करने वाले वेदशास्त्र के आधार पर आगे चलकर मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, अङ्गिरा, आदि तत्त्वज्ञ विद्वानों ने कर्म्मात्मक नियमों का सङ्कलन किया। ये संकलित नियम ही आगे चलकर 'धर्म्मशास्त्र' नाम से व्यवहृत हुए। क्योंकि धर्म्मविधान वेदमूलक थे, अतएव इन्हें 'स्मृति' कहना अन्वर्थ माना गया। साथ ही इन के सम्बन्ध में यह कड़ी शर्त (शर्त) लगा दी गई कि, इन

के (स्मृतियों के) वे ही नियम-विधान (विधि-निषेध) प्रामाणिक माने जायँगे जो तत्त्वप्रतिपादिक वेदशास्त्र के अनुगामी होंगे। इसप्रकार प्राकृतिक नियमस्वरूप धर्म्म के लिए श्रुति, स्मृति, नामक दो शास्त्रों का उद्भव हुआ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, वेदशास्त्र केवल 'विद्याशास्त्र' है, तत्त्वशास्त्र है। कब, क्या करना चाहिए ?, इन नियम-विधानों का, तथा अमुक कर्म्म क्यों नहीं करना चाहिए ?, इन निषेधों का वेदशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह केवल धर्म्म के रहस्यज्ञान का, दूसरे शब्दों में प्राकृतिक विज्ञान का ही विश्लेषण करता है। अमुक नियम क्यों बनाया गया ?, अमुक विधि का मौलिक रहस्य प्राकृतिक आधार-क्या है ?, इस धर्म्मजिज्ञासा को शान्त करना ही वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसी प्रकार धर्म्मशास्त्र केवल नियमविधानशास्त्र है, 'आदेशशास्त्र' है। अमुक कर्म्म ऐसे ही क्यों किया जाय ?, अमुक कर्म्म का मौलिक रहस्य क्या है ?, इत्यादि प्रश्नों का इस शास्त्र मे कोई सम्बन्ध नही है। यही नही, यदि कोई अज्ञानतावश स्मृतियों से तर्कमूला उपपत्ति की जिज्ञासा कर बैठता है, तो स्मृति उसे नास्तिक कहती हुई उसकी उपेक्षा कर बैठती है।

उक्त विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, धर्म्म किसी मानवीय कल्पना का सामयिक विधान नही है, अपितु प्राकृतिक नियमों का ही नाम धर्म्म है, जिसके रहस्यज्ञान का विश्लेषण तो वेदशास्त्र ने किया है, एवं इतिकर्तव्यता मन्वादि धर्म्मशास्त्रों में प्रतिपादित हुई है। इसी आधार पर 'वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्'-वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। निम्न लिखित माननीय वचन इन्हीं वेद-धर्म्म-परिभाषाओं का समर्थन कर रहे हैं—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ ॥—मनुः

वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥—मनुः २।६।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्म्मो मनुना परिकीर्त्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥—मनुः २।७।
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्म्मे निविशेत वै ॥—मनुः २।८।
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्म्मौ हि निर्बभौ ॥—मनुः २।१०।
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥—मनुः २।११।
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते ।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥—मनुः २।१३।

भगवान् राम कृष्णादि अवतारपुरुष उक्तलक्षण धर्म्म के संस्थापकमात्र माने हैं। मानवीय प्रज्ञापराध से जब जब प्राकृतिक नियमलक्षण धर्म्म में विपर्य्यय लगता है, तब तब ही प्रकृति से नित्य संश्लिष्ट पुरुष (चिदात्मा) का अवतार होता है । इन्हीं कारणों से वेद-धर्म्मशास्त्रसिद्ध प्राकृतिक ईश्वरीय यह धर्म्म धर्म्म कहलाया है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य'-(अहं ष्ठा)'—गी० १४।२७। के अनुसार स्वयं अव्ययेश्वर माने गए हैं। इसी भव भाव से यह प्राकृतिक वेदधर्म 'सदा भव.' निर्वचन से 'सनातनधर्म्म' लाया है। वेदमूलकत्वेन यही 'वेदधर्म्म' है, ऋषिप्रतिष्ठित्वेन यही 'आर्षधर्म्म' मनुप्रतिपादकत्वेन यही 'मानवधर्म्म' है । एवं प्रकृति की सत्य नियति से बन्ध गवता हुआ यही 'सत्यधर्म्म' है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में अभि हुआ है—

"ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्-एकमेव । तदेकं सन्न व्यभवत् ।
च्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-क्षत्रम् । स नैव व्यभवत् । स विशमसृजत ।

नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् । स नैव व्यभवत् ।
च्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्म्मम् । तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं-यद्धर्म्मः,
स्माद् धर्म्मात् परं नास्ति । अथोऽबलीयान् बलीयांसं समा
शंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा-एवम् । यो वै स धर्म्मः, सत्यं वै तत् ।
स्मात् सत्यं वदन्तमाहुः 'धर्म्मं वदति' इति, धर्म्मं वा वदन्तं-
सत्यं वदति' इति । एतद्ध्येव एतदुभयं भवति" ।

--शतपथब्रा० १४।४।२। इति ।

तात्पर्य्य श्रुति का यही है कि,-"ब्रह्मप्रजापति ने यह कामना की कि, मैं विश्व
निर्म्माण करूँ । परन्तु उस समय प्रजापति एकाकी थ । फलत एकाकी रहते हुए
प्रजानिर्म्माण में समर्थन न हो सके । इस कमी की पूर्त्ति के लिए उन्होंनें अपने
(ज्ञानलक्षण ब्रह्मरूप से भी) उत्कृष्ट (कर्म्मलक्षण) क्षत्ररूप उत्पन्न किया,
ो कि क्षत्ररूप इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान, इन
आठ विभिन्न शक्तियों में परिणत हुआ । इस क्षत्र (कर्म्म) रूप से भी जब
ाम न चला, तो ब्रह्म (ज्ञान) ने वसु, रुद्र, आदित्य विश्वेदेव, मरुत्,
भेद से पञ्चधा विभक्त विट् (अर्थबल) उत्पन्न किया । जब इस विट् (अर्थ)
भी काम न चला, तो ब्रह्म ने 'पूषा' नामक शूद्रवर्ण (सेवाबल) उत्पन्न
किया । इसप्रकार एकाकी ब्रह्मबल (ज्ञानबल) वैभवप्राप्ति की कामना से ब्रह्म-
क्षत्र-विट् शूद्र, इन चार बलों में परिणत हो गया । परन्तु इस पर भी काम पूरा
न हुआ । चारो वर्ण किसी मर्य्यादासूत्र के अभाव में सुसंघटित न हो सके ।
स अन्तिम विघ्ननिवृत्ति को दूर करने के लिए सर्वान्त में प्रजापति ने चारों से
श्रेष्ठ धर्म्म उत्पन्न किया, एवं उसकी रक्षा का भार क्षत्रिय पर डाला । अतएव
यह धर्म्म क्षत्रिय का क्षत्रियत्व कहलाया, जिसके निर्बल बन जाने से क्षत्रिय अपना
स्वरूप भी सुरक्षित नहीं रख सकता, साथ ही बिना क्षत्रदण्ड के इतर प्रजा भी
धर्म्म से विमुख होती हुई अपना सर्वनाश करा बैठती है । क्योंकि धर्म्म ही प्रजा
की प्रतिष्ठा है । अतएव धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । इसकी सर्वश्रेष्ठता का
यही प्रमाण है कि, एक निर्बल मनुष्य अधर्म्माचरण करने वाले बलवान् को भी

कार डाँट सकता है, जैसे समर्थ शासक अन्यायी का दमन कर देता है। प्रसिद्ध धर्म्म सत्य ही है। अतएव सत्य का व्यवहार धर्म्म नाम से, एवं का व्यवहार सत्य नाम से प्रसिद्ध है"।

सत्य त्रिकालाबाधित है। यह सत्य ही धर्म्म, किंवा धर्म्म ही सत्य है। फलतः मर्व इस सनातन प्राकृतिक धर्म्म का नित्यत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। य कल्पना अवश्य ही देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धादि के तारतम्य से बदल है, परन्तु 'प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि' (गी० १३।१६।) नुसार नित्य प्रकृति का यह नित्य नियमसूत्र (धर्म्म) कभी नहीं बदलता। भारतीय सनातनधर्म्म का अपरिवर्त्तनीयत्व है, जिसके तात्त्विक स्वरूप को नकर वर्त्तमान युग के परिवर्त्तनवादी जिसके परिवर्त्तन के कल्पित स्वप्न देख । धर्म्म के इस संक्षिप्त विश्लेषण के अनन्तर दूसरे 'मतवाद' की ओर । लक्ष्य जाता है।

तत्तत् समयविशेषों में तत्तत् समय के तत्तत् शिष्ट पुरुषों के द्वारा समाज-था के लिए सामयिक परिस्थिति के अनुरूप, किन्तु प्राकृतिक धर्म्म को मूला-बनाने वाले जिन तात्कालिक नियमोपनियमों का उद्गम होता है, उन सयिक नियमोपनियमों की समष्टि ही 'मतवाद' है। धर्म्म का जहाँ ईश्वरीय से सम्बन्ध है, वहाँ मतवाद का मानवीय कल्पना से सम्बन्ध है, जो समय-। के लिए ही उपादेय माना जा सकता है। मतवाद परिस्थिति के परिवर्त्तन थ, किंवा देशकालादि परिस्थिति के भेद से बदल सकते हैं, विभिन्न हो सकते किन्तु धर्म्म (सनातनधर्म्म) देशकाल की परिस्थिति से सर्वथा बहिर्भूत है। त, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, आदि शाङ्कर-वैष्णव सम्प्रदाएँ मतवाद के गर्भ में समाविष्ट हैं, जिनका सनातनधर्म्मपोषकत्वेन भारतीय प्रजा ने समादर किया। बुद्ध, दयानन्दादि से सम्बन्ध रखने वाले मतवाद प्रथतः सामयिक स्थिति की दृष्टि से मतवाद माने जा सकते हैं। तथापि क्योंकि नें (बुद्ध ने) वेदमन्त्रों का निरादर किया, एवं स्वामी दयानन्दजी ने र्म के सम्बन्ध में चिरन्तन परम्परा की उपेक्षा कर स्वकल्पना को प्रधानता दे

डाली। अतएव धर्म्मप्राण भारतीय प्रजा इन का, एवं तत्सम अन्याय मी
वादों का हृदय से समर्थन न कर सकी । धर्म, एवं मतवाद का जो संघर्ष
भारतवर्ष में चल रहा है, उसके स्पष्टीकरण के लिए ही हमें इनका स्वरूप दिग्द
कराना पड़ा।

मतवाद, तथा धर्म्म में क्या अन्तर है ?, किस प्रकार से आज छल
मतवाद ही 'धर्म्म' बने हुए हैं !, मतवादात्मक इन अवैज्ञानिक धर्मों ने
प्रकार आज भारतराष्ट्र सभी क्षेत्रों में सर्वथा निष्फल प्रमाणित हो रहा है !,
प्रकार एक ओर अपने आपको धर्म्मधुरीण मानने वाला वर्ग इस धर्म्मभावु
से राष्ट्र की धर्म्मभीरु भावुक प्रजा को निर्लज्ज बनाता जा रहा है ? एवं किस
दूसरी ओर अपने आपको नीतिधुरीण अनुभूतकरने वाला वर्ग राष्ट्रीयता के व्याम
माध्यम से राष्ट्रभक्त धर्मनिरपेक्ष उच्छृंखल प्रजा को और भी अ
उच्छृंखल बनाता जा रहा है ?, आदि आदि प्रश्नपरम्पराएँ पुन पुन प्रत्येक
प्रज्ञाशील मानव का ध्यान इस गम्भीर प्रश्न की ओर ही आवर्तित कर रहीं हैं

क्या हम मानव हैं ?

अभिनिविष्ट है आज का धर्म्मभावुक मानव, एवं आक्रोशपूर्वक-दुरभि
निविष्ट है आज का (नैतिक-बल समर्थक) धर्म्मनिरपेक्ष मानव (कामेमेन)। धर्
न तो धर्म्म के साथ ही अभिनिवेश का कोई सम्बन्ध, एवं न नीति ही अभिनि
को लक्ष्य बनाती। अपितु अभिनिवेश तो आश्रय बनाता है अधर्म्म, और अन
को। धर्म्ममूला नीति जहाँ अभिनिवेश को सर्वथा उपशान्त कर देती है,
अधर्म्ममूला अनीति अभिनिवेश का उत्तरोत्तर समुत्तेजित हो करती रहती है। वि
सत्ता के कुनिष्ठापूर्ण कुचक्र से भारतीय भावुक-प्रजा ने जब से धर्म्म, और नीति
पार्थक्य किया है, तभी से इसके पतन, एवं दुर्दिन का श्रीगणेश हो पड़ा है । इ
है-साम्राज्ञी विक्टोरिया ने जब यह घोषणा की कि-"हम भारतवर्ष के धर्म्म
कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। क्योंकि धर्म्म का शासननीति से कोई सम्ब
नहीं है" तो यहाँ की भावुक प्रजा आनन्दविभोर हो पड़ी। और

-कोटि कण्ठों के कलरवने कृतज्ञता अभिव्यक्त कर डाली अपनी इस धर्मप्रिया !
ाज्ञी के प्रति ।

इसी घोषणा के बल पर भारतराष्ट्र की भावुक प्रजा का, विशेषत: भावुक धर्म-
-प्रजा के कर्णधार अनन्य राजभक्त सम्प्रदायाचार्यों का, एवं तदुच्छिष्टभोगी भार-
-सनातनधर्मावलम्बी विद्वानों का यह आराध्य मन्त्र बन गया कि-"नीति-किंवा
नीति से हमारे धर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं है"। प्रत्येक धार्मिक सभा में
लपाठ की भाँति सर्वप्रथम राजभक्ति (प्रतीच्य-शासनभक्ति) का यशोगान-
गान, तदनन्तर 'हमारी सभा का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है'
मन्त्र का सस्वर उद्घोष, एवं तदनन्तर विविध प्रस्ताव-अनुमोदन-समर्थनात्मक
विजृम्भणमात्र, सर्वान्ते च 'बोल सनातनधर्म्म की जय' के तुमुलनाद से सभा
समाप्ति के माध्यम से धर्म्म का प्रचार प्रक्रान्त रहा, जिस प्रक्रान्ति का वर्त्तमानयुग
'धर्म्म की जय हो, अधर्म्म का नाश हो' इस नारे से अधिक कोई महत्त्व
ीं था।

शास्त्ररहस्यवेत्ता हमारे आचार्यों को, धर्म्मधुरीण मान्य विद्वानों को सम्भवत.
रताव‌श ? ही जानते हुए भी यह भुला देना पड़ा होगा कि, राजनीतिरूप शासन-
ड का सञ्चालक सत्तातन्त्र यहाँ तत्त्वत -मूलत धर्म्म का ही संरक्षक माना
ा है। यदि शासक अपनी शासननीति में धर्म की उपेक्षा कर देता है, तो सुप्रसिद्ध
न' सम्राट् की भाँति उसे शवशरीर में ही परिणत कर दिया जाता है यहाँ की राष्ट्रप्रजा
द्वारा। एकमात्र धर्म्मरक्षा के लिए ही नीतिकुशल शासक को * सुमहत्तेजोमय
ड जागरूक बनाए रखना पड़ता है । स्वयम्भू, विवस्वान्, इक्ष्वाकु,
त्यधर्म्मनिष्ठ राजर्षि हरिश्चन्द्र, भक्तप्रवर अम्बरीष, धर्म्म के साकाररूप
हाराज शिवि, आदि के धर्म्मानुगत नैतिक शासनकाल सुप्रसिद्ध हैं ।

---

* दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्द्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्म्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥
—मनु ७।२८।

सर्वोपरि धर्म्मग्लानिमात्र के उपशम के लिए, तथा ५
मोहान्ध तत्कालीन मारीच-सुबाहु-रावण-कुम्भकरणादि-प्रमुख
निरपेक्ष राक्षसादि के सर्वनाश के लिए 'मनुज' अवतार धारण
वाले हिरण्यगर्भ-विराट्प्रजापतिरीश्वर की सगुणमूर्त्ति भगवान् राम
जिनका कि प्रजानुरञ्जन कवियों की भाषा में इसप्रकार उपवर्णित है
"मैं अपनी प्रजा की सुख-शान्ति-समृद्धि के लिए आवश्यकता
पड़ने पर अपने स्नेही मित्रों के स्नेह का परित्याग कर सक
मानवधर्म्मोचिता दया को जलाञ्जलि समर्पित कर सकता
सम्पूर्ण वैय्यक्तिक सुख-सुविधाओं का विसर्जन कर सकता
और प्रजानुरञ्जन के लिए यदि मुझे अपनी अर्द्धाङ्गिनी
छोड देने का अवसर आजाय, तो वैसा कर देने में भी
यत्किञ्चित् भी पीडा न होगी"*—पुन ऐसे धर्म्म और
मर्यादा राम के-(जिन के नाममात्र के उद्घोष से हम अपने
निरपेक्ष केवल नीतिपथ के द्वारा आज 'रामराज्य' के स्वप्नों क
यहा की धर्म्मभीरु प्रजा की वञ्चनामात्र करते जा रहे हैं, जिस
साम्प्रदायिक रामराज्यवादियों' के वञ्चनापथ से और कोई अधिक
नहीं है) और ऐसे जनमनमानस राम के धर्म्मप्रधान-मर्य्यादा-समन्वित
शासन में भी सम्भवत यहाँ की प्रजा अपरिचित न होगी। सुप्रसिद्ध भ
सम्राट् अश्वपति कैकेयराज का शासनकाल भी इसी धर्म्मनिष्ठा के
प्रसिद्ध है, जिन के कि धर्म्मानुगत नैतिक राज्य का स्वयं वेदशा
यों यशोगान हुआ है कि—

---

*—स्नेहं-दयाञ्च-सौख्यं च यदि-वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकाना त्यजतो नास्ति मे व्यथा ॥

—उत्तररामचरित्र

"न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यः, न मद्यपः, नानाहिताग्निः, नाविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः" (छान्दोग्य उप० ५। ११। ५)।

अर्थात्–"मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई अर्थलिप्सु नहीं है कोई सुरापी (शराबी) नहीं है, कोई अयज्ञिय ब्राह्मण नहीं है, कोई मूर्ख नहीं है। न कोई व्यभिचारी ही है, फिर व्यभिचारिणी की तो कल्पना ही कैसे की जासकती है"। क्योंकि जिस राष्ट्र का पुरुषसमाज धर्म्मच्युत बन कर स्वैराचारपरायण बन जाता है, उसी राष्ट्र का नारीवर्ग असत्पथानुगामी बनता है। 'नर एव अपराध्यति, न तु नारी' यही सिद्धान्तपक्ष है। मूलतः दोष नर का ही है, नारी का नहीं। अतएव अदण्ड्या ही मानी गई है, अनपराधिनी ही उद्घोषित हुई है यहाँ नारी। महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म्म प्रकरण में (७७ वें अध्याय में) इसी उक्त श्रौत यशोगान का महात्मा भीष्म ने विस्तार से उपवर्णन किया है युधिष्ठिर के प्रति। कवन्ध अथर्वा नामक राक्षसराज अश्वपति के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं धर्म्मपरीक्षार्थ। एवं इस परीक्षा से सन्तुष्ट राक्षसराज अश्वपति की धर्म्मनिष्ठा से तुष्ट-तृप्त हो कर कहने लगते हैं कि—

यस्मात्सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय! गृहं, स्वस्ति! व्रजाम्यहम् ॥१॥
येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्याश्च कैकय!।
न रक्षेभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु पावकात् ॥२॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥३॥
—म० शा० रा० ७७ अ०।

[अर्थात्–हे केक्यराज! क्योंकि आप सदा सभी अवस्थाओं–सभी शासननीतियों में–'धर्म्म' को ही आधार बनाए रहते हैं, अतएव आप सकुशल–सानन्द, स्वस्थान में पधारिये! हे राजन्! आपका सदा मङ्गल

स्वस्ति) हो ! मैं भी आप की इस धर्मनिष्ठा से तुष्ट-तृप्त बन कर जा रहा हूँ । इत्यादि]

आत्मानुगत सत्य ही धर्म्म है, शरीरानुगत सत्य ही नीति है। शरीरानुगत सत्य का सत्यत्व क्योंकि आत्मसत्य पर ही अवलम्बित है । अतएव धर्मरूप आत्मसत्य को 'सत्यस्य सत्यम्' माना है श्रुति ने । इस 'सत्यस्य सत्य' रूप आत्मधर्म से नियन्त्रित रह कर ही शरीरसत्यरूपा नीति (लोकजीवन) धर्ममर्य्यादा में प्रतिष्ठित रहती है । अतएव यों परम्परया नीति भी धर्म का ही व्यक्तरूप बनी रहती है । अतएव नीति को भी 'नीतिधर्म्म' रूप से यहाँ की प्रशा ने 'धर्म्म' नाम से ही व्यवहृत कर दिया है । किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि—धर्म्म मूलतः आधार तत्त्व है, नीति इस मूलाधार पर प्रतिष्ठित आधेय तत्त्व है । अतएव दोनों तत्त्वत, पृथक् तत्व हैं । धर्म्मसम्मता नीति ही यहाँ 'नीति' मानी गई है । जो नीति, जो लोकशासन इस धर्म्म को निरपेक्ष बना लेता है, वह शासननीति स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित होती हुई निश्चयेन अनीति बनती हुई अधर्म्मरूप में ही परिणत हो जाया करती है—'तस्माद्धर्म्ममेव परमं वदन्ति' । 'धर्म्मासनमधिष्ठाय सवीताङ्गः समाहित.' (मनुः ८।२३)- इत्यादि के अनुसार धर्म्म ही नीतिकुशल शासक का आसन (प्रतिष्ठास्थान) माना गया है । देश-काल-पात्रादि के तारतम्य से शासननीति में परिवर्त्तन हो सकता है, हुआ करता है । किन्तु तदाधारभूत शाश्वत धर्म्म सर्वथा अपरिवर्त्तनीय तत्त्व है । अतएव यहाँ के नीतिकुशल शासक को यही आदेश मिला है कि—

> एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
> धर्म्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्य्यात् कार्य्यविनिर्णयम् ॥
>
> —मनुः ८।८।

[नैतिक अनुशासन-प्रसङ्गों में जहाँ स्वयं नीतिकुशल शासक (सत्ता) निर्णय करने में असमर्थ बन जाय, उस अवस्था में उसे शाश्वत धर्म्म को आधार बन कर ही निर्णय करना चाहिए] । ___

शासन यदि स्वयं अपने आपको धर्म्मनिर्णय में असमर्थ अनुभूत करता है, तो उस दशा में उसे धर्म्मरहस्यवेत्ता वेदवित् विद्वान् की ही नियुक्ति करनी पड़ती है। कदापि केवल नीति से ऐसे विवादों का निर्णय नहीं हो सकता (८।९।)। जिस लोकसभा, किंवा आज के शब्दों में धारासभा में धर्म्म अधर्म्म से, सत्य मिथ्या से अभिभूत हो जाता है, और इस अभिभूति को तत्र समवेत सभासद तटस्थ बन कर देखा करते हैं, वे सभासद मृततुल्य ही माने गए हैं (८।१४)। तस्मात्—

धर्म्म एव हतो हन्ति, धर्म्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्म्मो न हन्तव्यः-मा नो धर्म्मो हतोऽवधीत् (८।१५)
वृषो हि भगवान् धर्म्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्म्मं न लोपयेत् ॥
—मनु ८।१६।

यह अत्यन्त दुर्भाग्य है इस भारतराष्ट्र का कि, जिन शास्त्रनिष्ठ विद्वानों, आचार्य्यों के सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध तत्त्वात्मक-ज्ञानविज्ञानात्मक जिस धर्म्म की प्रतिष्ठा से राष्ट्रप्रजा जागरूक बनी रहती थी, राष्ट्र का वह ब्रह्मवर्चस्वी ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्रह्मबल पौरुषबलसंरक्षक-प्रवर्त्तक क्षत्रबल के उच्छृङ्खल बन जाने से सर्वथा ही स्वनिष्ठा से पराङ्मुख बन गया। इसकी इस पराङ्मुखता से ही आगे जाकर क्षात्र (पौरुष) बलयुक्त (सत्ताबलात्मक) शासनतन्त्र सर्वथा ही निस्तेज बन गया। और यों * अभिगन्ता पथप्रदर्शक धर्म्मरक्षक ब्रह्म के, तथा कर्त्ता नीतिरक्षक-क्षत्र (शासक) के निस्तेज बन जाने से राष्ट्र का अर्थबल सर्वथा ही अरक्षित-अव्यवस्थित बनता हुआ आततायी गिद्धों का ही भोग्य बन गया। स्वप्रतिष्ठाशून्य राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्र-बलों ने ही सर्वप्रथम आक्रान्ता आततायी-वर्ग के प्रति अपनी सेवाएँ प्रणतभाव से समर्पित कर डालीं, और इसी बिन्दु पर उस जघन्या-सर्वस्वस्वघातिका महाभयावहा उस 'राजभक्ति' का सूत्रपात हो पड़ा, जिसके महान् व्यामोहनपाश से आज के गए

---

* ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः।
—शत०ब्रा० ४।१।४।१।

न्त्रात्मक-प्रजातन्त्र के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र वातावरण में भी राष्ट्र का कोई सा र्म र्ग (विशेषत: ब्रह्मतत्त्वसन्देशवाहक विद्वद्वर्ग तो अवश्य ही) अपने आपको उन्मुक्त नहीं कर सका है।

स्पष्ट है कि, इसकी इस आत्मबुद्धिदासतामूला (विचारपारतन्त्र्यमूला) जघन्या राजभक्ति' को जैसा बल यवन (सिकन्दरादि)-एवं मुसलमान-आदि शासकों के युग में भी न मिला था, वह बल इसे उस नीतिकुशल ब्रिटिशयुग में मानो वरदान ? रूप से सहज में ही प्राप्त हो पड़ा, जिसने तो इसकी संस्कृतिमूला स्वराष्ट्र-धर्मनिष्ठा को सर्वथैव अभिभूत कर लिया। और इस अभिभव का मूलसूत्र बना महारानी विक्टोरिया की वही भावुकताप्रवर्त्तिका उदार ? घोषणा, जिसका-'हम तुम्हारे धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे' इत्यादि रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। विगत-भुक्त-आक्रमण-परम्पराओं के फलस्वरूप धर्म्म के वैदिक स्वरूपबोध से सर्वथैव वञ्चित यहां के धर्मभीरु विद्वानों की, तदनुगामिनी भावुक प्रजा की, एवं तत्समतुलित ही क्षत्रिय शासकों-सामन्तों की, तथा तदुच्छिष्ट-भोगिनी दासानुदासा प्रजा की 'राजभक्ति' में व्यामोहनमूला उक्त घोषणा ने मानो चार चाँद ही लगा दिए।

धर्म्म, और नीति के मर्म्म को शताब्दियों से प्रयासपूर्वक भुलाते रहने में ही अपना महान् पौरुष ? प्रक्रान्त रखने वाली राष्ट्रप्रजा ने एक क्षण के लिए भी उक्त घोषणा के उस स्नायु-मज्जा-वेधक घातक मर्म्म का अनुभव न किया, जिसके द्वारा वे नीतिकुशल इस राष्ट्र की भावुक प्रजा को केवल इसी व्यामोहन में डाल देना चाहते थे कि,-"देखो! आज से (बृटिश-शासन से) पूर्व के युगों में तुम्हारे धर्म्म पर बहुत ही अत्याचार हुए हैं। किन्तु अब तुम्हें यह भय छोड़ देना चाहिए। हम कदापि तुम्हारे धर्म्म पर कोई हस्तक्षेप न करेंगे"।

मानते हैं, और जानते हैं कि, वेदनिष्ठा की विलुप्ति से सम्बन्ध रखने वाले बुद्धयुग से ही भारतराष्ट्र धर्म्मनिष्ठा को, तथा तदाधार पर प्रतिष्ठित नीतिनिष्ठा को उत्तरोत्तर विस्मृत करता हुआ धर्म्मभावुक, तथा नीतिभावुक ही बनता गया। परिणाम-

भोगकाल में इसने धर्म्म के नाम से, किंवा शासन के नाम से जो भी
:, तत्वत वे भावुकतापूर्ण ही आन्दोलन बने रहे इस राष्ट्र के, जिनके
र्म-नीति-निष्ठा का कोई सम्बन्ध न था। इसकी इसी धर्म्मभीरुता,
ावुकता मूला दासता ने इसे वृटिशयुग से पूर्व के युगों में भी पददलित ही
पड़ा। किन्तु अब तो राष्ट्रप्रजा को यह उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना
ा कि, 'सर्वस्व घातक वृटिशयुग के समतुलन में तत्पूर्व के आक्र-
सर्वथा नगण्य ही थे'। क्योंकि उन आक्रमणों का न तो धर्म्म से ही
ध था, न अनीति से ही। अपितु उन आक्रमणों का एकमात्र बीज था
णा-समन्विता लोकैषणा (सम्पत्तिकामभोगानुगता विजयेच्छा")।

: है कि, उक्त आक्रमण प्रधानरूप से केवल राष्ट्रीय शरीर पर, एव
ंश पर्य्यन्त अधिक से अधिक मन पर आकर ही समाप्त होगए। फल-
उन युगों में राष्ट्रीय आत्मा तथा बुद्धि अपने आशिकरूप से बचे रह
ही कारण था कि, उन केवल मन-शरीर दासताप्रवर्तक पूर्वयुगाक्रम-
शासनवालों में मन और शरीर से परतन्त्र बना रहता हुआ भी राष्ट्र
तक बुद्धितन्त्र से स्वतन्त्र ही बना रहा। यही कारण है कि, बृटिशयुग से
: युगों में राष्ट्र में यत्र तत्र वैसी प्रचण्ड प्रतिमाएँ जागरूक बनतीं रहीं,
र्म्मनिष्ठ दिव्य प्रतिभाओं की समर्थ रामदास स्वामी, सन्त तुकाराम,
कौण्डदेव, छत्रपति शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप, राठौर-
र्गादास, राव चूँडावत, घोधाबाबा, बाणारली भीम, इत्यादि पवित्र
ाओं का सस्मरण कर करके आज भी भारतीय प्रजा अपने अन्तर्जगत् में
रूप से धर्म्मनिष्ठा के बीज अक्षुण्ण बनाये हुए है। एव जिनकी जागरूकता
ुमह से ही इस राष्ट्र की मूलनिष्ठाएँ अद्यावधि भी अक्षुण्ण ही बनीं
' है। और जैसा कि, इस राष्ट्र की संस्कृति के वाडवाग्नि का यह चिरन्तन
रेक इतिहास रहा है कि, "यह कालान्तर में विरोधी तत्वों का निग-
र उन्हें स्वस्वरूप में ही अन्तर्भूत कर लिया करती है" के
ा-नियमानुसार किरात-हूण-पुल्कस-खस-दरद-शक-यवन-आदि-
सभी आक्रान्ता कालान्तर में इसी राष्ट्रीय-संस्कृति की शक्तिच्छाया में

मोगकाल में इसने धर्म्म के नाम से, किंवा शासन के नाम से जो भी
:, तत्त्वतः वे भावुकतापूर्ण ही आन्दोलन बने रहे इस राष्ट्र के, जिनके
र्म-नीति-निष्ठा का कोई सम्बन्ध न था। इसकी इसी धर्म्मभीरुता,
ावुकता मूला दासता ने इसे बृटिशयुग से पूर्व के युगों में भी पददलित ही
पड़ा। किन्तु अब तो राष्ट्रप्रजा को यह उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना
ा कि, 'सर्वस्व घातक बृटिशयुग के समतुलन में तत्पूर्व के आक्र-
सर्वथा नगण्य ही थे'। क्योंकि उन आक्रमणों का न तो धर्म्म से ही
ध था, न अनीति से ही। अपितु उन आक्रमणों का एकमात्र बीज था
णा-समन्विता लोकैषणा (सम्पत्तिकामभोगानुगता विजयेच्छा")।

है कि, उक्त आक्रमण प्रधानरूप से केवल राष्ट्रीय शरीर पर, एवं
श पर्य्यन्त अधिक से अधिक मन पर आकर ही समाप्त होगए। फल-
उन युगों में राष्ट्रीय आत्मा, तथा बुद्धि अपने आंशिकरूप से बचे रह
ी कारण था कि, उन केवल मनः-शरीर दासताप्रवर्त्तक पूर्वयुगाक्रम-
शासनकालों में मन और शरीर से परतन्त्र बना रहता हुआ भी राष्ट्र
त्म बुद्धितन्त्र से स्वतन्त्र ही बना रहा। यही कारण है कि, ब्रिटिशयुग से
युगों में राष्ट्र में यत्र तत्र वैसी प्रचण्ड प्रतिमाएँ जागरूक बनतीं रहीं,
र्मनिष्ठ दिव्य प्रतिमाओं की समर्थ रामदास स्वामी, सन्त तुकाराम,
कोण्डदेव, छत्रपति शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप, राठौर-
ादास, राव चूँडावत, घोघाबावा, बाणावली भीम, इत्यादि पवित्र
ओं का सस्मरण कर करके आज भी भारतीय प्रजा अपने अन्तर्जगत् में
रूप से धर्म्मनिष्ठा के बीज अक्षुण्ण बनाये हुए है। एवं जिनकी जागरूकता
ग्रह से ही इस राष्ट्र की मूलनिष्ठाएँ अद्यावधि भी अक्षुण्ण हीं बनीं
हैं। और जैसा कि, इस राष्ट्र की संस्कृति के जाठराग्नि का यह चिरन्तन
ेक इतिहास रहा है कि, "यह कालान्तर में विरोधी तत्त्वों का निग-
र उन्हें स्वस्वरूप में हीं अन्तर्भूत कर लिया करती है" के
-नियमानुसार किरात-हूण-पुल्कस-खस-दरद-शक-यवन-आदि-
सभी आक्रान्ता कालान्तर में इसी राष्ट्रीय-संस्कृति की शीतलछाया से

अपने क्षोभ को उपशान्त करते हुए यहीं के राष्ट्रमानव बन गए। औ सुनिश्चित था कि, राष्ट्रसौभाग्य से यदि अर्द्धशताब्दि-पर्यन्त भी इ सम्मान्य अतिथि यहाँ आतिथ्य-ग्रहण-करने का प्रलोभन न करते, तो का, इस अखण्ड भारतराष्ट्र का इतिहास कुछ दूसरा ही लिखा जा प्यालम्। व्यर्थ है अब अतीत की इस भावुकतापूर्णा चर्वणा में कालयापन अब तो 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' ही एकमात्र शरणीकरणीय मानवों के लिए।

धर्मरक्षा के प्रलोभन-व्याज से बृटिशसत्ता के द्वारा राष्ट्र को बुद्धिदासता महावरदानरूप में उपलब्ध हुई थी, जिस वरदान को लॉर्डमेकॉले महोदय ने संस्कृति के मूलप्राणप्रतिष्ठारूप वाराणसी क्षेत्र में जिस प्रतीच्य-शिक्षायन्त्र की प्रतिष्ठा से सुप्रतिष्ठित कर हमारी भावुकता सर्वविनाशात्मक अट्टहास ही अभिव्यक्त किया था-अपने एक प अपने एक केतुमालवर्षीय * (इङ्लैण्डदेशस्थ) अन्तरङ्ग मित्र के प्रति कि-"मित्र ! आज मैंने भारतराष्ट्र के वक्षस्थल पर जिस शिक्ष शिलान्यास कर दिया है, उस यन्त्र से यन्त्रित ये भारतीय आत्म मन-से सर्वात्मना अभारतीय ही बन जायँगे निकटभविष्य केवल शरीर ही शरीर इनका भारतीय रह जायगा। जिसे शरीरों के लिए योग्य भी नहीं मानते"। यही है उस धर्मरक्षा मार्मिक इतिहास, जिससे सर्वप्रथम प्रभावित हुए ये इस राष्ट्र के जो धर्म के द्वारा नीति के संरक्षक कहलाते आए हैं। और यही है बुद्धिदासतामूला 'राजभक्ति' का वह जघन्य दुर्वृत्त, जिसके अनुग्रह राष्ट्र की मूलसंस्कृति, नैष्ठिकधर्म, एवं धर्मानुगता नीति, परसंस्कृति-भावुकधर्म, एवं धर्मनिरपेक्षा अनीतिलक्षणा-नीति परिणत होते हुए हमें 'स्वतन्त्रता' शब्द के वास्तविक बोध से इस

---

* 'वर्षभुवनकोश' के पारिभाषिक शब्दानुसार इग्लैण्डप्रा भारतीय मापदण्ड के अनुपात से 'केतुमालवर्ष' ही कहलाया है

में भी पराङ्मुख बनाए हुए हैं। इसी 'राजभक्ति', उपनाम 'आत्मबुद्धि-' से हम महासूत्र का आविर्भाव कर डाला है कि-'को उ हो नृप-इमे नि'। ऐसे मावुकतापूर्ण आविष्कार को लक्ष्य बना कर ही तो नीतिनिपुण सता ने उक्त घोषणा के उद्घोष का साहस कर डाला था।

दित्य-नीति और धर्म्म के इस दुर्भाग्यपूर्ण पार्थक्य ने हीं आज हमारे व स्वतन्त्र राष्ट्र के द्वारा भी मानो उसी ब्रिटिश घोषणा का यह रूपान्तर इ महान् आदर्श ? ही इस राष्ट्र की राजभक्त-'प्रजा' के सम्मुख उद्घोषित वो पडा लॉर्डमेकॉले महोदय के तथोपवर्णित महावरदान को और भी दृढमूल बनाने के लिए कि-"भारत का यह संविधान-अर्थात् तन्त्र-शासनतन्त्र-सर्वथा धर्म्मनिरपेक्ष है"। यत्किञ्चित् भी तो नही है ब्रिटिश युग की उक्त घोषणा में, तथा वर्त्तमान संविधान की घोषणा में, जिन एवंविध धर्म्मनिरपेक्ष घोषणाओं का 'स्वतन्त्रभारत' से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। ऐसी घोषणाओं का तो 'परतन्त्र' भारतवर्ष सम्बन्ध माना जायगा। कदापि स्वप्न में भी "सार्वभौम-प्रभुसत्तासमर्थ-न्त्रिस्यतन्त्र-गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र" जैसी लोकोत्तरा विशिष्ट-अभिधा से पित स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के संविधान के साथ 'धर्म्मनिरपेक्षिता' का कोई मन्वय प्रतीत नहीं हो रहा। निरतिशयरूपेण अश्रुपूर्णाकुलेक्षण हीं बन रहीं आज की तटस्थ राष्ट्रीयप्रज्ञाएँ भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धिदासतामूला इस ग्रान-घोषणा के श्रवण-कीर्त्तन से ?।

और राष्ट्र के ये संस्कृतिनिष्ठ विद्वान् ? क्या कर रहे होंगे ?, क्या कर रहे हैं उक्त घोषणा के सम्बन्ध में ?, क्या अर्थ समझा हैं इस घोषणा का अपने सांस्कृतिक-साहित्यिक-सन्देशों से ?। प्रश्न का स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतम है। जिनके शरीर-मन-बुद्धि, एवं कर्म्मभोक्ता सरका-त भोक्तात्मा (देही जीवात्मा) नामक तन्त्रों में परःशताब्दियों से पूर्वकथनानुसार मनुद्धिदासतामूला, अतएव केवल वित्तैषणागर्भिता लोकैषणात्मिका जो भक्ति' अन्तर्य्यामसम्बन्ध से बद्धमूला प्रमाणित हो चुकी है, वे उक्त प्रश्नों कैसा, और क्या समन्वय करेंगे ?, यह तो आज के इस आपद्धर्म्मयुगात्मक

धर्मग्लानियुग में प्रज्ञाशीलों को मुकुलितनयनवृत्ति से स्वयं अपने ही पूँछना चाहिए।

आज तो अन्तर्यामी भी यही समाधान करेंगे जिसका-'यथाज्ञापयति' से सम्बन्ध है, एवं जिस इस वाक्य के हमारे प्रान्त के तत्तद्विशेष नगरों, पुरों में आत्मबुद्धिमन.शरीरदासतासूचक-'खमा घणी'-'अन्नदाता'-'जी' 'मोटो हुकुम',-तथा-अन्यत्र-'जी सरकार'-'यस्-सर'—इत्यादि प्रचलित हैं। यही तो तत्व है उस 'राजभक्ति' का, जो यहाँ की भावुक विशेषतः सस्कृतिनिष्ठ ! विद्वानों का मूलमन्त्र रहा है। तभी तो गोमाता में तल्लीन यहाँ के विद्वानों ने हीं सम्भवतः अनन्य गौरक्षक ! ब्रिटिश प्रति अपनी राजभक्ति के प्रसून समर्पित किए थे तत्-शासनयुग में। वही धर्मराज्य ! था इनकी दृष्टि में !। उस युग में विशुद्ध 'एकेश्वरवाद' को आगेकर 'राजा' को ये 'ईश्वर' का ही प्रतिनिधि मानते हुए राष्ट्रीय को राजभक्ति के विरुद्ध प्रमाणित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव करते थे।

इस सहजसिद्धा राजभक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आज भी इस भक्तिप्रदर्शन के द्वारा सत्ता का अनुग्रह प्राप्त करने के अतिरिक्त भी क्या की जा सकती है इन सस्कृतिरक्षक ! लेखक-प्रचारक-अभिनव वि जो विद्वान राष्ट्रीय विद्वान्, राष्ट्रकवि, आदि सम्मानित उपाधियों से हैं। कल के 'राजा' भक्त आज वे ही तो 'प्रजा' भक्त, एवं राजाविरोध हो रहे हैं अपनी सद्य प्रसूता अभिनव वेशभूषा के प्रदर्शन से, अपनी लेखिनी से, एवं क्रान्तिकारिणी कविताओं से ! विशुद्ध ! राजभक्त (गण प्रजातन्त्रभक्त) वर्त्तमानकालश इत्थभूत अभिनव विद्वानों, तथा कवियों ही करते रहना चाहिए उन तटस्थ आस्थाश्रद्धाशील तटस्थ जिनकी उपासना का सदा से वह 'पुराणी प्रज्ञा' ही मूलके जिसके आधार पर इस राष्ट्र की मूलप्रकृति प्रतिष्ठित मानी गई है लोकनीतितन्त्र में 'गतानुगतिको लोकः-न [illegible]

। भी लोकसम्प्रद्दष्टि से अवसरविशेषों में समादर ही किया है यहाँ की चिरन्तना राणीप्रज्ञा ने भी। किन्तु······ ?

किन्तु मूलसम्कृति के व्याज मे, तदभिन्न धर्म्मव्याज से जब यह गतानुतिकता र्णाकर्णिपरम्परया श्रुतोपश्रुत हो पड़ती है, तो सहसा सर्वस्वघातक किन्तु ?' परन्तु ?, । उद्गम हो ही तो पड़ता है। आजतक जिस वेदपुराणशास्त्र के माध्यम से नतुराअनात्मक राजतन्त्र के समर्थक वचनों का उद्घोष कर रहे थे यहाँ के विद्वान्, ही उसी शास्त्र के माध्यम से आज उन वचनों के न केवल अन्वेषण के लिए ो आतुर हैं, अपितु ढूँढ निकाले हैं वैसे वचन ! भी, जिनसे वे ही कल के ाजभक्त, किन्तु आज के गणतन्त्रभक्त भारतीय शास्त्र के माध्यम से तो गणतन्त्र' का उद्घोष समर्थन करने लग पड़े हैं, एवं गणतन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षा-ासननीति के समर्थन के लिए शास्त्रो में पठित 'धर्म्म' शब्द का अपनी लोकप्रज्ञा के बल पर 'नीति' परक अर्थ उद्घोषित करने लग गए हैं। कतिपय शताब्दियों से इस देश के विद्वानों की प्रज्ञा निष्ठापथ से च्युत होती हुई शासन से प्रभावित होकर अपनी गतानुगतिकता का ही परिचय देती आ रही है। इसीलिए तो भारतीय धर्म्म, और नीति का मौलिक स्वरूप आज आवृत हो रहा है।

सत्ता का समादर एक पक्ष है, एवं तथ्य का विश्लेषण अन्य पक्ष है। वर्त्तमान सत्तातन्त्र अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष घोषित कर रहा है आज। एतावता ही हम अपने मूलसत्य को सत्तातन्त्र के तात्कालिक अनुरञ्जनमात्र के लिए अन्यथा समन्वित करने लग पड़ें, यह कदापि न तो धर्म्मसम्मत पक्ष ही है, नापि नीति-सम्मत पक्ष ही। यह ठीक है कि-धर्म्म को आधार बनाने वाली नीति धर्म्म की सीमा से बहिर्भूत नहीं है। अतएव नीति को भी धर्म्म कहा जा सकता है, कहा गया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि-'नीतिप्रधान जीवन को ही प्राचीन परिभाषा में 'धर्म्म' कहा जाता था'। धर्म्म का अपना स्वतन्त्र स्थान है, नीति का स्वतन्त्र स्थान। जब जब भी यहाँ के शासक ने अपनी नीति में से धर्म्म को पृथक् कर दिया है, तब तब ही उसकी नीति यहाँ अनीति-अधर्म्म बन गई है। वर्त्तमान सत्तातन्त्र धर्म्म के मौलिक स्वरूप से वञ्चित है, इसमें सत्तातन्त्र का

धर्म्मग्लानियुग में प्रज्ञाशीलों को मुकुलितनयनवृत्ति से स्वय अपने ही पूँछना चाहिए।

आज तो अन्तर्य्यामी भी यही समाधान करेंगे जिसका-'यथाज्ञापयति' से सम्बन्ध है, एवं जिस इस वाक्य के हमारे प्रान्त के तत्तद्विशेष नगरों में युगों में आत्मबुद्धिमन.शरीरदासतासूचक-'खमा घणी'-'अन्नदाता'-'जी 'मोटो हुकुम',-तथा-अन्यत्र-'जी सरकार'-'यस् सर'-इत्यादि प्रचलित हैं। यही तो तत्त्व है उस 'राजभक्ति' का, जो यहाँ की भावुक! विशेषतः संस्कृतिनिष्ठ ? विद्वानों का मूलमन्त्र रहा है। तभी तो गौमाता में तल्लीन यहाँ के विद्वानो नें ही सम्भवतः अनन्य गौरक्षक ? ब्रिटिश प्रति अपनी राजभक्ति के प्रसून समर्पित किए थे तत्-शासनयुग में। वही धर्म्मराज्य ? था इनकी दृष्टि में ?। उस युग में विशुद्ध 'एकेश्वरवाद' को आगेकर 'राजा' को ये 'ईश्वर' का ही प्रतिनिधि मानते हुए राष्ट्रीय क को राजभक्ति के विरुद्ध प्रमाणित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जाका अ करते थे।

इस सहजसिद्धा राजभक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आज भी इस भक्तिप्रदर्शन के द्वारा सत्ता का अनुग्रह प्राप्त करने के अतिरिक्त ? भी क्या की जा सकती है इन सस्कृतिरक्षक ? लेखक-प्रचारक-अभिनव वि जो विद्वान राष्ट्रीय विद्वान्, राष्ट्रकवि, आदि सम्मानित उपाधियों से हैं। कल के 'राजा' भक्त आज वे ही तो 'प्रजा' भक्त, एव राजाविरोध हो रहे हैं अपनी सद्य प्रसूता अभिनव वेशभूषा के प्रदर्शन से, अपनी लेखिनी से, एव क्रान्तिकारिणी कविताओं से। विशुद्ध ? राजभक्त (गण प्रजातन्त्रभक्त) वर्त्तमानकालज इत्थंभूत अभिनय विद्वानों, तथा कवियों ही करते रहना चाहिए उन तटस्थ आस्थाश्रद्धाशील सटस्थ प्र जिनकी उपासना का सदा से वह 'पुराणी प्रज्ञा' ही मूलकेन्द्र जिसके आधार पर इस राष्ट्र की मूलसंस्कृति प्रतिष्ठित मानी गई है लोकनीतितन्त्र में 'गतानुगतिको लोकः-न लोकः पारमार्थिकः' ।

। भी लोकप्रज्ञा से अवसरविशेषों में समादर ही किया है यहाँ की चिरन्तना राणीप्रज्ञा ने भी । किन्तु...... ?

किन्तु मूलसंस्कृति के व्याज से, तदभिन्न धर्मव्याज से जब यह गतानुगतिकता एवर्षिपरम्परया श्रुतोपश्रुत हो पड़ती है, तो सहसा सर्वस्वघातक किन्तु ?' परन्तु ?', । उद्गम हो ही तो पड़ता है । आजतक जिस वेदपुराणशास्त्र के माध्यम से नुशासनात्मक राजतन्त्र के समर्थक वचनों का उद्घोष कर रहे थे यहाँ के विद्वान्, ही उसी शास्त्र के माध्यम से आज उन वचनों के न केवल अन्वेषण के लिए आतुर हैं, अपितु ढूँढ निकाले हैं वैसे वचन ! भी, जिनसे वे ही कल के जभक्त, किन्तु आज के गणतन्त्रभक्त भारतीय शास्त्र के माध्यम से तो गणतन्त्र' का उद्घोष-समर्थन करने लग पड़े हैं, एवं गणतन्त्र की धर्मनिरपेक्षा-शासननीति के समर्थन के लिए शास्त्रों में पठित 'धर्म' शब्द का अपनी लोकप्रज्ञा के बल पर 'नीति' परक अर्थ उद्घोषित करने लग गए हैं । कतिपय शताब्दियों से इस देश के विद्वानों की प्रज्ञा निष्ठापथ से च्युत होती हुई शासन से प्रभावित होकर अपनी गतानुगतिकता का ही परिचय देती आ रही है । इसीलिए तो भारतीय धर्म, और नीति का मौलिक स्वरूप आज आवृत हो रहा है ।

सत्ता का समादर एक पक्ष है, एवं तथ्य का विश्लेषण अन्य पक्ष है । वर्त्तमान सत्तातन्त्र अपने आपको धर्मनिरपेक्ष घोषित कर रहा है आज । एतावता ही हम अपने मूलसत्य को सत्तातन्त्र के तात्कालिक अनुरञ्जनमात्र के लिए अन्यथा समन्वित करने लग पड़ें, यह कदापि न तो धर्मसम्मत पक्ष ही है, नापि नीतिसम्मत पक्ष ही । यह ठीक है कि–धर्म को आधार बनाने वाली नीति धर्म की सीमा से बहिर्भूत नहीं है । अतएव नीति को भी धर्म कहा जा सकता है, कहा गया है । इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि–'नीतिप्रधान जीवन को ही प्राचीन परिभाषा में 'धर्म' कहा जाता था' । धर्म का अपना स्वतन्त्र स्थान है, नीति का स्वतन्त्र स्थान । जब जब भी यहाँ के शासक ने अपनी नीति में से धर्म को पृथक् कर दिया है, तब तब ही उसकी नीति यहाँ अनीति-अधर्म बन गई है । वर्तमान सत्तातन्त्र धर्म के मौलिक स्वरूप से वंचित है, इसमें सत्तातन्त्र का

इसलिए कोई अपराध नहीं माना जा सकता कि, धर्मस्वरूपव्याख्याता यहाँ के विद्वानों नें भी स्वय हीं अपने आपको गतानुगतिक-भावापन्ना नीति का अनुगामी बना लिया है। अतएव वर्त्तमान 'गणतन्त्र' के समर्थन के लिए वे कभी शास्त्रों में तदुपोद्बलक वचन ढूँढ निकालने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो कभी नीति के साथ 'प्राचीन परिभाषा' जैसा व्यामोहक वाक्य जोड़ कर गणतन्त्र के वर्त्तमान धर्मनिरपेक्ष नीतिपथ के समर्थन के लिए आतुर हैं। 'न व्याजेन धर्ममाचरेत्' ही इस देश के विद्वानों की चिरन्तन शैली रही है, फिर इस शैली से इन्हें दण्डित होना पड़े, अथवा तो सम्मानित। फिर तो हम उन विद्वानों की आलोचना का क्या अधिकार रखते हैं, जिन्होंनें निकट-अतीत में हीं बृटिशसत्ता के प्रत्येक नीतिपथ को धर्मपथ ही घोषित करते रहने की महती भ्रान्ति की थी। अतएव

क्या 'धर्म' शब्द कोई स्वतन्त्र मौलिक अर्थ नहीं रख रहा ?। 'यतो धर्माणि धारयन्' इस वेदमन्त्र के 'धर्म' शब्द से क्या गणतन्त्रशासन की 'नीति' ही अभिप्रेत है ?। यही अवस्था गणतन्त्र-समर्थक-वचनों की है। महाभारत के 'पारमेष्ठ्यराज्य' का क्या गणतन्त्र अर्थ है ?। सौर-इन्द्रराज्य से सम्बन्ध रखने वाले राजसूययज्ञात्मक लौकिक मूर्त्त-व्यक्त-भौतिक विश्वराज्य के, तथा सूर्य्य से ऊर्ध्व अवस्थित पारमेष्ठ्य बृहस्पतिराज्य से सम्बन्ध रखने वाले वाजपेययज्ञात्मक अलौकिक-अमूर्त्त अव्यक्त विश्वेश्वरराज्य के समतुलन से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तिमूलक, अतएव पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्मानुगत अव्ययात्म-राज्य के समर्थन में हीं तत्प्रकरण में—'गृहे गृहे हि राजान' वाक्य समाविष्ट हुआ है। और यही पारमेष्ठ्य राज्य है, आत्मराज्य है, जिसके लिए 'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' घोषणा हुई है। अस्तु विषयान्तर है यह, जिसका अन्यत्र स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

निवेदन यही करना है कि,—कदापि ऐसे परसापेक्ष प्रयत्नों से मूलसंस्कृति की प्राणप्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। मान लेते हैं शास्त्रों में 'गणराज्यों' * का भी वर्णन

---

* महाभारत-शान्तिपर्व-राजधर्मप्रकरण-१०७ वें अध्याय के गणात्मक वर्णन को यदि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से सर्वश्री जायसवाल महोदय

है। एवं यन्त्रतत्र नीति को भी धर्म्म कहा गया है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी हमें यह तो स्मरण रखना ही होगा कि, वर्त्तमान भारत का संविधान जिस गणतन्त्र की घोषणा कर रहा है, एवं जिस नीति को धर्म्मनिरपेक्ष बतला रहा है,

---

की मान्यता के अनुसार 'गणतन्त्र' परक मान भी लिया जाय, तब भी वर्गभेदभिन्न-धर्म्मनिरपेक्ष-वर्त्तमान गणतन्त्रात्मक-प्रजातन्त्र का तो उस प्रकरण से भी समर्थन सम्भव नहीं है, जिसका आरम्भ ही चातुर्वर्ण्य, तथा धर्म्म से हुआ है। देखिए !

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप !
धर्म्मवृत्तं च वित्तं च वृत्युपायाः फलानि च ॥
गणानां वृत्तमिच्छामि श्रोतुं मतिमतांवर !

धर्म्मशील युधिष्ठिर के उक्त प्रश्न करने पर धर्म्म के सूक्ष्म रहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म ने जो समाधान किए हैं, उनमें विस्तार से गणों की जीवनपद्धति का स्वरूप विश्लेषण हुआ है, जिससे सम्बन्ध रखने वाले निम्न लिखित कतिपय वचनों को विस्मृत कर कदापि इनके आधार पर धर्म्मनिरपेक्ष-गणतन्त्र को समर्थन नहीं दिलाया जा सकता।

तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ।
धर्म्मिष्ठान्-व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ।
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः-'शास्त्र' पारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु सम्मूढान् गणाः सन्तारयन्ति ते ॥
—इत्यादि ।

स्पष्ट ही उक्त वचन मान्यतानुगत गणतन्त्र की मूलाधारभूता धर्म्मनिष्ठा, एवं तत्पोषिका शास्त्रनिष्ठा का ही समर्थन कर रहे हैं।

वह उसका अपना कौशल ही माना जा सकता है। वह अच्छा है ?, या बुरा यह तो हम नहीं जानते। किन्तु यह स्पष्टतम है कि वेद-पुराण-महाभ मनुस्मृत्यादि में जिन राज्यतन्त्रों का विश्लेषण हुआ है, जिन धर्ममूला नै का उपबृंहण हुआ है, उनके साथ तो वर्त्तमान गणतन्त्र का, एवं धर्मनिरपेक्षा नीति का स्वप्न में भी यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। केव नामसाम्य से समतुलन करने का ही यह दुष्परिणाम हुआ है कि, उसी एक निगमागमपुराणस्मृतिशास्त्र को आधार बना बना कर भारत में वैसे अने मतवाद आविर्भूत हो पडे हैं, जिनसे मूलसंस्कृति का स्वरूप उत्तरोत्तर अभिभूत होता गया है।

क्या अतीत भारत में गणतन्त्र व्यवस्था कभी नहीं रही ? क्या आरम्भ अन्त तक यहाँ एकेश्वरवादमूलक 'राजतन्त्र' की ही प्रधानता रही ?, इत्यादि प्रश्नों की मीमांसा हमें इस राष्ट्र की मूलपद्धतियों के आधार पर ही करनी चाहि जिनका न तो वर्त्तमान युगों के राजतन्त्रों से ही कोई सम्बन्ध है। एवं न गणत किंवा प्रजातन्त्र से ही कोई सम्बन्ध। Democracy (डेमोक्रेसी-'अथ प्रजातन्त्र') नामकी जिस पद्धति का आज राष्ट्रसत्ता अपने संविधान में उद् कर रही है क्या उसका भारतीय नीतितन्त्र से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध है ?। क नहीं। यह तो ब्रिटिशराज्य के प्राणवान् नैष्ठिक प्रजातन्त्रवादी कतिपय महामागों लोकप्रज्ञा से समुद्भूता संसदीया-प्रजातन्त्र प्रणाली * का अनुकरणमात्र

---

* प्रकृतिमात्रवादी प्रतीच्य देशों में आविर्भूत हो पड़ने वाली 'प्रजातन्त्रप के सम्बन्ध में ऐसा सुना गया है तद्विज भारतीय विद्वानों के द्वारा कि—यू (ग्रीस) के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् Socrates (साक्रेटीज-सुकर के प्रधान शिष्य Aristotle (एरिस्टाटिल अरस्तु) की मनोमयी काल्प विचारधारा ने ही इसप्रकार के 'जनता'-मूलक भौतिक-प्राकृतिक 'प्रजातन्त्र मौलिक आधारों को सर्वप्रथम जन्म दिया। आपके अतिरिक्त हॉलैण्डनि सुप्रसिद्ध डच—विद्वान् सर्वश्री Hwgogrettius (ह्यूग्रोटियस) प्रजातन्त्र के मौलिक आधारों के प्रधान प्रवर्त्तक माने जा रहे हैं की मान्यताओं में। आगे चल कर इग्लैण्ड निवासी श्री John Lo

करण', और 'अनुसरण' में भी अहोरात्र का अन्तर है । देश-काल-पात्र-परीक्षणादि का कोई विचारसमन्वय न करते हुए श्रुतोपश्रुता शब्दावली स्यार्थ-बोध से सर्वथा तटस्थ बने रहते हुए केवल एक अबोध बालकवत् मात्र से किसी तथ्यपूर्ण शैली का 'टेपरेकार्ड' वत् अभिनय करने लग पड़ना 'अनुकरण' कहलाया है, वहाँ तत्-शैली का सर्वाङ्गीण आम्य तर-बाह्यरूप त्मना अनुगमन करना 'अनुसरण' है । यहाँ की प्रजातन्त्रपद्धति में जिस र अपने अभीष्ट इष्टदेव का स्मरण कर शक्तिपरीक्षण-योग्यता के अनुपात से सुगुप्त-व्यवस्थित निर्वाचन होते हैं, वहाँ का अनुकरणमात्र ही हो रहा है भारत के प्रजातन्त्रात्मक निर्वाचन क्षेत्रों में, जिसे कदापि 'अनुसरण' भी तो कहा जा सकता । पहिले तो इत्थम्भूता गणतन्त्रात्मिका प्रजातन्त्रपद्धति ही मार्गानुगता, उसका भी अनुसरण नहीं, अपितु अनुकरणमात्र । और इस परा-रण का समर्थन ढूँढ़ने लगें हम भारतीय शास्त्रों में, इससे बड़ा हमारे शास्त्र , हमारी नैतिकता का, एवं हमारी संस्कृति-आदर्श सभ्यताओं का और क्या हास होगा ? ।

Republic (रिपब्लिक) का अर्थ है-गणतन्त्र, तथा Democracy डेमोक्रेटी) का अर्थ है-प्रजातन्त्र । स्पष्ट है कि अक्षरमात्र भारतवर्ष के हैं, किन्तु

जान लोक) नामक विद्वान् के सुप्रसिद्ध On Civil Govinment ओन सिविल गवर्न्मेन्ट) नामक ग्रन्थ में, यहीं के श्री John Stuart Mill (जोन स्टुअर्टमिल) नामक विद्वान् के On Liberty (ओन बर्टी) नामक ग्रन्थ में, फ्रान्स-निवासी सर्वश्री Jean Jaqes Rousseau जीन जेक्स रूसो) नामक विद्वान् के The Social Contract (दी सोशल कन्टेक्ट) नामक ग्रन्थ में, एवं अमेरिका-निवासी माननीय श्री Thomas Paine (टोमस पेन) नामक तत्वज्ञ विद्वान् के The Rights of Man (दी रायट्स आफ मेन-अर्थात् 'मानव के अधिकार') नामक ग्रन्थ में विभिन्न दृष्टियों से इस प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र की, किंवा जनतन्त्रीय प्रजातन्त्र की व्याख्याएँ हुई, जो तन्त्र यहाँ Democratic Repoblic (डेमोक्रेट रिपब्लिक, अर्थात् 'प्रजातन्त्रीय गणतन्त्र' नाम से प्रसिद्ध है ।

अर्थ Democratic republic 'डिमोक्रेटरिपब्लिक' ही है, जिस का भारतीय धर्म', किंवा नीतितन्त्र से स्पर्श भी नहीं है। यद्यपि लिए अमेरिका-फ्रान्स-रूस-एवं चीन इन चारों ही राष्ट्रों में प्रजातन्त्र व्यवस्था मानी जा रही है। किन्तु मूलत चारों ही परस्पर मार्मिक भेद है। इंगलैण्ड में केवल 'प्रजातन्त्र' का ही राज्य है, 'प्रजातन्त्रीय राजतन्त्र' भी कह सकते हैं। साथ ही यहाँ का विधान आचारात्मक है-घोषणात्मक नहीं। अतएव यह लिपिबद्ध नहीं है यही इसकी महान् नैष्ठिकता कही जा सकती है।

प्रजातन्त्र का प्राथमिक प्रयोक्ता माना गया है—फ्रान्स, जिसकी रा सुप्रसिद्ध है, जिसके आधार पर ही भारतवर्ष ने अनुकरणधिया 'क्रान्ति' कण्ठस्थमात्र कर लिया है। इसी अनुकरणवृत्ति की कृपा से इंग्लैण्ड के प्रणाली के आधार पर जन्म ले पड़ने वाला भारतवर्ष का गण प्रजातन्त्रवाद स्वयं अपना कोई मौलिक स्वरूप न रखता हुआ उक्त देशों के अमुक-अमुक-अंशों के परिग्रहणात्मक सकलन से ही विनिर्मित है इसे तो सर्वात्मना अनुकरण भी नहीं कहा जा सकता। अहो! महतीय जगद्गुरो—भारतवर्षस्य।

भारतराष्ट्र के चिरन्तन-मानव ने 'समाजशरीर' रूप राष्ट्र के स्व लिए किस तन्त्रव्यवस्था की प्रतिष्ठा की थी?, प्रश्न का यथार्थ स विस्मृति के गर्भ में ही विलीन हो चुका है, जिस विलयन का अभि 'श्वेतक्रान्ति के महान सन्देश' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही प्रति अभी प्रसङ्ग-समन्वय के लिए दो शब्दों में यही जान लेना आवश्यक यहाँ के परिपूर्ण चिरन्तन मानव ने-(जिसे यहाँ की सङ्केतात्मिका प्रा तत्त्वदृष्टा 'ऋषि' कहा गया है) मानव के स्वरूप के आधार पर ही समाजरूप राष्ट्र की व्यवस्थाएँ व्यवस्थित की है। स्वयं मानव आत्मा—बु शरीर-रूप से चार पर्वों से युक्त है, जैसा कि पूर्व के वक्तव्य में यत्रतत्र जा चुका है। इन चार विभिन्न पर्वों का एक केन्द्रबिन्दु पर

की मानवता है । तात्पर्य्य-स्वरूपतः-नामतः-गुणकर्म्मतः-चारो पर्वों पर सर्वथा विभक्त विभिन्न बने रहते हुए भी चारों पर्वों का एक ही केन्द्रस्थ यत्-ब्रह्म नामक शाश्वत अव्ययमनोलक्षण 'मनु' तत्त्व पर निर्विरोध त बने रहना हीं इस प्राणी-विशेष की 'मानव' अभिधा का मूल रहस्य है, ही है 'मानव' का रहस्यपूर्ण स्वरूप-दिग्दर्शन ।

नु-समन्विता आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-पर्वचतुष्टयी का सम-समन्वय ही जन' लक्षण समाज है । और यों स्वय मनुरूप मानव ही इन चारों पर्वों मञ्जन-लक्षण समसमन्वय से 'व्यक्ति' रूप 'समाज' बना हुआ है । व्यक्तित्त्व मानव का अपना समाज है, जिसका व्यक्त-महिमा-भावात्मिका र-कुटुम्ब-जाति--समाज-ग्राम-नगर-राष्ट्र-अन्तर्राष्ट्र-आदि परम्पराओं से गित्वा 'विश्वमानव' रूप महामानवसमाज पर विश्राम हो रहा है ।

यों व्यक्तिरूप-समाजमानव स्वय अपने हृदयावच्छिन्न व्यक्तितन्त्रात्मक केन्द्रा-र अपने आत्मतन्त्र से नीति की, बुद्धितन्त्र से अनुशासन की, मनस्तन्त्र णरूप विविध मानसिक भावों की, एव शरीरतन्त्र से तदनुरूप शारीरिक जाओं की व्यवस्था करता रहता है । इसप्रकार स्वय मानव में ही प से आत्मानुगत नीतितन्त्र, बुद्ध्यनुगत अनुशासनतन्त्र, मनोऽनुगत न्त्र, एवं शरीरानुगत प्रजातन्त्र, ये चारों तन्त्र प्रतिष्ठित हो रहे हैं। व के इन वैय्यक्तिक चारों तन्त्रों के मूल कौन ?, प्रश्न का उत्तर है-पार-य बृहस्पतितन्त्र, सौर मघवेन्द्र, चान्द्र विश्वेदेव, एव, पार्थिव पूषादेव । व के भूतात्मा का आधार पारमेष्ठ्य बार्हस्पत्यप्राण है, मानव के बुद्धितन्त्र प्राधार सौर इन्द्रप्राण है, मानव के मन का आधार चान्द्र विश्वेदेवप्राण-मरुत्प्राण है, एव मानव के शरीर का आधार पुष्टिप्रवर्तक पार्थिव-अन्नदन्तक-प्राण है । 'देवाननुविधा वै मनुष्याः' (श्रुति) रूपेण प्राकृतिक ईश्वरीय ये चार प्राणसंस्थान हीं मानव के आत्मा-बुद्ध्यादि चारों प्राकृत-पर्वों के आधार बने हुए हैं ।

अर्थ Democratic republic 'डेमोक्रेटरिपब्लिक' ही है, [illegible]
का भारतीय धर्म', किंवा नीतितन्त्र से स्पर्श भी नहीं है। यद्यपि
लिए अमेरिका-फ्रान्स-रूस-एवं चीन इन चारों ही राष्ट्रों में
प्रजातन्त्र व्यवस्था मानी जा रही है। किन्तु मूलतः चारों ही
परस्पर मार्मिक भेद है। इङ्गलेण्ड में केवल 'प्रजातन्त्र' का ही राज्य है, [illegible]
'प्रजातन्त्रीय राजतन्त्र' भी कह सकते हैं। साथ ही यहाँ का विधान
आचारात्मक है-घोषणात्मक नहीं । अतएव यह लिपिबद्ध नहीं है।
यही इसकी महान् नैष्ठिकता कही जा सकती है।

प्रजातन्त्र का प्राथमिक प्रयोक्ता माना गया है—फ्रान्स, जिसकी राज
सुप्रसिद्ध है, जिसके आधार पर ही भारतवर्ष ने अनुकरणधिया 'क्रान्ति' श
कण्ठस्थमात्र कर लिया है। इसी अनुकरणवृत्ति की कृपा से इङ्गलेण्ड की [illegible]
प्रणाली के आधार पर जन्म ले पड़ने वाला भारतवर्ष का गणत
प्रजातन्त्रवाद स्वयं अपना कोई मौलिक स्वरूप न रखता हुआ उक्त देशों के
के अमुक-अमुक-अशों के परिग्रहणात्मक सकलन से ही विनिर्मित है।
इसे तो सर्वात्मना अनुकरण भी नहीं कहा जा सकता। अहो! महतीय वि
जगद्गुरोः-भारतवर्षस्य।

भारतराष्ट्र के चिरन्तन मानव ने 'समाजशरीर' रूप राष्ट्र के सञ्चा
लिए किस तन्त्रव्यवस्था की प्रतिष्ठा की थी!, प्रश्न का यथार्थ समाध
विस्मृति के गर्भ में ही विलीन हो चुका है, जिस विलयन का क्रमिक
'श्वेतक्रान्ति के महान सन्देश' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही प्रतिपा
अभी प्रसङ्ग-समन्वय के लिए दो शब्दों में यही जान लेना आवश्यक है
यहाँ के परिपूर्ण चिरन्तन मानव ने-(जिसे यहाँ की सङ्केतात्मिका प्राच
तत्त्वद्रष्टा 'ऋषि' कहा गया है) मानव के स्वरूप के आधार पर ही
समाजरूप राष्ट्र की व्यवस्थाएँ व्यवस्थित की है। स्वय मानव आत्मा-[illegible]
शरीर-रूप से चार पर्वों से युक्त है, जैसा कि पूर्व के वक्तव्य में यत्रतत्र
जा चुका है। इन चार विभिन्न पर्वों का एक केन्द्रबिन्दु पर समवेत बने

'जाया मे स्यात्' यही मनोधर्म्मा–कामयमान–चान्द्र मानव की प्रथमा कामना। और यही है इसका दूसरा स्वसदृश नवीन समाज। कहते हैं, और सुनते भी हैं –जिसकी पत्नी का निधन हो जाता है, उस पति का संसार ही उजड़ जाता है, समाज ही उच्छिन्न हो जाता है। जो चारों पर्व मानव में थे, वे ही चारों पर्व मानवी में अवतरित हुए। मानव ने मानवी को देखा, और मानवी ने मानव को देखा। दोनों ने इस दृष्टिविनिमय से अपने अपने भाव में अपूर्णता अनुभूत की परोक्षरूप से। दोनों में दाम्पत्य सम्बन्ध हुआ। इस अभिन्नसम्बन्धात्मक पूर्णसम्बन्ध से जो फल उद्भूत हुआ, उसीका नाम हुआ 'पुत्र', और अब दोनों का संसार बना यह तीसरा समाज। यों इसी परम्परा से कालान्तर में आरम्भ का यह भाग्यवशवर्त्ती प्रकृति-चान्द्र मानव मन की इच्छापरम्पराओं से स्व–सदृश अनेक चतुष्पर्वा समाजों का मूलसर्जक बनता हुआ 'मानवसमाज' रूप 'वैय्यक्तिकसमाज' से 'परिवार-समाज' रूप में परिणत हो गया। यही आरम्भ के एकाकी मानव का दूसरा 'परिवार' रूप अभिव्यक्त हुआ, जिसमें सभी (प्रत्येक) यद्यपि चारों हीं (आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वों से ही) समानधर्म्मा ही थे। तथापि अवस्था–गुण–धर्म्मादि भेद से परिवार के अङ्गभूत सदस्यों को एक ही तन्त्र में प्रतिष्ठित रख लेना उस कुलवृद्ध के लिए असम्भव बन गया। परिणामस्वरूप इसकी-प्रौढप्रज्ञा ने स्वयं अपने अनुभवाहित–भूतात्मा के नियन्त्रण में अपने परिवार को मानवीय उन्हीं आत्मा–बुद्ध्यादि चार पर्वों के विभाजन के द्वारा चार वर्गों में विभक्त कर दिया। विभक्त कर नहीं दिया, अपितु स्वरूपानुभेद से स्वतः ही परिवार के सदस्य चार वर्गों में विभक्त हो पड़े प्रकृत्यैव। स्वयं कुलवृद्ध–मूलमानव एक वर्ग रहा, जिसका प्रधान-लक्ष्य बना आत्मा, एवं तदनुगत नीतितन्त्र। कुलज्येष्ठ समर्थ युवा पारिवारिक वर्ग बना परिवार की बुद्धि, एवं इसका आधार बना बुद्ध्यनुगत अनुशासनतन्त्र। पारिवारिक सौम्य नारी–वर्ग बना परिवार का मन, एवं इसका आधार बना मनोऽनुगत गणतन्त्र। एवं पारिवारिक अबोध–उत्तरदायित्वशून्य–अशनपान–मात्रपरायण बालवृन्द-बना पारिवारिक शरीर, एवं इसका आधार बना शरीरानुगत प्रजातन्त्र। और यों वृद्धपुरुष, युवापुरुष, नारीवर्ग, बालवर्ग–रूप से परिवार में मूलमानव आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–इन चार पर्वों में विभक्त होकर चार वर्गों में विभक्त हो गया। यों परिवार का 'आत्मा' स्थानीय 'वृद्धतन्त्र' ही

१–अव्यक्तगर्भित–पारमेष्ठ्य—बार्हस्पत्यप्राण—भूतात्मा का आधार
२–सौर–हिरण्मयमण्डलानुगत–मघवेन्द्रप्राण—बुद्धि का आधार
३–चान्द्र–यशोमण्डलानुगत—मरुत्प्राण—मन का आधार
४–पार्थिव–पुष्टिभावानुगत—पूषाप्राण—शरीर का आधार

—*—

इत्थंभूत मानव के ऋषिप्रज्ञा ने 'सौर-मानव, चान्द्र-मानव' … मुख्य श्रेणि-विभाग किए हैं। अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोगनिष्ठ अव्ययमनु से न्वित-मानव सौर-मानव है, जिसे 'पुरुषार्थी' मानव कहा गया है। अव्य… के प्रति अपने चारों पर्वों को बुद्धिपूर्वक अनन्यनिष्ठा से समर्पित कर देने… चतुर्थाश्रमी वीतराग लोकोत्तर अलौकिक विदेह मानव ही पुरुषार्थी मानव… 'यस्मादर्वाक् सम्वत्सर-अहोभिः परिवर्त्तते' (श्रुति) इत्यादि के… माध्यभोगात्मक सम्वत्सरकालचक्र की सीमा से बहिर्भूत माना गया है… आत्मकाम–आप्तकाम–निष्काम–अकाम–'पुरुषमानव' है, जो स्वयं अ… ही विश्वसमाज बना हुआ है। अतएव विश्वानुबन्धी किसी भी लोक… सीमा इस अमानवपुरुषात्मक सौर-मानव को सीमित नहीं बना सकती। अ… मानव का परमपुरुषार्थ है, मानवजीवन की कृतकृत्यता है।

दूसरा है चान्द्र–मानव। सौरी बुद्धि को गौण, एवं चान्द्र मन को प्र… कर कर्मफलभोगार्थ विश्वप्राङ्गण में अवतीर्ण मानव ही चान्द्र मानव… अपने वैय्यक्तिक मनु-अव्ययरूप पूर्णभाव का अभी बोध नहीं है। इ… र्णता से यह अपने आप में तुष्ट-तृप्त न रहता हुआ सर्वप्रथम स्वस… दूसरे 'समाज' की कामना करता है, वही कहलाई है-'मानवी', जिस… समाजरूपा मानवी को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

''एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्–पतिश्च, पत्नी

ौलिक भेदों के आधार पर ही चार ही वर्गों में विभक्त किया। दूसरे शब्दों में कृत्या-अतएव जन्मतः-मूलतः-तत्त्वतः ही विभक्त चार प्रकार के मानव-मानवीदर्यों को कुलक्रमानुगतरूप से सुव्यवस्थित किया यहाँ के चिरन्तन-मानव ने। ारों वर्ग, किंवा वर्ण प्रकृतिसिद्ध हैं, जन्मसिद्ध हैं। चारों की व्यवस्था ामाजिक कर्म्मव्यवस्थानुपात से कर्म्मसिद्धा है, जिस कर्म्मसिद्धि को ही शास्त्र ने ंस्कारसिद्धि' कहा है। इसी आधार पर महर्षि वशिष्ठ ने कहा है—

"प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं-संस्कारविशेषाच्च"।

आत्मनिष्ठ वही वर्ग 'ब्राह्मणमानव' कहलाया, जिसे उत्तरदायित्व मिला प्रकृतिसिद्ध आत्मतन्त्रानुगत नीतितन्त्र का। बुद्धिनिष्ठ वही वर्ग 'क्षत्रियमानव' कहलाया, जिसे बुद्धितन्त्रानुगत अनुशासनतन्त्र का उत्तरदायित्व मिला। मनोनिष्ठ वही वर्ग 'वैश्यमानव' कहलाया, जिसे मनस्तन्त्रानुगत गणतन्त्र का उत्तरदायित्व मिला। एवं शरीरनिष्ठ वही सामाजिक अङ्ग 'पौष्णमानव' कहलाया, जिसे शरीरतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र का उत्तरदायित्व मिला। और यों चतुष्पर्वा ही मूलमानव अपनी महिमा से महीयमान बनता हुआ आत्यन्तिकरूप से 'सामाजिकमानव' बन गया।

समाज का यही सुव्यवस्थितरूप अन्ततोगत्वा 'राष्ट्र' का स्वरूप-निर्म्मापक बना। इत्थंभूत सुव्यवस्थित राष्ट्र ही सर्वान्त में विश्वबन्धुत्व का सर्जक बन उसी अलौकिक-पूर्वोपवर्णित-सौर-बुद्धियोगनिष्ठ अतिमानव स्थान का अधिकारी बन गया, यही बना चिरन्तन मानव का व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र-एवं विश्वानुबन्धी अथ से इतिपर्य्यन्त का गौरवपूर्ण इतिहास, जिसकी सीमा में चारों ही तन्त्र यथास्थान प्रतिष्ठित बने रहे, एवं अव्यवस्थितरूप से तो आज भी वे ही चारों तन्त्र ज्ञात-अज्ञात-रूप से सभी समाजों-राष्ट्रों-व्यवस्थाओं में गच्छतः स्खलनरूप से विद्यमान हैं। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। जो कुछ सुसूक्ष्म अव्यक्त जगत् में है, वही तो व्यक्त होता है। जो वहाँ है, वही यहाँ है। जो वहाँ नहीं है, वह यहाँ सम्भव भी कैसे हो। यह बात मानवप्रज्ञा पर अवलम्बित है कि, प्रकृति के द्वारा प्राप्त उस सर्वसमन्वयमूला नीति-अनुशासन-गण-प्रजा-तन्त्रात्मिका व्यवस्था को व्यव

'नीतितन्त्र' कहलाया। 'बुद्धि'-स्थानीय 'युवातन्त्र' ही ' ' कहलाया। 'मन.' स्थानीय 'नारीतन्त्र' ही 'गणतन्त्र' माना गया। 'शरीर'-स्थानीय 'बालतन्त्र' ही 'प्रजातन्त्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही सामाजिक व्यक्तिमानव का परिवाररूप-चतुस्तन्त्रात्मक दूसरा ' ' कहलाया।

कुलवृद्ध एवात्र केन्द्रप्रतिष्ठा सर्वेषाम्

१-आत्मनिष्ठ-कुलवृद्धवर्ग (वृद्धतन्त्र)-तदनुगत-आत्मतन्त्र—
पारिवारिक-नीतितन्त्र (परिवारस्य आत्मा)

२-बुद्धिनिष्ठ-कुलयुवावर्ग (युवातन्त्र)-तदनुगत-बुद्धितन्त्र—
पारिवारिक-अनुशासनतन्त्र (परिवारस्य बुद्धिः)

३-मनोनिष्ठ-कुलनारीवर्ग (नारीतन्त्र)-तदनुगत-मनस्तन्त्र—
पारिवारिक-गणतन्त्र (परिवारस्य मन.)

४-शरीरनिष्ठ-कुलबालवर्ग (बालतन्त्र)-तदनुगत-शरीरतन्त्र—
पारिवारिक-प्रजातन्त्र (परिवारस्य शरीरम्)

यह स्मरण रखिए कि, मानव की शारीरिक तृष्णा को शान्त किया स्व मानव के स्वरूप ने। किन्तु मानव का मन तुष्ट बना इस द्वितीय समाजरूप 'परिवा से। अब शेष रह गए बुद्धि, और आत्मा। जिनमें क्रमप्राप्त स्थान आया बु की तृप्ति का। इसी बौद्धिक तृप्तिकामना से प्रेरित होकर मानव परिवार की सीमा रहता हुआ भी परिवार से बाहिर अनुधावन करने लग पड़ा। इसकी यह बौद्धि बाह्य-अनुधावनवृत्ति ही इस मानव की (परिवारविशिष्ट मानव की, शरीरविशि मन की) तीसरी सामाजिकता कहलाई, जिस इस तीसरे समाज में अगणित प बार समवेत थे। सभी में वे ही चारों पर्व। किन्तु प्राकृतिक प्राणों के अनुबन्ध तारतम्य से उन सामाजिक परिवारों के व्यक्तियों का प्राकृतिक स्वरूप भिन्न भिन्न इसी अगणित-प्राकृतिक भेदभाव को मानवप्रज्ञा ने प्रकृतिभेदानुबन्धी मानव

निर्विरोध सुसमन्वित नहीं कर सकता, तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति। मानव
रों लौकिक पर्व एक प्रकार के नीतिपथ हैं, तो अलौकिक अध्यात्मा
थ है। इस धर्म्मपथ पर प्रतिष्ठित नीतिपथ ही धर्म्म है, एव तद्विच्युत
य ही अनीतिपथ है, अधर्म्म हैं। एव यही धर्म्म, और नीति का वह
मौलिक भेद है, जिसे यथावत् समन्वित न करने के कारण ही आज हमारा
अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष प्रमाणित करने के लिए आतुर बना हुआ है।
के आत्मधर्म्म ही, एव तत्प्रतीकभूत विधि-निषेधात्मक शास्त्रधर्म्म ही
र्वा मानव की 'मानवता' का एकमात्र मापदण्ड बना हुआ है। इस
वता'-'मानवत्त्व'-रूप अध्यात्मधर्म्म के बिना मानव में और प्रकृतिमात्र-परा-
पशु में कोई भी पार्थक्य शेष नहीं रह जाता। आत्मधर्म्म को यदि हम तटस्थ
दें बना देते हैं, तो मानव एक पशु से यत्किञ्चित् भी विशेष महत्त्व नहीं
-धर्म्मो हि तेषामधिको विशेष., धर्म्मेण हीना पशुभि. समानाः' यही
के नीतिग्रन्थों का उद्घोष है। इसप्रकार मानव के स्वरूपसरक्षक 'मानवधर्म्म'
आत्मधर्म्म को मानव से पृथक् कर केवल प्रकृतिपाशानुगत आत्मधर्म्मवञ्चित
परम्पर क्या आज यह प्रश्न नहीं कर सकते कि—

क्या हम मानव हैं ?

जिस प्रकार 'व्यक्ति' मूलक 'मानव' का स्वरूप अत्यन्त दुर्बोध्य है, एवमेव
व की सामाजिकता से सम्बन्ध रखने वाला 'चातुर्वर्ण्य' भी एक अत्यन्त ही
रहस्यपूर्ण, तथा दुरधिगम्य विषय है, जिसका तात्त्विक समन्वय (तत्त्ववाद की
प्ति के कारण) स्वय भारतीय विद्वान् भी नहीं कर सके हैं। ऐसी अवस्था में
वर्तमान युग के नवशिक्षित (प्रतीच्यभक्त) भारतीय इस व्यवस्था का मर्म्म
समझ कर एतन्मूलक ब्राह्मणादि वर्णों को केवल मानवीय कल्पना कहते हुए
के मूलोच्छेद में प्रवृत्त हो पड़े, तो इसके लिए आज इन्हें कोई भी दोष नहीं
जा सकता।

वर्णव्यवस्था अवश्य ही गुण-कर्म्म के-अनुसार व्यवस्थित हुई है,
स व्यवस्था को कदापि जन्मसिद्धा, किंवा प्रकृतिसिद्धा नहीं माना जा
सकता। किन्तु वर्णतत्त्व, किंवा चातुर्वर्ण्य सर्वथा जन्मसिद्ध ही है, जिसका

स्थित बनाए रहें, अथवा तो-स्वकल्पना का समावेश कर इसे अव्यवस्थित अपने राष्ट्र-समाज-परिवार एवं व्यक्तित्व को अव्यवस्थित प्रमाणित कर कि अशान्ति का सर्जक बन बैठे। परमेश्वर की परिपूर्ण आत्मा-बुद्धि-मन-श विभूतियों का यथेच्छ उपभोग करने में तो मानव स्वतन्त्र है ही। मानव का स्वातन्त्र्य ही मर्य्यादाओं-व्यवस्थाओं-प्राकृतिक-ज्ञानविज्ञानसिद्धा चिरन्तन-शा पद्धतियों से विमुख बनाता रहता है इस मूलतः अलौकिक भी लौकिक मानव इसके इसी प्राकृतिक-व्यामोहन-निबन्धन-इच्छास्वातन्त्र्य के नियमन पूर्वे शान्ति-तृप्ति-तुष्टि-पूर्वक-अलौकिक पूरिपूर्ण अव्ययनिष्ठ पुरुषभाव में पी करने के लिए ही अलौकिक परिपूर्ण भगवान् ने कहा है कि—

> यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
> तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
> ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥
>
> —गीता

'शास्त्रविधि' ही वह 'धर्म्मतत्त्व' है, जो आत्मभावों का विधान ए एवं अनात्मभावों का निषेध करता है। चतुष्पर्वा मूल मानव की केन अव्ययमनु ही है, और यही मानव का धर्म्म, अर्थात् आत्मप्रतिष्ठा अव्ययात्मप्रतिष्ठात्मक शाश्वतधर्म्म से नियन्त्रित चतुष्पर्वा मानव मनोऽनु भावुकता-परम्पराओं से बचा रहता है। यही मानवधर्म्म आगे जाकर प धर्म्मात्मक 'कुलधर्म्म' रूप में व्यक्त होता है। यही कुलधर्म्म आग 'समाजधर्म्म' बनता हुआ 'वर्णधर्म्म' कहलाने लगता है।

यों प्रकृतिसिद्ध इन विभिन्न संस्थानों के भेद से एक ही आत्मधर्म्म'-स्वस्वरूपमादर्शे-तेन तेन स युज्यते' के अनुसार विभिन्न भावों में प रहा है। आत्मनियन्त्रण ही आत्मधर्म्म का फल है, जिसके बिना मानव अपने भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-रूप चारों विभिन्न समाजों को सममस

हैं भारतीय विद्वानों नें इस समन्वय को वैदिकतत्त्ववाद की विस्मृति के
। अतएव आज वर्णव्यवस्था एक सघर्ष का कारण प्रमाणित हो पड़ी है।
इसी सघर्ष के कारण इनकी वर्णव्यवस्था आज सर्वात्मना उच्छिन्नप्राया-बन
जिसके इस शवशरीर के विमर्दन से भारतीय विद्वान् कुछ भी तो पौरुष
हीं कर सकते ।

पने शरीरमात्र से तो मानव जन्मत 'शूद्र' ही माना जायगा, माना गया है
स्त्रों के द्वारा 'जन्मना जायते शूद्रः' इत्यादि रूप से । क्योंकि शरीरों से
वस्था का कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसाकि भ्रान्तिवश आज वर्णव्यवस्था के
), किन्तु इसके तत्त्व से अनभिज्ञों के द्वारा मानने-मनवाने का व्यर्थ प्रयास
है।

रीरमात्र से तो मानव मानव है। मानव-मानवी के दाम्पत्य से उत्पन्न होने
मानव 'मानव' न होगा, तो क्या गधा-घोड़ा होगा ?। 'शरीर से शरीर'
मौतिक-सर्जन की सहज प्रक्रिया है। अत्यन्त ही शिथिल तर्काभास उपस्थित
हुए वर्णव्यवस्था के आधुनिक भक्त साभिनिवेश कहा करते हैं कि,-जैसे घोड़े
ड़ा ही, भैंस से भैंस ही, सिंह से सिंह ही उत्पन्न होता है, तथैव
। से ब्राह्मण ही, क्षत्रिय से क्षत्रिय ही, वैश्य से वैश्य ही, एवं शूद्र
र ही उत्पन्न होगा'। कैसे शून्यतर्क हैं !। 'छोड़े से छोड़ा' में तर्क का
र शरीर है ,न कि वर्ण। उधर ब्राह्मणादि नामों का सम्बन्ध है वर्ण से, न कि
से। शरीरसाम्यदृष्टान्त से तो समानाकृतियुक्त मानवमात्र एक ही जाति-
रजाति' है, जैसे कि 'अश्वजाति' एक जाति मानी गई है। स्पष्ट है कि
र्काभास वर्णव्यस्था-भक्तों के उपहास के ही साधन बने हुए हैं, बनतें हीं
रें।

चातुर्वर्ण्य तो वह सुसूक्ष्म प्राकृतिक मौलिक तत्त्व है, जिसका न केवल
। से ही, अपितु विश्व के पदार्थमात्र से अन्तर्याम सम्बन्ध है। और इस
से पशु-पक्षी-कृमि-कीट-ओषधि-वनस्पति-धातु-आदि आदि यथयावत्
र-जङ्गम-पदार्थों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-ये चारों वर्ण प्रकृत्यनुसार

मानवीय कल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु यह तो सुसूक्ष्मा प्रकृति की व्यवस्था है। प्रकृति में मूलतः चार ही वर्ण हैं, जो प्रकृति के अधिष्ठाता ईश्वरपुरुष की साक्षी में विश्वस्वरूप का निर्माण करते रहते हैं। सत्त्व-रतमो-गुणमयी-आकृति-प्रकृति-अहंकृति-लक्षणा प्रकृति अपने प्राकृतिक अव्यक्त गुणों के द्वारा, तथा आकृत्यादि-निबन्धन व्यक्त कर्मों से इन नित्यसिद्ध गुण-कर्मों से ही पुरुषसाक्षी में चातुर्वर्ण्यरूप से अभिव्यक्त है, जिस रहस्य का गीता ने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः।
> तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि, अकर्त्तारमव्ययम्॥
>
> —गीता ४।१३।

अव्ययपुरुष की साक्षी में ही ये चारों वर्ण व्यक्त होते हैं। इस 'तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धि' रूप से अव्यय को इस चातुर्वर्ण्य का (निमित्त) मान लिया गया है। किन्तु तत्त्वतः हैं ये चारों वर्ण अक्षर-प्रकृति के ही व्यक्त रूप। अतएव-'अकर्त्तारमव्ययम्' रूप से पुरुष को 'अकर्त्ता'-(*तटस्थ-साक्षीमात्र*) *मान लिया है। श्लोक*के कर्म-शब्दों से प्रकृति के सत्त्व-रज-रतमो गुण, तथा आकृत्यादि निबन्धन कर्म ही अभिप्रेत हैं। यहाँ के गुण-कर्म-शब्दों से मानवीय प्रत्यक्ष भौतिक-गुण-कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि-'चातुर्वर्ण्यं मया' इस आरम्भ के वाक्य से ही स्पष्ट है। 'ईश्वर ने गुणकर्मानुसार चार उत्पन्न किए', वाक्य का स्पष्टार्थ यही है कि-"अव्ययपुरुष की साक्षी में अपने सुसूक्ष्म गुण-कर्म-भेदों से चार वर्णों में परिणत हुई"। न तो यहाँ का-'चातुर्वर्ण्य' शब्द 'वर्णव्यवस्था' का ही समर्थक है, न गुण शब्द मानवीया व्यवस्था से ही कोई सम्बन्ध रख रहे। अपितु यह तो जड़ात्मक यथायथत् प्राकृतिक पदार्थों के मूलाधारभूत प्रकृतितत्त्व से सम्बन्ध रखता सुसूक्ष्म-अव्यक्त-चातुर्वर्ण्य का ही तत्त्व बतला रहा है, जिसका मानव के ... शारीरिक गुण-कर्मों से कोई ... सम्बन्ध नहीं है

ात्मा ही मानव की मानवता का तात्त्विक स्वरूप है, जिसके आधार पर मानव बुद्धि-मन-शरीर-नामक तीन लोक प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों का निर्माण मश: पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य-से हुआ है, जो भू:-भुव:-स्व:-इन 'लोक' ामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों लोक प्राकृतिक हैं।

स्वय प्रकृति सत्त्व-रज-तम-भेद से त्रिगुणात्मिका है, तो आकृति-कृति-अहङ्कृति-भेद से त्रिकर्म्मात्मिका है। तीनों तीनों से समन्वित हैं। त्त्व का अहङ्कृति से, रज का प्रकृति से, एव तम का आकृति से समतुलन । सत्त्वानुगत अहङ्कृतिभाव ही बुद्धिपर्व है, रजोऽनुगत प्रकृतिभाव ही मन:पर्व , एव तमोऽनुगत आकृतिभाव ही शरीरपर्व है। इन तीनों प्रकृतिभावों के लाधारभूत मौलिक प्राण क्रमश ऋषि-देव-पितर नामक प्राण हैं, जो मशः सौर-चान्द्र-पार्थिव-लोकों के मूलाधार बने हुए हैं। यह है गुण-र्म्मात्मिका प्रकृति के विस्तार का सक्षिप्ततम निदर्शन, जिसे हृदयङ्गम किए बिना कदापि भारतीय चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का तत्त्व समन्वित नही हो सकता। कृति के इन्हीं तीनों-अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति भावों के आधार पर पदार्थों के कुल-वर्ण-जाति-ये तीन प्राकृतिक तन्त्र व्यवस्थित बनते हैं। इन्द्रियदृष्ट प्राकृतिमूलक भौतिक शरीरभाव ही 'जाति', किंवा 'योनि' तत्त्व है, जिसके ऋषिप्रज्ञा ने ८४००००० (चौरासीलाख) भेद माने हैं। यह है वह जातिभेद, जिसका उन्मूलन कदापि सम्भव नहीं है, जिस में 'मानवजाति' (मानवयोनि) भी एक भेद है।

शरीराधारभूत सुसूक्ष्म-अतएव इन्द्रियातीत-अतएव अदृष्ट-प्रकृतिमूलक मनोभाव ही 'वर्ण' तत्त्व है, जिसके ऋषिप्रज्ञाने ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-ये वर्ण माने हैं। यह है वह वर्णभेद, जिसका जातिभेद से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब हम (मानव) शरीरमूलक ८४ लाख जातिभेदों का ही उन्मूलन नहीं कर सकते, तो जिस चातुर्वर्ण्य को हम आँखों से भी नहीं देख पाते, उसके उन्मूलन की तो कल्पना भी नहीं कर सकता आज का भ्रान्त मानव। हाँ यदि व्यवस्था का ध्वस ही अभीष्ट है, तो ऐसा वह अवश्य कर सकता है। फिर भी उसे किसी

व्यवस्थित हैं *। शरीरनिबन्धना प्रत्येक जाति में प्रकृत्या चारों व्यवस्थित हैं, जिस इस रहस्य के यथावत् सपन्वय के लिए तो हमें प्रकृतिशास्त्र (ब्राह्मणग्रन्थ) का ही निष्ठापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। यही जान लेना पर्याप्त होगा कि, 'मानव' नाम वस्तुत: उस 'अव्ययात्म है, जो सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों में से केवल अमुक शरीरात्मक मानव स्वस्वरूप से-(केन्द्ररूप से) अभिव्यक्त है। मानवेतर पदार्थों-प्राणियों में वर्ण अवश्य हैं, किन्तु वर्णों का नियन्ता-अव्ययेश्वर केन्द्ररूप से अभिव्य होकर केवल विभूति-सम्बन्ध से ही उनमें समाविष्ट है। अतएव वर्णों के विद्यमान रहते हुए भी पशु-पक्षी-आदि में सामाजिक-व्यवस्था नहीं हो अतएव इनका समाज 'समाज' न कहला कर यूथ-गण-सघ-आदि 'समज' ही कहलाया है, जैसाकि 'समजः पशूनाम्' इत्यादि अमरक स्पष्ट है।

मानवमात्र में प्रकृत्या विद्यमान भी इन प्राकृतिक चारों वर्णों को समाज में कुलक्रमरूप से व्यवस्थित वही कर सकेगा, जो अपनी इस च प्रकृति को स्व-अव्ययात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर लेगा। और वही एतद्देशीय अव्ययात्मनिष्ठ ऋषिमानव ने, जिस के अनुग्रह से केवल भ में ही यह चातुर्वर्ण्य 'सामाजिकव्यवस्था' का रूप धारण कर सका, जब वि देशीय मानव चारों वर्णों के मूलत विद्यमान रहते हुए भी अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्ग तो चार ही बना बैठे। किन्तु अव्ययात्मनि के अभाव से न तो वे वर्ग समसमन्वित ही रह सके, न वशानुगत ही बन स

मानव में आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ये चार पर्व हैं। इन में आ आत्मपर्व सर्वातीत अव्ययात्मा से अनुप्राणित होता हुआ पृथक् मान लिय है, जिसके आधार पर समदर्शनमूला मानवता प्रतिष्ठित रहती है।

*-इन सब विषयों का तात्त्विक रहस्य-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के-'ब परीक्षा' खण्ड के 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रक देखना चाहिए।

ात्मा ही मानव की मानवता का तात्विक स्वरूप है, जिसके आधार पर मानव
बुद्धि-मन-शरीर-नामक तीन लोक प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों का निर्म्माण
मशः पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य्य-से हुआ है, जो भूः-भुवः-स्वः-इन 'लोक'
मों से प्रसिद्ध हैं। तीनों लोक प्राकृतिक हैं।

स्वयं प्रकृति सत्त्व-रज-तम-भेद से त्रिगुणात्मिका है, तो आकृति-
कृति-अहङ्कृति-भेद से त्रिकर्म्मात्मिका है। तीनों तीनों से समन्वित हैं।
त्त्व का अहङ्कृति से, रज का प्रकृति से, एवं तम का आकृति से समतुलन
। सत्त्वानुगत अहङ्कृतिभाव ही बुद्धिपर्व है, रजोऽनुगत प्रकृतिभाव ही मनःपर्व
, एवं तमोऽनुगत आकृतिभाव ही शरीरपर्व है। इन तीनों प्रकृतिभावों के
लाधारभूत मौलिक प्राण क्रमशः ऋषि-देव-पितर नामक प्राण हैं, जो
मशः सौर-चान्द्र-पार्थिव-लोकों के मूलाधार बने हुए हैं। यह है गुण-
र्म्मात्मिका प्रकृति के विस्तार का संक्षिप्ततम निदर्शन, जिसे हृदयङ्गम किए
बेना कदापि भारतीय चातुर्वर्ण्यव्यवस्था का तत्त्व समन्वित नहीं हो सकता।
कृति के इन्हीं तीनों-अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति भावों के आधार पर पदार्थों
में कुल-वर्ण-जाति-ये तीन प्राकृतिक तन्त्र व्यवस्थित बनते हैं। इन्द्रियदृष्ट
आकृतिमूलक भौतिक शरीरभाव ही 'जाति', किंवा 'योनि' तत्त्व है, जिसके
ऋषिप्रज्ञा ने ८४००००० (चौरासीलाख) भेद माने हैं। यह है वह जातिभेद,
जिसका उन्मूलन कदापि सम्भव नहीं है, जिस में 'मानवजाति' (मानवयोनि)
भी एक भेद है।

शरीराधारभूत सूक्ष्म-अतएव इन्द्रियातीत-अतएव अदृष्ट-प्रकृतिमूलक
मनोभाव ही 'वर्ण' तत्त्व है, जिसके ऋषिप्रज्ञाने ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-ये
वर्ग माने हैं। यह है वह वर्णभेद, जिसका जातिभेद से कोई सम्बन्ध नहीं है।
जब हम (मानव) शरीरमूलक ८४ लाख जातिभेदों का ही उन्मूलन नहीं कर
सकते, तो जिस चातुर्वर्ण्य को हम आँखों से भी नहीं देख पाते, उसके उन्मूलन
की तो कल्पना भी नहीं कर सकता आज का भ्रान्त मानव। हाँ यदि व्यवस्था
का घात ही अभीष्ट है, तो ऐसा वह अवश्य कर सकता है। फिर भी उसे किसी

व्यवस्थित हैं *। शरीरनिबन्धना प्रत्येक जाति में प्रकृत्या चारों व्यवस्थित हैं, जिस इस रहस्य के यथावत् समन्वय के लिए तो हमें प्रकृतिशास्त्र (ब्राह्मणग्रन्थ) का ही निष्ठापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'मानव' नाम वस्तुतः उस 'अव्यय' है, जो सम्पूर्ण प्राकृतिक पदार्थों में से केवल अमुक शरीरात्मक मानव स्वस्वरूप से-(केन्द्ररूप से) अभिव्यक्त है। मानवेतर पदार्थों-प्राणियों में वर्ण अवश्य हैं, किन्तु वर्णों का नियन्ता-अव्ययेश्वर केन्द्ररूप से अ होकर केवल विभूति-सम्बन्ध से ही उनमें समाविष्ट है। अतएव वर्णों के विद्यमान रहते हुए भी पशु-पक्षी-आदि में सामाजिक-व्यवस्था नहीं है अतएव इनका समाज 'समाज' न कहला कर यूथ-गण-संघ-आदि 'समज' ही कहलाया है, जैसाकि 'समजः पशूनाम्' इत्यादि अमरवचन स्पष्ट है।

मानवमात्र में प्रकृत्या विद्यमान भी इन प्राकृतिक चारों वर्णों को मा समाज में कुलक्रमरूप से व्यवस्थित वही कर सकेगा, जो अपनी इस चा प्रकृति को स्व-अव्ययात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित कर लेगा। और वही हि एतद्देशीय अव्ययात्मनिष्ठ ऋषिमानव ने, जिस के अनुग्रह से केवल भार में ही यह चातुर्वर्ण्य 'सामाजिकव्यवस्था' का रूप धारण कर सका, जब कि देशीय मानव चारों वर्णों के मूलतः विद्यमान रहते हुए भी अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्ग तो चार ही बना बैठे। किन्तु अव्ययात्मनिष्ठ के अभाव से न तो वे वर्ग समसमन्वित ही रह सके, न वंशानुगत ही बन सके।

मानव में आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ये चार पर्व हैं। इन में आत्म आत्मपर्व सर्वातीत अव्ययात्मा से अनुप्राणित होता हुआ पृथक् मान लिया है, जिसके आधार पर समदर्शनमूला मानवता प्रतिष्ठित रहती है। इन

*-इन सब विषयों का तात्विक रहस्य-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के-'कर्म परीक्षा' खण्ड के 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरण देखना चाहिए।

१–सूर्य्यलोकानुगता—सत्त्वाद्दकृतिमूला—ऋषिप्राणमयी प्रकृतिरेव–बुद्धिः–मानवस्य

२–चन्द्रलोकानुगता–रज प्रकृतिमूला—देवप्राणमयी–प्रकृतिरेव–मनः—मानवस्य

३–भूलोकानुगता—तम–आकृतिमूला-पितृप्राणमयी–प्रकृतिरेव-शरीरम्–मानवस्य

—प्रकृतिनियन्ता–मानवस्यात्मा–अव्ययः

१–बुद्ध्यनुगत.–गोत्रमानव.-वसिष्ठादिभेदभिन्नः—(मानवगोत्राणि)

२–मनोऽनुगत –वर्णमानव -ब्राह्मणादिभेदभिन्न —(मानववर्णा)

३–शरीरानुगत.-जातिमानव -मानवजात्या–अभिन्न.(मानवजाति.)

—जाति–वर्ण- गोत्र–नियन्ता–मानवः

१–जातिभावेन–भारतीयमानव —पुष्टिभावानुगामी

२–वर्णभावेन– भारतीयमानव.—समृद्धिभावानुगामी

३–गोत्रभावेन—भारतीयमानवः—वृद्धिभावानुगामी

—गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्

गोत्रवृद्धि, वर्णसमृद्धि, एवं जातिपुष्टि की अनन्यसंरक्षिका, समदर्शनमूला विभक्तकर्म्मव्यवस्थात्मिका यही भारतीय सामाजिक व्यवस्था 'वर्णव्यवस्था' कहलाई

अन्य व्यवस्था का अनुगमन कर ही लेना पड़ेगा। क्योंकि कदापि चार वर्णों
बिना इसका जीवन सम्भव ही नहीं।

मानवेतर आत्मशून्य प्राणियों, तथा जड़ पदार्थों में जाति, वर्ण, कु
रहेंगे। किन्तु जिस (भारतीय-वेदतत्त्वनिष्ठ) मानव में अव्ययात्मसाक्षी-पूर्
यह व्यवस्था रहेगी, उसके तीनों पर्व क्रमशः जाति-वर्ण-गोत्र-नाम से व्य
हृत होंगे। गोत्र का ऋषिप्राण से, वर्ण का देवप्राण से, एवं
पितृप्राण से सम्बन्ध माना जायगा। जाति यहाँ मानवजाति कहला
वर्ण यहाँ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र कहलाए हैं। एवं गोत्र वशिष्ठादि म
गए हैं। मानवजाति के द्वारा वर्णरक्षा होगी, वर्णद्वारा गोत्ररक्षा होगी, एवं
क्रमिक सरक्षण से ही भारतीय वर्णमानव अव्ययात्मानुग्रहद्वारा परमपुरुषार्थ
प्राप्त करने में समर्थ बन सकेगा। और यही चातुर्वर्ण्य का संक्षिप्त इतिहा
माना जायगा, जिसे विस्मृत कर भारतीय मानव, अव्ययात्मधर्मनिष्ठ मानव
किंतु वर्तमान का धर्मनिरपेक्ष मानव अपनी इस पतनावस्था को लक्ष्य क
कर अपने अन्तर्जगत् से ही मानो आज यही प्रश्न कर रहा है कि—

क्या हम मानव हैं ?

प्रकृतिनियन्ता–पुरुषोऽव्ययेश्वरः				
१–ऋषिप्राणात्मक —	सूर्य —	सत्त्वगुणान्वित	अहङ्कृतिभावसमन्वित	प्रकृतिभ
२–देवप्राणात्मक —	चन्द्रमा —	रजोगुणान्वित	प्रकृतिभावसमन्वित —	प्रकृतिभ
३–पितृप्राणात्मक —	भूपिण्ड —	तमोगुणान्वित	आकृतिभावसमन्वित	प्रकृतिभ
प्राणत्रयी ३	लोकत्रयी ३	गुणत्रयी ३	कर्मत्रयी ३	प्रकृतित्र ३

१–सूर्य्यलोकानुगता –सत्वाहङ्कृतिमूला–ऋषिप्राणमयी प्रकृतिरेव–बुद्धिः–मानवस्य

२–चन्द्रलोकानुगता–रज प्रकृतिमूला—देवप्राणमयी–प्रकृतिरेव–मन ––मानवस्य

३–भूलोकानुगता—तम–आकृतिमूला पितृप्राणमयी–प्रकृतिरेव शरीरम्–मानवस्य

—प्रकृतिनियन्ता–मानवस्यात्मा–अव्ययः

१–बुद्ध्यनुगत.–गोत्रमानव वसिष्ठादिभेदभिन्न —(मानवगोत्राणि)

२–मनोऽनुगत –वर्णमानव -ब्राह्मणादिभेदभिन्न –(मानववर्णा)

३–शरीरानुगत जातिमानव मानवजात्या–अभिन्न (मानवजाति)

—जाति–वर्ण–गोत्र–नियन्ता–मानवः

१–जातिभावेन–भारतीयमानव —पुष्टिभावानुगामी

२–वर्णभावेन–भारतीयमानव —समृद्धिभावानुगामी

३–गोत्रभावेन–भारतीयमानव—वृद्धिभावानुगामी

—गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्

गोत्रवृद्धि, वर्णसमृद्धि, एवं जातिपुष्टि की अनन्यसंरक्षिका, समदर्शनमूला विभक्तकर्मव्यवस्थात्मिका यही भारतीय सामाजिक व्यवस्था 'वर्णव्यवस्था' कहलाई

है, जिसके ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र–इन चार वर्णों से समन्वित चार प्रतिनिधि माने गये हैं, जो कि प्रातिनिध्य आज की गणतन्त्रपद्धति से सर्वात्मना समतुलित है, जैसाकि आगे के आलोच्य-प्रसङ्ग में स्पष्ट होने वाला है।

वर्णातीत –विश्वेश्वर –अध्ययात्मा स एव आत्मधर्म्म - सर्वेषां नियन्ता सर्वशास्ता ।

धर्म्म एव अनुशास्ति सर्वमपि

१–भूतात्मप्रतिनिधि —(समाजस्यात्मा)—ब्राह्मणवर्ग –नीतितन्त्रानुगतः

२–बुद्धितन्त्रप्रतिनिधि –(समाजस्य बुद्धि)–क्षत्रियवर्ग —अनुशासनतन्त्रानुगत

३–मनस्तन्त्रप्रतिनिधि –(समाजस्य मन)–वैश्यवर्ग —गणतन्त्रानुगत

४–शरीरतन्त्रप्रतिनिधि –(समाजस्य शरीरम्)चतुर्थवर्ग –प्रजातन्त्रानुगत

समाजव्यवस्था उच्छिन्न क्यों हो जाती है ?, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिससे भारतीय उक्त वर्णव्यवस्थारूपा समाजव्यवस्था भी बिना समाधान के अप परित्राण नहीं कर सकती। इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'आश्रमव्यवस प्रवृत्त हुई है। जिस समाज के व्यक्ति शरीर से क्षीण, मन से हीन, बुद्धि से दी एवं भूतात्मपर्व से मलिन हो जाते हैं, जिनकी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-गुण-गति

[illegible]द हो जाती हैं, अतएव जिनके मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ-चारों हीं पुरुषार्थ
[illegible]द से अभिभूत हो जाते हैं, अतएव जो आत्मदृष्ट्या लोभ से, बुद्धिदृष्ट्या
, मनोदृष्ट्या मान से, एवं शरीरदृष्ट्या दर्प से अन्ध बनते हुए अपने
को विस्मृत कर देते हैं, ऐसे मानवों का व्यक्तित्व सहजसिद्ध अभिव्यक्तित्व
त्व) से पृथक् हो कर सर्वथैव अन्तर्मुख बन जाता है। एवं ऐसे व्यक्तित्व
हीन केवल शरीर से-जातिमात्र से ही मानवतनमात्र धारण किए रहने वाले
की उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भी समाजव्यवस्था कालान्तर में छिन्न भिन्न हो
है। उसी व्यक्तित्वस्वरूपसंरक्षिका धर्म्मप्रधाना व्यवस्था को 'आश्रमव्यवस्था'
[illegible]या है, जिसके प्रसङ्ग में भी किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है।
व्यक्ति'-मानव हीं 'समाज'-मानवरूप में परिणत होगया' इस निष्कर्ष
धार पर ही हमें इस तथ्य पर भी स्वत हो पहुँच जाना पड़ा कि, जिस
तिमानव' के 'आत्मा-बुद्धि-मन -शरीर -ये चारों पर्व स्व-स्व-प्राकृ-
[illegible]रूपों से अनुरूप-व्यवस्थित रहेंगे, ऐसा पूर्ण व्यवस्थित मानव ही मानवी
ई व्यवस्थिता बनाए रक्खेगा मानवी के चारों पर्वों से। मानवी यदि अव्य-
[illegible]त है, मानवी के चारों वैयक्तिक पर्व जिस अनुपात से अव्यवस्थित-अपूर्ण
निश्चयेन उसी अनुपात से तदर्द्धभागरूप मानव के चारों पर्वों को अव्यव-
माना ही जायगा। एवं इस दृष्टिकोण से मानवी के उत्थान-पतन का सर्वस्व
[illegible]दायित्व मानव के उत्थान-पतन से ही अनुप्राणित रहेगा। इसी तथ्य के
[illegible]र पर भारतीय आर्य्यनारी को सर्वथा दोषरहिता, अतएव अदण्डया ही
है यहाँ के धर्माचार्य्यों ने। पात्रापात्रता का परीक्षण एकमात्र 'मानव' से
[illegible]द्ध है, जबकि आज दुर्भाग्यवश पूर्णताप्रवर्त्तक इस पवित्र दाम्पत्य-सम्बन्ध
[illegible]क्रम में केवल 'शरीर' को ही प्रधानता दे बैठने वाले वर्त्तमान निष्ठावि-
त मानव ने 'पात्रता' के अनुबन्ध से 'कन्या' के परीक्षण को ही प्रधान मान
है। रूप-गुण-सौन्दर्य्य-युक्ता शीलवती भी कन्या कुरूप-गुणहीन-आचा-
मानव के साथ सलग्न होती हुई तथैव बन जायगी, जबकि सामान्य भी
गुणवान् से समन्विता होकर तद्रूपा ही बन जाया करती है। अतएव
क दशा में प्रथम-मुख्यरूप से मानव ही परीक्षणीय माना जाना चाहिए,
कि निम्नलिखित सिद्धान्तवाक्यों से स्पष्ट प्रतिध्वनित है—

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ॥
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥१॥
अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ॥
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ॥
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥३॥

—मनुः ६।२२,२३,२४, ।

निवेदन यही करना है कि, एकमात्र व्यक्तिमानव का परिपूर्ण
अभिव्यक्तित्व–ही मानवी, सन्तति, परिवार, तत्समष्टिरूप समाज, एवं
अभिव्यक्तिस्वरूपा पूर्णता का मुख्य आधार माना गया है। इस दृष्टि से
निर्दिष्टा चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के निर्विरोध व्यवस्थापन के लिए मूलाधारभूत
का ही प्राणप्रतिष्ठापन अनिवार्य्य माना है ऋषिप्रज्ञा ने। जिस वै
वैय्यक्तिक–व्यवस्था से मानव का व्यक्तित्व अभिव्यक्त बनता हुआ सुव्य
होता है, वही वैय्यक्तिक-व्यवस्था यहाँ 'आश्रम–व्यवस्था' कहलाई है,
संक्षिप्त स्वरूप तीसरे वक्तव्यशेषांश में सम्भवतः स्पष्ट हो सकेगा *। म
पूर्वक शारीरिक 'श्रम' को प्रधान आधार बना कर बुद्धिपूर्वक 'परि
अनन्यनिष्ठा से संलग्न रहते हुए आत्मानुगत सर्वतो व्यापी 'आश्रम' (आस
श्रम ही आश्रम) की जीवनपद्धति का मूलाधार वह ब्रह्मचर्य्याश्रम नामक
श्रम माना गया है, जिसमें शरीरस्वरूपरक्षक शुक्र के संरक्षण की प्रधा
आधार बनाते हुए तत्त्वनिष्ठ आचार्य्य-(आचरणशील) के सा
अन्तेवासित्व के रूप से मानव अपने २५ वर्षात्मक इस प्रथमाश्रम में
वैयक्तिक आत्मा–बुद्ध्यादि चारों पर्वों की मौलिक व्यवस्थाओं–तत्त्वों से सु
होता हुआ इसी काल में मुख्यरूप से 'शरीरपर्व' को सर्वात्मना अभिव्य

---

*–विशद विवेचन के लिए देखिए–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–कर्मयोगप
खण्ड का 'आश्रमव्यवस्थाविज्ञान', अवान्तर ५ ।

है। दूसरे आश्रम में इसी का दूसरा काममय 'मनःपर्व' सर्वात्मना अभिव्यक्त बनता है, जिसे दूसरा–'गृहस्थाश्रम' (पारिवारिक जीवन) कहा गया है। आश्रम में इसका तीसरा 'बुद्धिपर्व' अभिव्यक्त होता है, जो 'वानप्रस्थाश्रम' या है। एवं चौथे आश्रम में चौथा 'भूतात्मपर्व' प्रकृतिस्थ बनता हुआ नुगत (अव्ययानुगत) हो जाता है, और यही इसका पुरुषार्थसंसाधक ासाश्रम' माना गया है। यों शतायु मानव अपने शतायुर्भोगकाल को चार में विभक्त कर इन चारों आश्रमपद्धतियों का धर्मपूर्वक अनुगमन करता इस व्यक्तिमूला अपनी आश्रमजीवनपद्धति से सर्वात्मना पूर्ण–'व्यक्ति' ाता है। एवं ऐसे पूर्ण व्यक्तियों की साक्षी से सञ्चालित समाज ही अभिव्यक्तव्यवस्थित बना रहता है। वर्णव्यवस्थात्मिका भारतीय समाजव्यवस्था जहाँ समाज वरूप-संरक्षिका है, वहाँ ब्रह्मचर्य्यादि-आश्रमव्यवस्था समाज के मूलाधाररूप त की स्वरूपसंरक्षिका है। जिस मानवसमाज का मानवाश्रम अव्यवस्थित हो है, आश्रमजीवनपद्धति अव्यवस्थित, किंवा उच्छिन्न हो जाती है, निश्चयेन अव्यवस्थित मानवों की समाजव्यवस्था भी सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाती है। न-वर्ण-सभी कुछ रहते हैं। किन्तु व्यवस्था विकृत हो जाती है, एवं इन ति-दशाओं में व्यक्तित्वशून्य मानव कल्पनाके आधार पर ज्यों ज्यों नूतन-नूतनात्रिक व्यवस्थाएँ बनाने लगते हैं, त्यों त्यों ही व्यक्तित्व, और समाज ाधिक अव्यवस्थित ही बनता जाता है, जिसका कि प्रत्यक्ष निदर्शन व्यक्तियों अभिव्यक्तित्व से सर्वथा शून्य, केवल पदप्रतिष्ठात्मक कल्पित व्यक्तित्वविमोहन उद्भूता विविध समाजव्यवस्थाएँ वर्गोच्छेद के स्थान में अगणित विरोधी को ही शरमदलवत् उत्पन्न किए जा रहीं हैं। ऐसा क्यों ?, एकमात्र कारण की निरपेक्षिता। इस निरपेक्षिता के विद्यमान रहते हुए भी क्या आज हम ने आर से इस सामान्य से भी प्रश्न के समाधान की आशा कर सकते हैं कि–

'आचार' की परमता तभी मान्यता बना करती है, जबकि आचारधर्म्म सत्य-अहिंसा-आदि प्रतीक-धर्म्मों के मूल में 'पुरुषाव्ययात्मा' रूप (प्रकृति से अतीत) धर्म्म का अबुद्धियोगात्मक 'बुद्धियोग*' के द्वारा अपने अन्तर्जगत् में अनुशीलन करता रहता है। आचरण-अनुकरण, इन पाँच शब्दों के वास्तविक तथ्य के समन्वय के अनन्तर ही मानव की प्रज्ञा 'धर्म्म' के सुसूक्ष्म मौलिक-रहस्य के सन्निकट पहुँचा करती है। यज्ञ-पूजन-भजन-स्तुतिपाठ देवदर्शन-आदि आदि जिन आचरणों को आज 'धर्म्म' कहा जाता है, जिनका बाह्य लोक-प्रदर्शनों से सम्बन्ध है, उन सब को वस्तुतः 'अनुकरणात्मक धर्म्म' कहा जायगा, जिन ऐसे शरीरप्रधान-अनुकरणधर्म्म का मूल आत्मधर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु-'अज्ञाना कर्म्मसङ्गिनाम्' (गीता) रूप से इन प्रदर्शनात्मक-शारीरिक-अनुकरणधर्म्मों का तो केवल लोकभावुकतासरक्षण पर ही विश्राम हो रहा है। इस लोकप्रदर्शन को 'अनुकरणधर्म्म' उसी अवस्था में कहा जायगा, जबतक कि यह अनुकरण शास्त्रीय आचरण (पद्धति) के पथ का ही अनुकरण करता रहेगा। और ऐसी सम्भावना व्यक्त की है कि, यदि ये अनुकरणात्मक धर्म्म आचरणात्मक धर्म्मों की, शास्त्रसिद्ध पद्धतियों की सीमा में अन्तर्गर्भित रहते हैं, तो अवश्य ही कालान्तर में शरीरशुद्धि के अनन्तर इनसे मनःशुद्धि भी हो सकती है, जो कि मन-शुद्धि आचरणधर्म्म का उपक्रमस्थान मानी गई है। 'नकल' करते करते भी यदा कदा घुणाक्षर न्याय से (यदि इस नकल को ही असल न मान लिया गया हो, तो) मानव मन 'असल' की ओर अभिमुख हो जाया करता है।

भारतवर्ष में आज जो धर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है, उक्त पाँच धर्म्मकोटियों में कौनसा स्थान है ?, यह प्रश्न है, जिस 'सनातनधर्म्म' के उद्घोष को आगे कर आज रामराज्य, जनसंघ, हिन्दूसभा, आदि वर्गत्र

---

* जिस अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से अनुशीलनात्मक होता है, उसकी स्वरूपव्याख्या शतशो पृष्ठात्मक गीता 'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड में ही देखनी चाहिए।

ाति-धर्म-हिन्दुत्त्व-आदि के व्याज से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र से प्रतिद्वन्द्विता करके
ा अपना महान् पौरुष मान रहे हैं, एवं मनवा रहे हैं। स्पष्ट है कि—

प्रचलित सनातनधर्म,-किंवा हिन्दूधर्म तो आज 'अनुकरणधर्म' नाम की
वीं कोटि का भी अतिक्रमण कर गया है। शास्त्रसिद्ध-श्रौतस्मार्त्त-विधि-
ानों-पद्धतियों की अनुकरणवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाला लोकवित्तैषणामात्र-
र्थक अनुकरणात्मक धर्म का भी आज के 'सनातनधर्म' में प्रवेश निषिद्ध
आज तो मानवीय कल्पनाओं से सद्यःप्रसूता मान्यताएँ हीं 'धर्म' बनीं
हैं। मान्यताएँ 'मुण्डे मुण्डे रुचिर्भिन्ना' के अनुसार पृथक् पृथक् हैं।
एव तदनुप्राणित ये काल्पनिक धर्म भी आज असख्य-संख्याओं में विभक्त
रहे हैं। यों स्वार्थलिप्सु-लोक-वित्तैषणा-पथानुवर्त्ती हिन्दूमानव ने आज अनेक
ों में विभक्त मान्यतात्मक-सामयिक उन 'मतवादों' को ही 'सनातनधर्म' मान
ता है, जिनका तत्त्वत 'धर्म' से यत्किञ्चित्' भी तो सम्पर्श नहीं है। और
ने इस मतवादात्मक धर्म से स्वय अपने में हो अहोरात्र कलह विघटन-ईर्ष्या-
ादि का अनुदिन विस्तार करता हुआ ऐसा मतवादाभिनिविष्ट हिन्दु जब राष्ट्रसत्ता
धर्म का पाठ पढाने के लिए उतावला दिखलाई देने लगता है, तो सचमुच
के इस आत्यन्तिक पतन से 'हिन्दू' होने के नाते हमें स्तब्ध रह जाना
ता है।

अनुकरणात्मक धर्म-जो श्रौतस्मार्त आचरणात्मक धर्मों की प्रतिकृति है-
ाज किस वर्ग में प्रचलित है?, जब यह प्रश्न हमारे सम्मुख आता है, तो
सम्बन्ध में भी हमें स्तब्ध ही बना रह जाना पड़ता है। ग्रहशान्ति-विवाह-
ोपवीत यज्ञ आदि आदि कर्म कराने वाले ब्राह्मणों को इस 'अनुकरणक्षेत्र'
पात्र माना जा सकता था, यदि इनके ये अनुकरण पद्धतियों के ही अनुरूप
ते, तो। किन्तु देख रहे हैं, एवं सुन रहे हैं कि, इन अनुकरणों में भी अर्थदासता
कारण यजमानों की 'इच्छा' ही प्रमुख बनी हुई है। जैसा जितने समय में यजमान
ाहते हैं, इन्हें वैसा उतने समय में हीं वैसा ही अनिच्छयापि करना पड़ रहा है।
ौर यों अपनी दयनीय स्थिति के कारण इन अनुकरणप्रिय धर्मिष्ठ ब्राह्मणों के

लिए अनुकरण भी करने का अधिकार भी आज शेष नहीं रह गया है। हाँ वैयक्तिकरूप से एकान्त में गच्छत-स्खलनरूप से अपने लिए कुछ करते होंगे, उ धर्म को अवश्य ही 'अनुकरणधर्म' कहा जा सकता है। किन्तु ?। 'किन्तु' पर इसलिए कि, मूलनिष्ठा से असंस्पृष्ट ऐसा अनुकरणात्मक धर्म्म, साथ ही लालानुख से सम्बद्ध इस अनुकरणधर्म्म के साथ छल. दोनों की इस प्रतिद्वन्द्विता ने ब्राह्मण-वर्ग को आज सर्वथा निस्तेज हो प्रमाणित कर दिया है। फलस्वरूप ध के महान् फलरूप सुख-शान्ति-के ठीक विपरीत दुःख-अशान्ति पारस्परिक स्तर में ही राग-द्वेष-ईर्ष्यादि का ताण्डवनृत्य जागरूक है। हम परिचित हैं उन अनु करणधर्म्म के अनुयायियों से, जो घण्टों पूजनपाठ तर्पण-मानसिक उपासनाओं में तल्लीन रहते हैं, साथ ही यदा कदा लोकक्षेत्रों में भी धर्म्म का उद्घोष करने में किसी से पीछे नहीं हैं। किन्तु ऐसे ही धर्म्मनिष्ठों ने विदिनयुग में अपने यज्ञकर्म से हिटलर-तोजो-को यज्ञाग्नि में भस्म करने का अभिनय किया था विश्वशान्ति के नाम पर, तो आज वे ही वर्त्तमान सत्तातन्त्र के अनुग्रह के लिए लालायित हैं। अतएव कह देना चाहिए, और मान लेना चाहिए कि आज तो 'शरीर निबन्धन-अनुकरण धर्म्म' भी सर्वथा अभिभूत ही प्रमाणित हो चुका है। ठीक इसके विपरीत जिस प्रकार नीति-क्षेत्रों में आज सर्वात्मना 'अनीति' प्रवर्द्धमाना है, एवमेव अनुकरणात्मक धर्म्मक्षेत्रों में भी आज सर्वात्मना मतवा त्मक अधर्म्म' ही पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं, जिन हृदयभूता अनीतिरू नीतियों का, तथा अधर्म्मरूप धर्म्मों का चीत्कार करते हुए हमनें हमारे भारतराष्ट्र शताब्दियों से आत्म-बुद्धि-मनो-दास ही प्रमाणित कर लिया है।

आचरणधर्म्म का मानव के मनस्तन्त्र से सम्बन्ध है। मानसिक आस्था श्रद्धा से समन्वित शास्त्रपद्धतिपूर्वक वैयक्तिक-सामाजिक सामान्य-विशेष-धर्म का निर्व्याजरूप से अनुगमन करना ही 'आचरणधर्म्म' है, जिसके लिए शास्त्र -'आचारः परमो धर्म्मः' कहा है। सत्यभाषण-अहिंसा-अस्तेय-आदि सामा धर्म्म है, जिसमें मानवमात्र अधिकृत है। वर्णधर्म्म विशेष-धर्म्म हैं, जिनका वर्ण मानव को ही अधिकार है। वर्णधर्म्मरूप विशेषधर्मों की स्वरूपव्याख्या पूर्व अनुकरणधर्म्म से ही गतार्थ है। आश्रमव्यवस्था से पराङ्मुख वर्णधर्म्म आज ह

शिथिल हो चुके हैं। दूसरा विभाग शेष रह जाता है सत्य–अहिंसा–आदि -आचार धर्म्मों का। और यह महत्–सौभाग्य है भारतराष्ट्र का कि, आज निरपेक्ष की भारतराष्ट्र किसी चिरन्तन प्राक्तन संस्कारानुग्रह से इस सामा- को मानव के लिए आवश्यक इसलिए मान रहा है कि, राष्ट्र के कर्या- श्री गांधी जी ने सत्य–अहिंसा आदि की प्रचण्ड घोषणाएँ कर डाली हैं। या विश्वसनीय है कि, यदि वर्णाश्रम–सिद्ध आचरणात्मक विशेषधर्म्मों की द्धा मर्य्यादाओं की भाँति राष्ट्र के वे पूर्वनेता सत्य–अहिंसादि सामान्य- ो भी 'मानवता'–'मानव–धर्म्म' के शत्रु उद्घोषित कर जाते, तो तदनु- ाज उसी प्रकार इन सत्य–अहिंसादि सामान्यधर्म्मों से भी अपने आपको नेरपेक्ष ही घोषित कर देते, जैसे कि विशेषधर्म्मों को आज उसी अनुकरण ाह से आज इन्हों नें मानवधर्म्म के विरोधी–धर्म्म घोषित कर दिए हैं। ौभाग्य इन सामान्यधर्म्मों का यह भी रहा है कि, प्राय. विश्व के मानव- इनकी चिरन्तन उपयोगिता स्वीकार कर रक्खी है। विशेषधर्म्म सुसूक्ष्म सम्बन्ध रखते हैं, प्रकृति के ज्ञानविज्ञानजगत् से सम्बन्ध रखते हैं। उनका तो खण्डन सभी भूतवादी कर ही सकते हैं। किन्तु परित्याग नहीं हैं–अपने समाजों का इन विशेषधर्म्मों से आजतक भी वे।

, तो जो दुर्दशा अनुकरणात्मक धर्म्म की है, वही अवस्था मनोनिबन्धन धर्म्मों की है, जिनमें विशेषधर्म्मों का न तो आचरण है, न अनुकरण। जाते हैं सत्य–अहिंसा–आदि धर्म्म। इन का भी आज न आचरण से है, न अनुकरण से। न तो देखा–देखी ही आज सत्यभाषणादि का अनु- हो रहा, न आस्थाश्रद्धापूर्वक स्वयं अपने रूप में ही सत्यभाषणादि का ण प्रतीत हो रहा। अपितु ये सामान्यधर्म्म भी आज तो केवल 'घोषणा' ही पथिक बने हुए हैं। जो सत्य की घोषणा न कर अपनी लोकनिष्ठा ता जो कुछ करते हैं, वे श्रेष्ठ माने जायँगे उन व्यक्तियों की अपेक्षा ो घोषणा तो सत्य–अहिंसा की करते हैं, किन्तु आचरणों से आपको असत्य–हिंसक ही प्रमाणित करते रहते हैं। उद्घोषरूप ाचार करने वाले अच्छे हैं उनके समतुलन में, जो प्रतिक्षण

लिए अनुकरण भी करने का अधिकार भी आज शेष नहीं रह गया है। हाँ वे वैयक्तिकरूप से एकान्त में गच्छतः-स्खलनरूप से अपने लिए कुछ करते होंगे, उस धर्म्म को अवश्य ही 'अनुकरणधर्म्म' कहा जा सकता है। किन्तु ! 'किन्तु' पाठ इसलिए कि, मूलनिष्ठा से असंस्पृष्ट ऐसा अनुकरणात्मक धर्म्म, साथ ही लालानुबन्ध से सम्बद्ध इस अनुकरणधर्म्म के साथ छल, दोनों की इस प्रतिद्वन्द्विताने इस ब्राह्मण-वर्ग को आज सर्वथा निस्तेज ही प्रमाणित कर दिया है। फलस्वरूप धर्म्म के महान् फलरूप सुख-शान्ति-के ठीक विपरीत दु.ख-अशान्ति पारस्परिक रूप में ही राग-द्वेष-ईर्ष्यादि का ताण्डवनृत्य जागरूक है। हम परिचित हैं उन अनु-करणधर्म्म के अनुयायियों से, जो घन्टों पूजनपाठ तर्पण-मानसिक उपासनाओं में तल्लीन रहते हैं, साथ ही यदा कदा लोकक्षेत्रों में भी धर्म्म का उद्घोष करने में किसी से पीछे नहीं हैं। किन्तु ऐसे ही धर्मिष्ठों नें ब्रिटिनयुग में अपने यशार्थ से हिटलर-तोजो-को यशाग्नि में भस्म करने का अभिनय किया था विश्वशान्ति के नाम पर, तो आज वे ही वर्तमान सत्तातन्त्र के अनुग्रह के लिए लालायित हैं। अतएव कह देना चाहिए, और मान लेना चाहिए कि आज तो 'शरीर निबन्धन-अनुकरण धर्म्म' भी सर्वथा अभिभूत ही प्रमाणित हो चुका है। ठीक इसके विपरीत जिस प्रकार नीति-क्षेत्रों में आज सर्वात्मना 'अनीति' प्रवर्द्धमाना है, एवमेव अनुकरणात्मक धर्मक्षेत्रों में भी आज सर्वात्मना मतवादात्मक 'अधर्म्म' ही पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं, जिन इत्यभूता अनीतिमय नीतियों का, तथा अधर्मरूप धर्म्मों का चीत्कार करते हुए हमनें हमारे भारतराष्ट्र शताब्दियों से आत्म-बुद्धि-मनो-दास ही प्रमाणित कर लिया है।

आचरणधर्म्म का मानव के मनस्तन्त्र से सम्बन्ध है। मानसिक आस्था श्रद्धा से समन्वित शास्त्रपद्धतिपूर्वक वैय्यक्तिक-सामाजिक सामान्य-विशेष-धर्म्म का निर्व्याजरूप से अनुगमन करना ही 'आचरणधर्म्म' है, जिसके लिए शास्त्र -'आचारः परमो धर्म्मः' कहा है। सत्यभाषण-अहिंसा-अस्तेय-आदि सामान्य धर्म्म है, जिसमें मानवमात्र अधिकृत है। वर्णधर्म्म विशेष-धर्म्म है, जिनका वर्ण मानव को ही अधिकार है। वर्णधर्म्मरूप विशेषधर्म्मों की स्वरूपव्याख्या पूर्व अनुकरणधर्म्म से ही गतार्थ है। आश्रमव्यवस्था से पराङमुख वर्णधर्म्म आज स

ई प्रकृति से पर अवस्थित 'अव्ययात्मधर्म्म', जिसे शाश्वतधर्म्म कहा गया यही मानवीय जीवात्मा के स्वरूपबोध की प्रतिष्ठा है, जिससे अपरिचित रहने रण हीं केवल प्रकृतिवादियों ने सामान्यधर्म्मों की घोषणा तो कर डाली। ये घोषणाएँ 'निष्ठा' न बन सकीं। फलस्वरूप न अनुशीलन रहा, न अनु- रहा, न आचरण। एवं नापि अनुकरण। रह गई केवल नैतिकता की घोष- , जो घोषणाएँ केवल घोषणाएँ बन बन कर हीं उपशान्त होती रहतीं हैं।

तथ्य यही है कि, प्रकृति स्वयं अपना न तो नियन्त्रण ही कर सकती, न स्थित ही रह सकती। हां प्रदर्शन बहुत बढ़ा कर सकती है, करती रहती है। त को जबतक पुरुष के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जाता, तब तक त कदापि अनुशीलन-अनुसरण-आचरण-अनुकरण-नहीं कर सकती। ष, और प्रकृति' यही मानवस्वरूप की सम्पूर्ण व्याख्या है। पुरुष ही वव्यक्ति है, प्रकृति ही मानवसमाज है, जो भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर से चतुर्धा विभक्त है। इन चारों मानवीय प्रकृतियों में पूर्व-पूर्व का नियन्त्रण -उत्तर पर्व पर रहे, तभी मानव की प्रकृति व्यवस्थित रह सकती है। यदि काम केवल प्रकृति पर ही छोड़ दिया जाता है, तो इस प्रकृति का जो सर्व- धिक व्यक्त-मूर्त-भौतिक-बलवान् पर्व है, वही प्रकृति का मूलाधार बन ा है। और उस दशा में मानवीय प्रकृति का उत्थान भूतात्मा से न होकर -भौतिक-शरीर से हो पड़ता है। परिणामस्वरूप शरीर की ही प्रधानता जाती है इन चारों में। शरीर मन पर अधिकार कर लेता है, मन-बुद्धि बुद्धि भूतात्मा पर अधिकार प्रतिष्ठित कर लेती है। शारीरिक स्वार्थ र्थतन्त्र) ही मानवप्रकृति का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। अतएव इन चारों कृतिक पर्वों के अनुशीलन-अनुसरण-आचरण-अनुकरण--अर्थप्रधान हीं जाते हैं। जिन से अर्थसिद्धि हो, वैसे ही अनुशीलन, वैसे ही अनुसरण, ही आचरण, एवं वैसे ही अनुकरण। परिणाम की व्याख्या व्यर्थ है आज अर्थपरायणात्मक भयानक युग में।

घोषणा तो करते रहते हैं भ्रष्टाचार के निरोध की, किन्तु स्वयं प्र
रूप से भ्रष्टाचार-प्रवृत्तियों के मूलकोष ही बने रहते हैं। इसलिए तो
व्याजधर्म्माचरण करने वाले से उद्घोषित अधर्म्मवादी को कहीं श्रेष्ठ
है शास्त्र ने ।

ऐसा क्यों ?। धर्म्मानुसरण का अभाव। आचरण की अनुसरण
है शुद्धबुद्धि से। शुद्धबुद्धि की सहजनिष्ठा ही मानवीय मन को निर्व्याज-नि
रूप से धर्म्माचरण का अनुगामी बनाती है। अपने अन्तर्जगत में शु
के द्वारा प्राप्त होने वाला 'साक्षी' भाव ही 'अनुसरण' कहलाय
यही अनुसरणात्मक सूक्ष्मधर्म्म है, जिसके द्वारा मनोनिबन्धन व्यक्त आचरण
धर्म्म निश्छलरूप से क्रियारूप में परिणत होता है।

बुद्धि का यह विशुद्धि-करण, तद्रूप यह अनुसरणभाव कैसे प्राप
इसका उत्तर है-'अनुशीलनधर्म्म'। 'अनुशीलन' ही अनुसरण का
धिष्ठान बनता है। अव्यक्तगर्भित महदक्षरब्रह्म के गर्भ में प्रतिष्ठित
भासरूप ईश्वरीय जीवांश (भूतात्मा) का इस चिद्भाव के प्राथ
बुद्धिपूर्वक तत्त्वानुशीलन—तत्त्वचिन्तन—ज्ञानविज्ञानरहस्यान्वेष
भूतात्मा का ज्ञानुशीलनधर्म्म माना गया है। इसी के लिए-'तत्त्वज्ञा
श्रेयसाधिगम.' यह सूत्र विहित है। भूतात्मानुगत सात्त्विक बौद्धिक चिन्त
अनुप्राणित आस्थाश्रद्धा से परिपूर्ण ज्ञानविज्ञानसंस्कार ही 'अनुशीलन' है। इ
बुद्धि अनुसरण करती है। ऐसी अनुसरणात्मिका शुद्धबुद्धि की साक्षी में है
निश्छलरूप से धर्म्माचरण करता है। एवं ऐसे आचरणनिष्ठ मानवों की
में अनुकरण करने वाले भी मेरे जैसे शरीरधर्म्मा कालान्तर में आचरण
नुगामी बन सकते हैं, जैसाकि एक तत्त्वनिष्ठ-चिन्तनशील-बुद्धिनिष्ठ-मनोवैश
शिक्षाशास्त्री की साक्षी में अबोध बालवृन्द अनुकरण करता करता एक
आचरण-अनुसरण-अनुशीलन-परम्पराओं का पात्र बन जाया करता है।

आस्थाश्रद्धासमन्विता-तत्त्वचिन्तननिष्ठा की प्रवृत्ति कैसे हो ?, यही मौ
प्रश्न है, जिसका उत्तर स्वयंप्रभा 'संवित्' पर ही अवलम्बित है। और

कृति से पर अवस्थित 'अव्ययात्मधर्म्म', जिसे शाश्वतधर्म्म कहा गया मानवीय जीवात्मा के स्वरूपबोध की प्रतिष्ठा है, जिससे अपरिचित रहने हीं केवल प्रकृतिवादियों में सामान्यधर्मों की घोषणा तो कर डाली। घोषणाएँ 'निष्ठा' न बन सकीं। फलस्वरूप न अनुशीलन रहा, न अनु–ा, न आचरण। एवं नापि अनुकरण। रह गई केवल नैतिकता की घोष-ो घोषणाएँ केवल घोषणाएँ बन बन कर हीं उपशान्त होती रहतीं हैं।

प यही है कि, प्रकृति स्वय अपना न तो नियन्त्रण ही कर सकती, न ा ही रह सकती। हाँ प्रदर्शन बहुत बड़ा कर सकती है, करती रहती है। ो जबतक पुरुष के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जाता, तब तक ापि अनुशीलन–अनुसरण–आचरण–अनुकरण-नहीं कर सकती। और प्रकृति' यही मानवस्वरूप की सम्पूर्ण व्याख्या है। पुरुष ही यक्ति है, प्रकृति ही मानवसमाज है, जो महात्मा–बुद्धि–मन–शरीर चतुर्धा विभक्त है। इन चारों मानवीय प्रकृतियों में पूर्व-पूर्व का नियन्त्रण त्तर पर्व पर रहे, तभी मानव की प्रकृति व्यवस्थित रह सकती है। यदि केवल प्रकृति पर ही छोड़ दिया जाता है, तो इस प्रकृति का जो सर्व– व्यक्त–मूर्त–भौतिक–बलवान् पर्व है, वही प्रकृति का मूलाधार बन । और उस दशा में मानवीय प्रकृति का उत्थान महात्मा से न होकर भौतिक–शरीर से हो पड़ता है। परिणामस्वरूप शरीर की ही प्रधानता ो है इन चारों में। शरीर मन पर अधिकार कर लेता है, मन–बुद्धि द्धि महात्मा पर अधिकार प्रतिष्ठित कर लेती है। शारीरिक स्वार्थ न्त्र) ही मानवप्रकृति का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। अतएव इन चारों के पर्वों के अनुशीलन–अनुसरण–आचरण–अनुकरण—अर्थप्रधान हीं ते हैं। जिन से अर्थसिद्धि हो, वैसे ही अनुशीलन, वैसे ही अनुसरण, आचरण, एवं वैसे ही अनुकरण। परिणाम की व्याख्या व्यर्थ है आज विणामक भयानक युग में।

अतएव आवश्यक है कि-स्वयं प्रकृति के हाथों में प्रकृति का निय
दिया जाय, नीति को प्रकृति से नियन्त्रित न किया जाय । अपितु धर्म
नीति का नियन्त्रण किया जाय । अर्थात् पुरुष से प्रकृति का नियन्त्र
जाय । इस से होगा यह कि, पुरुष की महती शक्ति से सशक्त भूतात्मा अ
धर्म्म का अनुगमन करने लग पडेगा । इस अनुशीलनधर्म्म से भूतात्मा
को अनुसरणधर्म्म के द्वारा नियन्त्रित कर लेगा । इस अनुसरणधर्म
आचारधर्म्म के द्वारा के मन को नियन्त्रित कर लेगी । एव इस आचरण
मन अनुकरणधर्म्म के द्वारा शरीर को नियन्त्रित कर लेगा । यों मानव
प्रकृतिपर्व नियन्त्रित बनें रहेंगे । और यही मर्य्यादित-धार्म्मिक जीवन म
का महान् पुरुषार्थ-(आत्मार्थ)-माना जायगा, जिसकी मूलप्रतिष्ठा
अतीत अव्ययपुरुषरूप 'सवित् धर्म्म' ही बना हुआ है ।

'सवितृधर्म्म' रूप अव्ययात्मधर्म्म ही सनातन-अप्राकृत-शा
धर्म्म है, जिसे आधार बना कर ही नीतिरूप अनुशीलनादि चारों
धर्म्म-'धर्म्म' कहे जा सकते हैं । इन चारों प्रतीक धर्म्मों का अ
'सवितृ' रूप आत्मधर्म्म पर ही अवलम्बित है, जिसे विस्मृत कर
वाला भारतराष्ट्र आज पदे पदे—शास्त्रचिन्तनात्मक अनुशीलन
आभ्यन्तरक्रियात्मक अनुसरणधर्म्म-बाह्यक्रियात्मक आ
धर्म्म-एवं प्रदर्शनात्मक आचरणधर्म्म-शब्दों के माध्यम से-
धर्म्म-धर्म्म-चिल्लाता हुआ भी उन धर्म्मनिरपेक्ष-केवल नीतिवा
भी कहीं अधिक पतन का अनुगामी बनता हुआ इस दृष्टि से न
धर्म्मनिरपेक्ष ही, अपितु धर्म्मनामव्याज से धर्म्मविध्वंसक हो

।जा रहा है। और इस प्रमाणन के साथ साथ ही यह अपने ।विरोधी अन्तराल से मानो यह भी प्रश्न करता जा रहा है कि–

क्या हम मानव हैं ?

केधर्म –मविद्धर्म –अव्ययात्मानुगत (सर्वतन्त्रानुगतो धर्म्म –ब्रह्मनिष्ठधर्म्म)
(पुरुषधर्म –सनातन)

अनुशीलनधर्म्म – भूतात्मानुगत	(तत्त्वचिन्तनात्मक)–	नीतितन्त्रानुगतो धर्म्म	(ब्राह्मणधर्म्म)
–अनुसरणधर्म्म — बुद्ध्यनुगत	(आभ्यन्तरक्रियात्मक)–	अनुशासनतन्त्रानुगतो धर्म्म	(क्षत्रियधर्म्म)
–आचरणधर्म्म ——मनोऽनुगत	(विधिनिषेधात्मक)–	गणतन्त्रानुगतो धर्म्म	(वैश्यधर्म्म)
–अनुकरणधर्म्म ——शरीरानुगत	(प्रदर्शनात्मक)–	प्रजातन्त्रानुगतो धर्म्म	(शूद्रधर्म्म.)

समान्धर्म्मा –प्राकृता एते प्रतीकधर्म्मा –नीतिरूपा

पूर्वोपवर्णिता धर्म्म, और नीति–स्वरूप–व्याख्या के अनुपात से ही ानवता' से सम्बन्ध रखने वाले अव्ययात्मनिबन्धन–शाश्वत–सनातन–वैय्यक्तिक–प्राकृत–सविद्धर्म्म, तथा तदाधारेण प्रतिष्ठित प्रकृतिसिद्ध–प्रतीकात्मक–प्राकृत–ामाजिक–चतुर्विध–अनुशीलन– अनुसरण–आचरण–अनुकरणात्मक–नुष्ठेय–धर्म्मलक्षण नीतिधर्म्म, इन दोनों का एक अन्य दृष्टि से भी समन्वय कर लीजिए।

मानव अब 'व्यक्ति', और 'समाज', इन दो मुख्य स्थानों में वि
बन गया। मानव के ये दो सस्थान हीं क्रमश 'धर्म्म', और 'नीति' के
उदय (विनिर्गम स्थान) बनें। व्यक्ति भी चतुष्पर्वा है, समाज भी चतु
है। यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, विश्व के किसी भी प्रान्त का कोई
शिक्षित-सभ्य अशिक्षित-असभ्य समाज हो सर्वत्र इन चार पर्वों का, चार
का येन केन रूपेण समावेश रहेगा ही, निश्चयेन रहेगा। ही। क्योंकि मान
मूलरूप में आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर ये चार वर्ग स्वत सिद्ध हैं। न के
मानव में हीं, अपितु यच्चयावत प्राणियों में। न केवल प्राणियों में ही,
यच्चयावत् पदार्थों में, जड़-चेतन में सर्वत्र-'न्यायोऽय भैरवेणोक पदार्थ
खिलेष्वपि'। यही चातुर्वर्ण्य की व्यापकता का स्वरूप-दिग्दर्शन है।

चार वर्ण सर्वत्र, किन्तु चारों का समाजरूप से व्यवस्थापन एकमात्र भारतीय
में हीं। यही कारण है कि, मानवों का समन्वय जहाँ समसञ्जन का अनुगामी बना
'समाज' कहलाया है, वहाँ पशुओं का केन्द्रविच्युत समूह इस निर्विरोधात्मक
न्वय से पृथक् रहता हुआ केवल-'समज' कहलाया है,-'समज -पशूनाम्, स
मानवानाम्' ही सिद्धान्त पक्ष है। 'समज' शब्द ही आगे चल कर * यूथ
संघ-आदि भावों में परिणत हो गया है, जिसके साथ आत्मप्रतिष्ठात्मक के
कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञानप्रधानवर्ग, बल-पौरुषप्रधानवर्ग, अर्थप्रधानवर्ग, गुणधर्म्मप्रधा
इन चारों विभिन्न वर्गों को एक केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित कौन रक्खे, जिस से प्राक
चतुर्विध-शक्तियों के प्रतीकरूप ये चारों विभिन्न वर्ग समसञ्जनरूप निर्विरो
से समसमन्वित रहते हुए अपने 'समाज' स्वरूप से सुव्यवस्थित बनें
यही वह प्रश्नस्थान है-जहाँ धर्म्म, और नीति शब्दों का प्रादुर्भाव होता

---

* संघ-सार्थौ तु जन्तुभिः। सजातीयैः कुलम्। यूथं-ति
पुंनपुंसकम्। पशूनां समजः। अन्येषां समाजः।
(अमरकोष-२ का०। सिंहादिवर्ग ४१,४२,)

मानव ही मानव की व्यवस्थाओं का सञ्चालन करने लग पड़े गम्भीरता-, बुद्धिपूर्वक, सगघटनपूर्वक, यही नीतिपक्ष है। मानव अपने इन पक्षों के मूलाधाररूप अव्ययात्मब्रह्म-लक्षण मूलप्रतिष्ठा की साक्षी में ही समाजव्यवस्था को व्यवस्थित रक्खे, यही धर्म्मपक्ष है×। इन दोनों दृष्टिकोणों का अर्थ स्पष्ट है। प्रकृति से ही प्रकृति को व्यवस्थित किया, यही नीतिपक्ष है। एवं पुरुष (अव्यय) के नियन्त्रणसूत्रों के माध्यम से ति को सुव्यवस्थित रक्खा जाय, यही धर्म्मपक्ष है। लौकिक उदाहरण समन्वय किया जा सकता है इन दोनों पक्षों का कि, शक्ति से शक्ति का मन करना ही नीतिपथ है, एवं शक्तिमान् के द्वारा शक्तियों का मन करना ही धर्मपथ है। लोकभाषा में यों कहलीजिए कि, अस्त्रों से यों का नियमन करना ही नीतिपथ है, एवं आत्मसाम्योपायों से लालसा को नियमित कर देना ही धर्म्मपथ है।

मानवेतर पश्वादि यच्चयावत् प्राणी केवल प्राकृत प्राणी हैं। इन में भावमात्र है, आत्मभाव नहीं, जैसा कि प्रथम वक्तव्य में स्पष्ट किया जा है। विशुद्ध प्रकृतिरूप पश्वादि प्राणियों को स्वस्वरूप में (प्रकृतिस्वरूप में) ष्ठित रखने वाला जो प्राकृतिक नियमनसूत्र है, जिस सूत्र से पशु 'समज' में ('समाज' रूप में नहीं) परिणत हो रहे हैं, यूथ बना कर रहते हैं, हैं, पीते हैं, प्रजनन करते हैं। मन-शरीरनिबन्धन वे सभी काम-काज ते हैं, जो प्रकृत्या मानव करता है। यही प्रकृतिसिद्ध वह 'नीतिपक्ष' है, के आधार पर पश्वादि अनात्म-प्राणियों की लोकभोगकामार्थरूपा वर्त्तमान-नपद्धति का प्रकृतिरूप से सञ्चालन हो रहा है। यही आत्मधर्म्मनिरपेक्ष प्राकृतिक नीतितन्त्र है, जिस से पश्वादि प्राणियों का 'समज' रूप माज प्रमान्त है इस विश्वप्राङ्गण में। वर्त्तन (आचरण) सभी प्राणियों

×-इसी आधार पर केवल प्रकृतिवादी-अनात्मवादी लौकिक मानव (चान्द्र-निक) न्यायालयों में साक्षीदान-प्रसङ्ग में जहाँ केवल 'गम्भीरता-नैतिकता' माध्यम बनाता है, वहाँ ईश्वरवादी 'ईश्वर-धर्म्म' को माध्यम बनाता है।

का अधिकांश में समान है इस प्राकृतिक क्षेत्र में । किन्तु समदर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है यहाँ, जिस की प्रतिष्ठा आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व ही माना गया है। अतएव संस्कारशून्य हैं ये प्राकृतिक पश्वादिवर्ग । अतएव केवल 'वर्तमान' के अतिरिक्त न इन में सम्कारानुबन्धी अतीत है, न भविष्य है । समदर्शनवर्जित किन्तु समवर्तनात्मक इस नीतिरूप व्यवस्थातन्त्र के कारण ही 'जीवो जीवस्य भक्षकः' इस पशुधर्म्म का आविर्भाव हुआ है । प्रकृति का प्रकृति के साथ प्रचण्ड सघर्ष, शक्ति से शक्ति का दलन, यही इन पश्वादि प्राणियों के जीवनसत्ता का चिरन्तन इतिहास है । पुत्र पिता को खा सकता है, माता पुत्र को खाकर भूख मिटा सकती है । अधिक शक्तिशाली निर्बल को खा कर ही अपना शक्तिसाम्राज्य फैलाता है पशु नगन्-वन तात्कालिक कामभोगात्मक स्वार्थ ही इस आत्मधर्म्मवञ्चिता, धर्म्मनिरपेक्षा नीति का एकमात्र महान् कौशल है ? ।

क्या मानवसमाज का स्वरूप इत्थभूत पशुप्रकृतितन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले नीतितन्त्र पर ही विश्रान्त है ? । नहीं । मानव में कुछ अधिक भी है इस पशु की अपेक्षा से । उस 'अधिक' का नाम ही है वह अध्ययात्मा, जिससे मानव के 'प्रकृति' ही प्रकृति नहीं है । अपितु प्रकृति को नियन्त्रित रखने वाला 'पुरुष' प्रकृत्यर्थ मानव का धर्म्म नहीं है । यह तो मानव की नीति है, जिसका लोक में आज प्राकृत मानव-'जीओ, और जीने दो' जैसे श्लथ-वाक्य से उद् करता फिरता है । पुरुषार्थलक्षण आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व ही इस मानव का धर्म्म है, जिसके आधार पर मानव ने पौरुषयुक्ता यह घोषणा की है कि 'मा कश्चिद्दु खभाग् भवेत्-सर्वे सन्तु निरामया.'–अमृतस्य पुत्रा अभू विश्वस्वरूपलक्षणा विश्व की शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए 'राष्ट्र-मा अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है । राष्ट्रप्रतिष्ठा के लिए 'परिवारमा अपना बलिदान कर देता है । एवं परिवाररूप कुल की प्रतिष्ठा के लिए 'व्य मानव' अपने आपको समर्पित कर देता है, क्योंकि इत्यभूत व्यक्तिमान परम्परया परिवार-समाज-राष्ट्र-एवं विश्व-शान्ति का उद्देश्यवाहक बनता ! 'विश्वमानव' जैसी अलौकिक 'पुरुष' अभिधा से

क्तिमानव ही–'अणोरणीयान्' है केन्द्रदृष्टि से। एवं विश्वमानव ही 'महतो-
यान्' है महिमामण्डल की दृष्टि से। जो मानव अपने वैयक्तिक अणोरणी-
केन्द्रबिन्दु को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रख सकता है, वही व्यक्तिमानव महतो-
यान् महिमामण्डल के स्वरूप में परिणत होता हुआ 'विश्वमानव' बन सकता
केन्द्र, और महिमा, ये दोनों धर्म क्या प्रकृति के हैं ?। क्या केवल प्राकृत
मात्रपरायण मानव अणोरणीयान् केन्द्रभाव, एवं महतोमहीयान् महिमाभाव
ग्राहक बन सकता है ?। कदापि नहीं। क्योंकि ये दोनों धर्म तो उस अव्यय-
के हैं, जिसे मानव का 'आत्मा' कहा गया है, जो कि–'शाश्वतस्य च
नित्य' रूप से धर्ममय है, धर्मरूप है। देखिए ! श्रुति क्या कह रही है इस
न्ध में !—

> अणोरणीयान्–महतो महीयान्–
> आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
> तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
> धातुप्रसादान्महिमानमीशम्॥
> —उपनिषत्।

प्रकृति को प्रकृति के लिए जब जीवित रहने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता
तो सुन्दोपसुन्दन्याय से प्रकृति ही प्रकृति को खा जाती है, और उस अवस्था में
नव का 'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त और कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता।
राजानुबन्धिनी 'प्राकृतनीति' का यही इतिहास है, जिसका अन्त (मृत)में उपक्रम
कर अन्त पर ही पर्य्यवसान है। जब मानव पुरुष के (अव्ययात्मा के) लिए प्रकृति
सामाजिकता प्रदान करता है, तो उस अवस्था में त्रिगुणात्मक प्राकृतिक
रीरानुबन्धी दम्भ, मनोऽनुबन्धी मान, बुद्ध्यनुबन्धी मद, एवं प्राकृतभूतात्मा-
यात्मानुबन्धी मोह, चारों ही उपशान्त हो जाते हैं। दम्भ-मान-मद-मोह-
विनिर्मुक्ता मानवप्रकृति ही वह आत्मप्रकृति है, जिसके द्वारा निर्द्धारिता नीति
मात्र को आत्मधर्ममूलक सममञ्जनरूप-समदर्शनात्मक, एवं विभक्त कर्त्तव्यात्मक

का अधिकांश में समान है इस प्राकृतिक क्षेत्र में । किन्तु समदर्शन का सम्बन्ध नहीं है यहाँ, जिस की प्रतिष्ठा आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व ही माना गया है । अतएव संस्कारशून्य हैं ये प्राकृतिक पश्वादिवर्ग । अतएव केवल 'वर्तमान' के अतिरिक्त न इन में संस्कारानुबन्धी अतीत है, न भविष्य है । समदर्शनविरुद्ध किन्तु समवर्त्तनात्मक इस नीतिरूप व्यवस्थातन्त्र के कारण ही 'जीवो जीवस्य भक्षक' इस पशुधर्म का आविर्भाव हुआ है । प्रकृति का प्रकृति के साथ प्रचण्ड संघर्ष, शक्ति से शक्ति का दलन, यही इन पश्वादि प्राणियों की जीवनसत्ता का चिरन्तन इतिहास है । पुत्र पिता को खा सकता है, माता पुत्र को खाकर भूख मिटा सकती है । अधिक शक्तिशाली निर्बल को खा कर ही अपना शक्तिसाम्राज्य फैलाता है पशुजगत् का तात्कालिक कामभोगात्मक स्वार्थ ही इस आत्मधर्मवञ्चित, धर्मनिरपेक्ष नीति का एकमात्र महान् कौशल है ? ।

क्या मानवसमाज का स्वरूप इत्थंभूत पशुप्रकृतितन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले नीतितन्त्र पर ही विश्रान्त है ? । नहीं । मानव में कुछ अधिक भी है इस पशु की अपेक्षा से । उस 'अधिक' का नाम ही है वह अव्ययात्मा, जिसने मानव की 'प्रकृति' ही प्रकृति नहीं है । अपितु प्रकृति को नियन्त्रित रखने वाला 'पुरुष' प्रकृत्यर्थ मानव का धर्म नहीं है । यह तो मानव की नीति है, जिसका लोक में आज प्राकृत मानव-'जीओ, और जीने दो' जैसे श्लथ-वाक्य से उद्घोष करता फिरता है । पुरुषार्थलक्षण आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व ही इस मानव का धर्म है, जिसके आधार पर मानव ने पौरुषयुता यह घोषणा की है कि 'मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्-सर्वे सन्तु निरामया'–अमृतस्य पुत्रा अमृ विश्वस्वरूपलक्षणा विश्व की शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए 'राष्ट्र-मानव' अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है । राष्ट्रप्रतिष्ठा के लिए 'परिवारमानव' अपना बलिदान कर देता है । एवं परिवाररूप कुल की प्रतिष्ठा के लिए 'व्यक्तिमानव' अपने आपको समर्पित कर देता है, क्योंकि इत्थंभूत व्यक्तिमानव परम्परया परिवार-समाज-राष्ट्र-एवं विश्व-शान्ति का सन्देशवाहक बनता है ।
ऐसी अलौकिक 'पुरुष' अभिधा में अभिव्यक्त ...

मानव हीं-'अणोरणीयान्' है केन्द्रदृष्टि से। एवं विश्वमानव ही 'महतो-यान' है महिमामण्डल की दृष्टि से। जो मानव अपने वैय्यक्तिक अणोरणी न्द्रबिन्दु को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रख सकता है, वही व्यक्तिमानव महतो न् महिमामण्डल के स्वरूप में परिणत होता हुआ 'विश्वमानव' बन सकता न्द्र, और महिमा, ये दोनों धर्म्म क्या प्रकृति के हैं ?। क्या केवल प्राकृत त्रपरायण मानव अणोरणीयान् केन्द्रभाव, एवं महतोमहीयान् महिमाभाव ग्राहक बन सकता है ?। कदापि नहीं। क्योंकि ये दोनों धर्म्म तो उस अव्यय-के हैं, जिसे मानव का 'आत्मा' कहा गया है, जो कि-'शाश्वतस्य च स्य' रूप से धर्म्ममय है, धर्म्मरूप है। देखिए! श्रुति क्या कह रही है इस य में ?—

अणोरणीयान्-महतो महीयान्-
आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमीशम्॥
—उपनिषत्।

प्रकृति को प्रकृति के लिए जब जीवित रहने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता ो सुन्दोपसुन्दन्याय से प्रकृति ही प्रकृति को खा जाती है, और उस अवस्था में व का 'जायस्व-म्रियस्व' के अतिरिक्त और कोई भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता। ानुबन्धिनी 'प्राकृतनीति' का यही इतिहास है, जिसका अन्त (मृत्)में उपक्रम र अन्त पर ही पर्य्यवसान है। जब मानव पुरुष के (अव्ययात्मा के) लिए प्रकृति सामाजिकता प्रदान करता है, तो उस अवस्था में त्रिगुणात्मक प्राकृतिक रानुबन्धी दम्भ, मनोऽनुबन्धी मान, बुद्ध्यनुबन्धी मद, एवं प्राकृतभूतात्मा ात्मानुबन्धी मोह, चारों हीं उपशान्त हो जाते हैं। दम्भ-मान-मद-मोह-वनिर्मुक्ता मानवप्रकृति ही वह आत्मप्रकृति है, जिसके द्वारा निर्द्धारिता नीति ाज को आत्मधर्म्ममूलक समसञ्जनरूप-समदर्शनात्मक, एवं विभक्त कर्त्तव्यात्मक

सुव्यवस्थित 'समाज' निर्माण में समर्थ बनाती है। यही धर्मसापेक्षा और इसी धर्मसूत्र से, आत्मसूत्र से नियन्त्रित भूतात्मा-बुद्धि-मन चारों मानवीय प्राकृत-पर्व निर्विरोध समन्वित होते हुए अपने इत्थंभूत व्यक्तित्व से परिवार-समाज-राष्ट्र-के प्रति सर्वस्व समर्पण करते हुए अन्ततः भी 'व्यक्तिमानव' को महतोमहीयान् 'विश्वमानव' रूप में परिणत करते हैं।

स्पष्टतम है कि, धर्म्म (आत्मा) ही नीति (शरीर) की मूलप्रति बिना धर्मप्रतिष्ठा के नीति में उस नैतिकता का, मर्य्यादा का उदय सम्भव है, जिस धर्मनिरपेक्षा नैतिकता-मात्र के उद्घोष से वर्त्तमान समाजवादी-अपने आपको धर्मनिरपेक्ष मानता हुआ केवल नैतिकता, तन्मूला शून्य तदभिन्न शून्य मानवधर्म्म-जैसी सर्वथा निरर्थक घोषणाओं से राष्ट्र, एवं प्रतारणा करता हुआ, मानव के मौलिक आत्मधर्म्मस्वरूप को एकान्तत करता हुआ 'मानव' के मूलोच्छेद के लिए मानों कटिबद्ध ही बन कर आज इस प्रश्नोत्थान के लिए विवश ही करता जा रहा है कि—

क्या हम मानव हैं ?

धर्मनिरपेक्षा नैतिकता के, विशुद्ध नीति के समर्थक समाजसत्तावादी महानुभाव 'मानवता'-'सह अस्तित्व'-'सह बन्धुत्व' जैसी घोषणाओं के माध्यम से वर्त्तमान राष्ट्र में प्रचलित उच्च-नीच-समृद्ध-आदि मानवता-विरोधी जिन दोषों को हटाने के लिए आकुल-व्याकुल ब जिस प्रकृतिसिद्ध वर्गभेद के मूलोच्छेद के भ्रान्त स्वप्न देखने की महा रहे हैं, उसी के सम्बन्ध में हमें प्रणतभाव से उनसे यह नम्र आवेदन है कि—

"भूल देखना कदापि मानव की भूल नहीं है ।
भूल देखते रहना मानव का स्वाभाविक धर्म्म है—

ल देखने' मात्र पर ही मानव को अपनी दृष्टि विश्रान्त नहीं
देनी चाहिए। तात्पर्य्य–भूल देखने में मानव को कभी भूल
हीं करनी चाहिए। तात्कालिक आवेश में आकर जो मानव भूल
खने में भूल कर जाते हैं, निश्चयेन ऐसी महाभूल करने वाले,
अतएव स्वयं भूल कर बैठने वाले भावुक (भोले) आविष्ट
(प्रतिक्रियावादी) मानवों को यावज्जीवन पश्चात्ताप ही करते
रहना पड़ता है"।

और सम्भवत: ही क्यों, निश्चय ही हम भूल नहीं कर रहे, तो समाजवादी
मानवों की तथाकथित 'भूल देखने' की वृत्ति को हम 'महाभूल' ही कहेंगे,
जिसे कालान्तर में समस्त राष्ट्र को ही पश्चात्ताप का अनुगामी बन जाना पड़ेगा।
मानव मानव को नीचा न समझे, हेय–तिरस्कृत न माने, यही तो
'मानवता' का वह महान् आदर्श है, जिसे मानव भूला है–'शुनि चैव श्वपाके
च पण्डिता: समदर्शिन:' (गीता) इस आत्मधर्म्ममूलक समदर्शनधर्म्म को
विस्मृत कर, जिस भूल के संशोधन के लिए आज का मानवतावादी धर्म्म को
निरपेक्ष मानने की ओर एक भूल–कर रहा है। इस भूल ने ही तो विगत कतिपय-
शताब्दियों से मानव–मानव में विषमदर्शनरूपा तथाकथिता भूल को जन्म दिया
। जिस भूल से, जिस आत्मधर्म्मविस्मृति से मानव यह भूल करता आ रहा
अपने प्राकृत मतवादों के आवेश में आकर, आज उसी भूल को मिटा देने के
लिए आतुर, किन्तु स्वयमपि एक सीमित–सकुचित–मतवादात्मक ही 'कांग्रेसवाद'
के अभिनिवेश में आकर (जो कि आवेश पश्चिमी जगत् का प्रलोभनमात्र है,
अनुकरणमात्र है) स्वयमपि उसी भूल को मानो आज दृढमूल ही
प्रमाणित करता जा रहा है। और यों धर्म्मनिरपेक्षिता से उत्पन्न तात्कालिक
आवेश में आकर यह भूल देखने में ही भूल करता जा रहा है।

अब प्रश्न शेष रह जाता है–'वर्गभेद का'। वही भूल यहाँ भी दोहराई जा
रही है, बड़े आवेश के साथ बार बार दोहराई जा रही है। 'समाज' शब्द का

सीधा सा अर्थ है, अनेक वर्गों का एक केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठ
रहस्यार्थ की बात जाने दीजिए। केवल अक्षरार्थ जानने वाले को भी य
शब्द के उक्त सहज अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी काल्पनिक अर्थ क
नहीं हो सकता। 'अनेकों का एक धरातल पर सम समन्वय' यही
शब्द का अर्थ है, जिसका निष्कर्ष है-"जिस में अनेक वर्ग ऊँच-नी
भाव छोड कर मानवता के समानधरातल पर सुसमन्वित बने
इस सहजभाव से-'वर्गभेद का मूलोच्छेद अर्थ' कैसे कहाँ-से निक
किंवा निकाल लिया गया? प्रश्न का समाधान तो वर्गोच्छेदवादी, कि
असत्य नवीन वर्गों के स्रष्टा समाजवादियों से ही पूँछना चाहिए।

क्या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-इन चार वर्गभेदों का मूलोच्छेद
है आप को?। क्यों?। क्या इन्होंने ऊँच-नीच-का भाव फैलाया है?।
तो अवश्य ही चारों वर्गों का मूलोच्छेद कर डालिए। क्योंकि आप न
मूलो-च्छेद इनका, तब भी मानवता के विरुद्ध ऊँच-नीच-की दृष्टि से
चारों ही वर्ग प्राकृत पशुओं की भाँति स्वयं ही नष्ट हो जायँगे, हो गए
कहाँ है आज मतवादाभिनिविष्ट ब्राह्मण?। कहाँ है आज सत्तामदान्ध
निश्चय ही वे अर्थलोलुप-सम्परिशोषक-विषमताप्रवर्त्तक-वैश्य भी इसी
हो ही जायँगे निकटभविष्य में ही। यदि चौथे वर्ग ने भी यही अभिमान
तो इसका भी विनाश निश्चित ही बन जायगा, जिसका उपक्रम धर्मनिरपे
अनुग्रह से दुर्भाग्यवश हो चुका है। समदर्शनात्मक स्व-स्व-धर्म की उ
के कारण ही, धर्मव्याजानुगत मिथ्याधर्माचरण के द्वारा ही राष्ट्र के
क्षत्रिय-मर चुके हैं, वैश्य मरणासन्न हैं, एवं चतुर्थवर्ग मृत्यु
स्मरण कर चुका है। यों चारों ही वर्ग आपके बिना ही प्रयास के समाप्त
जिसके लिए आप व्यर्थ ही ऐसी घोषणाओं में अपनी रचनात्मिका
का दुरुपयोग कर रहे हैं कि-'हम मिटा के छोड़ेंगे इस वर्गभेद क

जब यों सम्पूर्ण प्राकृतिक वर्गवादों का आप मूलोच्छेद कर डालेंगे
परिणाम होगा?, कभी स्वस्थ-शान्त-स्थिर-प्रज्ञा से आपने यह भी वि

लिया कि नहीं ! । उस अवस्था को तत्वद्रष्टा दार्शनिकों ने कहा है-'प्रकृति साम्यावस्था', जिसका स्पष्ट अर्थ है अपने विश्वसर्ग-स्वरूपसंरक्षक सत्व-रज-(?)-नाम के तीनों प्राकृतिक गुणों से सर्वथा अव्यक्त बनते हुए, प्रकृति का शुद्ध शाश्विक भाव में आते हुए अपने व्यक्त विश्व के साथ साथ व्यक्त-अव्यक्त से पर अवस्थित अव्ययपुरुष में विलीन हो जाना, अर्थात् मानव का (?)त बन जाना, अर्थात् पुराणभाषानुसार प्रलय हो जाना। प्रकृति के विभिन्न (गु)णों का व्यक्तीभाव ही विश्वस्वरूप की प्रतिष्ठा माना गया है भगवन् ! (वि)ज्ञानजगत् में। प्रकृति के वैषम्य को ही सृष्टि का मूलकारण माना है (सा)ंख्यदर्शनने श्रीमन ! । जबतक प्रकृति के गुणभेदात्मक वर्गभेद हैं, तभी (त)क विश्व का प्राकृत स्वरूप सुरक्षित है। अपने इन गुणभेदमूलक विभिन्न (वर्ग)ों को (वर्गवादों को नहीं) प्रकृति अपने गुणविलयन के साथ समरूप में परिणत (क)र लेती है। उस साम्यावस्था में तो न सूर्य्य आकाश में है, न पृथिवी नीचे (है)। न कोई ऊँचा, न कोई नीचा। न वर्गभेद, न समाज। है क्या उस (प्रल)यकाल में ?, सुनिए !

> यदा स देवो जागर्त्ति-तदेदं चेष्टते जगत्।
> यदा स्वपिति शान्तात्मा-तदा सर्वं निमीलति ॥
>
> —मनुः १।५२।

अर्थात् "अव्यक्त-स्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध प्रकृति जब जगती है गुणभावों से, व्यक्त होती है, तो विश्वस्वरूप क्रियामय बन जाता है। जब प्रकृति अपने विभिन्न गुणभावों को अन्तर्लीन कर सो जाती है, साम्यावस्था में परिणत हो जाती है, तो यही प्राकृतिक-साम्यवाद, किंवा प्राकृतिक वर्गभेदमूलोच्छेदक समाजवाद सर्वथा ही विलीन हो जाता है अपने व्यक्त विश्व के साथ साथ" । तो बतलाइए ! जब प्राकृतिक-गुणभेदभिन्न वर्गभेद ही आप मिटा देंगे, तो फिर आपका काल्पनिक 'समाज' कैसे, और कहाँ बनेगा ? । इसीलिए तो हम यह निवेदन कर देने की धृष्टता कर सकते हैं कि, वर्गभेदमूलोच्छेदात्मक इदर्थंभूत समाजवाद आत्मधर्मनिष्ठ भारतीय मानव की कल्पना नहीं है। यह तो उन देशों की कल्पना का अन्धानुकरण-

मात्र है, जिन देशों की प्रज्ञा ने प्रकृति से अतीत, समदर्शनमूलक आ के सम्बन्ध में कभी कोई विचार ही नहीं किया। फलस्वरूप केवल प्रकृ समन्वय के लिए आतुर उन नैष्ठिकोंनें अपने प्राकृत देश के आहार मोगादि प्राकृत मानवों के समन्वय के लिए गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रवाद, प्रजातन्त्र साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, आदि आदि अनेक मतवादों का कर डाला।

प्रकृति का वर्गभेद भी सुरक्षित रहे, किन्तु इस प्राकृतिक वर्गभे मानव विषम न बन जाय' इसीलिए तो यहां प्रकृति के मूल में पु प्रतिष्ठित किया गया। इसीलिए तो आत्मा यहाँ समाज का आधार बना। इ तो धर्म्म को ही नीति के मूल में प्रतिष्ठित करना अनिवार्य्य माना यहाँ की पु प्रज्ञा ने, जिसकी उपेक्षा कर आत्मबुद्धिदासतामूला भावुकता के आवेश में अपने चिरन्तन तत्त्वों को तिरस्कृत कर आज हम अपनी सामाजिक-व्यवस्था लिए प्रकृतिवादियों का ही अन्धानुकरण करते जा रहे हैं—कल्पित 'मान के व्यामोहन से।

उक्त अनुकरण से आप ब्राह्मण-क्षत्रियादि-वर्गों का मूलोच्छेद कर ड और अवश्य कर डालेंगे, यह मान लेते हैं। किन्तु आप मानव के सह भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चार मानवीय वर्गों का तो कदापि मूलोच्छे कर सकेंगे। परिणाम यह होगा कि, मानव के ये ही चारों वर्ग पुनः आपके वाद में एक नवीन साजसज्जा से सहसा समुद्भूत हो पड़ेंगे, और उन नवीन स्वकल्पित वर्गों से ही आपको भी अपने समाजवादके सुसस्वप्नोंमें प्रवृत्त पड़ेगा। क्या हमारे भारतीय कर्णधार नवीन वर्गों की कल्पना, तथा तदाधा नवीन समाजवाद का प्रतिष्ठापन कर लेंगे ?। नहीं, कदापि नहीं। यह काम। नहीं है।। इनके सम्मुख तो राष्ट्र की ओर ओर ही बड़ी बड़ी समस्याएँ उप स्थित हैं। फलतः इस छोटे से काम के लिए ये अपनी कल्पनाशक्ति व अपव्यय क्यों करने लगे ?। अमेरिका का गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र, इंग्लैण्ड प्रजातन्त्र, रूस का अर्थसाम्यात्मक साम्यवाद, एवं अन्यान्य समाजवाद

डा थोड़ा अंश लेकर ही जब इस दिशा में इनकी कल्पना को मूर्त रूप मिल ता है बिना ही प्रयास के, तो फिर यहाँ श्रम-परिश्रम किया भी क्यों जाय ?। और फिर इस भारतीय अतीत की सड़ी-गली-पौंगापन्थी-जीर्ण-शीर्ण प्रज्ञा-कन्था है भी क्या कल्पना के लिए ?। क्यों ? ठीक है न ?।

वस्तुस्थिति यथार्थ है। वास्तव में आज भारतराष्ट्र में साहित्य-संस्कृति-धर्म-राजनीति-समाजव्यवस्था-आदि आदि के नाम से जो कुछ तत्प्रेमियों से, विद्वानों से उपलब्ध हो रहा है, उसे देखते हुए तो अनुकरणात्मिका नवीन कल्पनाओं का ही 'अनुधावन करते रहना अपेक्षाकृत समीचीन हीं माना जायगा। क्योंकि ये सभी एतद्देशीय प्रज्ञाकल्पना के साधन इन नामों के छल से तत्त्वतः भारतराष्ट्र के मौलिक-चिरन्तन-विशुद्ध साहित्यादि के परिपन्थी ही बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में केवल परानुकरण के और कोई भी तो पथ शेष नहीं रह जाता हमारी राष्ट्रीयमता के प्रज्ञाकोश में। एवं यही तो सबकुछ हो पड़ा है, जिसे हम-'वर्ग-विहीन समानतावादी समाजवाद' की उपाधि से सुन रहे हैं।

सुनते हैं, तथाविध समाजवाद के महान् आदर्श ! को सुप्रतिष्ठित करने के लिए आतुर बना हुआ हमारा सत्तातन्त्र सत्तासंघठन के लिए एक विशेष प्रणाली का अनुगामी बन रहा है, जिसे सम्भवतः-'संसदीया शासनप्रणाली'-कहा जा रहा है, जिसका अर्थ किया जा रहा है यही कि—

सर्वप्रथम वयस्क जनता की सम्मति (वोटों) से विभिन्न दलों (पार्टियों) का निर्वाचन (चुनाव) होता है। इन अनेक वर्गों में जो वर्ग 'बहुमत' का कृपापात्र बन जाता है, वही सत्तातन्त्र' निर्माण में अधिकृत-योग्य वर्ग मान लिया जाता है। यही सशक्त वर्ग अपने में से किसी एक को स्वदलशक्त्यपेक्षया सर्वसमर्थ-योग्य-मानता हुआ उसे 'नेतृत्व' पद पर आरूढ कर देता है। और यही नेता अपनी सुविधा के अनुसार-कार्यक्षमता के अनुपात से-उसी सशक्तदल में से अमुक परिगणित दलीय सदस्यों का मन्त्रित्वेन वरण कर इनकी अपेक्षा से स्वयं 'मुख्यमन्त्री' बन जाता है, और यही प्रान्तीय शासनतन्त्रों की सहज संसदीया-प्रणाली है।

मात्र है, जिन देशों की प्रज्ञा ने प्रकृति से अतीत, समदर्शनमूलक आ
के सम्बन्ध में कभी कोई विचार ही नहीं किया। फलस्वरूप केवल प्रकृ
समन्वय के लिए आतुर उन नैष्ठिकोंनें अपने प्राकृत देश के आहार भोगादि-प
प्राकृत मानवों के समन्वय के लिए गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रवाद, प्रजातन्त्र
साम्यवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, आदि आदि अनेक मतवादों का
कर डाला।

प्रकृति का वर्गभेद भी सुरक्षित रहे, किन्तु इस प्राकृतिक वर्गभे
मानव विषम न बन जाय' इसीलिए तो यहां प्रकृति के मूल में पुरु
प्रतिष्ठित किया गया। इसीलिए तो आत्मा यहां समाज का आधार बना। इस
तो धर्म्म को ही नीति के मूल में प्रतिष्ठित करना अनिवार्य्य माना यहाँ की पुरा
प्रज्ञा ने, जिसकी उपेक्षा कर आत्मबुद्धिदासतामूला भावुकता के आवेश में
अपने चिरन्तन तत्त्वों को तिरस्कृत कर आज हम अपनी सामाजिक-व्यवस्था
लिए प्रकृतिवादियों का ही अन्धानुकरण करते जा रहे हैं—कल्पित-'मान
के व्यामोहन से।

उक्त अनुकरण से आप ब्राह्मण-क्षत्रियादि-वर्गों का मूलोच्छेद कर डा
और अवश्य कर डालेंगे, यह मान लेते हैं। किन्तु आप मानव के सहज
भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चार मानवीय वर्गों का तो कदापि मूलोच्छे
कर सकेंगे। परिणाम यह होगा कि, मानव के ये ही चारों वर्ग पुनः आपके सा
वाद में एक नवीन साजसज्जा से सहसा समुद्भूत हो पड़ेंगे, और उन
नवीन स्वकल्पित वर्गों से ही आपको भी अपने समाजवादके सुखस्वप्नोंमें प्रवृत्त
पड़ेगा। क्या हमारे भारतीय कर्णधार नवीन वर्गों की कल्पना, तथा तदाधार
नवीन समाजवाद का प्रतिष्ठापन कर लेंगे ?। नहीं, कदापि नहीं। यह काम इ
नहीं है। इनके सम्मुख तो राष्ट्र की और और ही बड़ी बड़ी समस्याएँ जो उ
स्थित हैं। फलत- इस छोटे से काम के लिए ये अपनी कल्पनाशक्ति का
अपव्यय क्यों करने लगे ?। अमेरिका का गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र, इंग्लैण्ड
प्रजातन्त्र, रूस का अर्थसाम्यात्मक साम्यवाद, एवं अन्यान्य समाजवादादि में

पयोग करता हुआ सत्ता-तन्त्र का पहिला (१) शरीरवर्ग ही है। इन मतदानों
नाथीकृत विभिन्न-वर्गात्मक विभिन्न गण हीं दूसरा (२)-मनोवर्ग है। इन
'बहुमत' से सम्मानित सशक्त तीसरा वर्ग
र्यों से समर्थित अन्तिम, मुख्यमन्त्री ही
॥ (४)-आत्मवर्ग है। यों चतुर्वर्गचिन्तासमन्वित-मानव के प्रकृतिसिद्ध
त्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ही क्रमशः इन चारों विभिन्न वर्गों में परिणत होते
तत्समन्वयात्मक सत्तातन्त्र के द्वारा उद्घोषित तथाकथित जनतादि चार वर्ग
भेद के मूलोच्छेद का मानो उपहास ही कर रहे हैं।

१-मतप्रदात्री--जनता (शरीर-सत्तातन्त्रस्य)-तदनुगत-प्रजातन्त्रम्
२-मतग्राहका --वर्गा (मनसि-सत्तातन्त्रस्य)-तदनुगत-गणतन्त्रम्
३-बहुमतानुगत -वर्ग (बुद्धय -सत्तातन्त्रस्य -तदनुगत-अनुशासनतम्
४-बहुमतवर्गस्थ नेता (भूतात्मा-सत्तातन्त्रस्य)-तदनुगत-नीतितन्त्रम्

---*---

नाममात्र नवीन हैं, वस्तुतत्त्व वही है, जो सृष्टि के आरम्भ से मानव को
लता आरहा है। दूसरा अन्तर थोड़ा पद्धति में है। एवं महान् अन्तर है-
र्तों के मूलाधिष्ठाता अव्ययेश्वरपुरुषात्मक धर्म्म की निरपेक्षिता। यहाँ जिसे
ह्मण--क्षत्रिय-वैश्य--शूद्र कहा जाता है, वही आजकी अनुकरणपद्धति में
ख्यमन्त्री--बहुमतनिष्ठसशक्त दल--पराजितवर्ग-जनता-इन नामों से
व्यवहृत है। पद्धति का अन्तर भी स्पष्ट है। यहाँ (चिरन्तनपद्धति में) सर्वाधार
व्ययात्मधर्म्म ही मुख्य नियन्ता-एकप्रकार से तटस्थ, किंवा साक्षी सर्वतन्त्र-
स्वतन्त्र-कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्थ-राष्ट्रपति है, जो शाश्वत है। इसकी
शाश्वतता (शाश्वतधर्म्म) से नियन्त्रित मुख्यमन्त्री-स्थानीय भूतात्मा बुद्धि के
लिए नीति निर्धारित करता है। अर्थात् धर्म्ममूर्ति ईश्वररूप राष्ट्रपति की साक्षी
में भूतात्मा का सामाजिक प्रतिनिधि ब्राह्मणवर्ग ही मुख्यमन्त्रित्वेन नीति का
निर्धारण करता है। इस आत्मनीति (ब्राह्मणनीति) से नियन्त्रित बुद्धिस्थानीय
मन्त्रिगण शासक क्षत्रिय शासन करता है। गणतन्त्रात्मक-मनोमय वैश्यवर्ग

सम्पूर्ण भारतराष्ट्र की दृष्टि से जो केन्द्रीय मन्त्री बनते हैं, उन्हें 'प्रधान मन्त्री' कह दिया जाता है, एवं सत्ता के (शासननीति के नहीं) सर्वोच्च पद पर लोक-विधान-सभाओं के द्वारा अमुक अवधि के लिए शासन के प्रतीकमात्र राष्ट्रपति का निर्वाचन हो जाता है। एतद्धि रामायणम् जहाँ (इङ्गलैण्ड) में यह प्रणाली ली गई है, वहाँ सब दृष्टियों से तो समानता है। किन्तु 'राष्ट्रपति' (राजा) की दृष्टि से थोड़ा विभेद है। वहाँ राष्ट्रपति आनुवंशिक है, जबकि यहाँ तात्कालिक। साथ ही वहाँ राजगद्दी का धर्म्म जहाँ-Defender of the faith 'डिफेन्डर आफ दी फेथ' (ईश्वरीयनिष्ठा के पोषक) यह है, वहाँ यहाँ की राजगद्दी ईश्वर-धर्म्म-आदि से सर्वथा निरपेक्ष है। वहाँ यद्यपि Cant erbury कन्टरबरी-चर्च के श्रेष्ठी Archbishop-'आर्क विशप' (मुख्य धर्म्माधिकारी) के नैष्ठिक मन्तव्यानुसार इस चर्चधर्म्म (ईसायत) का शासननीति में कोई हस्तक्षेप नहीं है। अतएव उसे धर्म्मनिरपेक्ष नीतितन्त्र ही कहा जा सकता है। तथापि स्वयं आर्क विशप की मन्तव्य-घोषणा के पारम्परिक समन्वय के आधार पर वहाँ के निर्वाचन में निर्वाचित होते हैं प्रधानरूप से-धर्म्मनिष्ठ मानव ही *। अलमतिपल्लवितेन परप्रासङ्गिकेन।

तात्पर्य्य यह निकला कि-१-जनता, निर्वाचनक्षेत्रानुगत-२-विभिन्न वर्ग बहुमत से निर्वाचित-३-सशक्तवर्ग, एवं सशक्तवर्ग के द्वारा पुनः निर्वाचित सर्वसशक्त-४ मुख्यमन्त्री, इन चार वर्गभेदों के सन्तरण के माध्यम से ही वर्त्तमान सत्तातन्त्र का शासनसूत्र सञ्चालित है। सर्वथा ही प्रकृतिसिद्ध ही सुनिश्चित तथ्य है कि, मतदान करने वाला जनतावर्ग शरीरधर्म्ममात्र का ही मतदाता

* "धर्म्मसंस्थाओं (चर्चों) को समाज में उस नीति (धर्म्म) का प्रचार प्रसार तो अवश्य ही करते रहना चाहिए, जिसे अपना धर्म्म (ईसायत) अनुमोदित करता है। और तदनुरूप ही राजनैतिक संस्थाएँ भी रहें, ऐसा प्रयत्न भी करते रहना चाहिए (अर्थात् इन्हें भी धर्म्मनिष्ठ ही रहना ही चाहिए)। किन्तु तात्कालिक राजनैतिक वादों में-विभिन्न पार्टियों-दलों-वर्गों-के मध्य में अपना कोई धार्मिक मत अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए। एवं इन धर्म्मसंस्थाओं को इसप्रकार तात्कालिक राजनीति से निरपेक्ष ही रहना चाहिए"। (आर्कविशप के मन्तव्य का निष्कर्ष)।

पा शरीर पर ही समाप्त होती रहेगी शरीरजीवी हिंसक-पशुओं की भाँति।
मूल में आत्मधर्म्म प्रतिष्ठित कर लिया जायगा, तो आत्मा से उपक्रान्ता यही
या आत्मसीमा पर उपरत होती हुई 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार
र्णनपूर्वक विश्वशान्ति का ही कारण बनती रहेगी। दोनों ही पथ मानव के
र विद्यमान हैं। स्वतन्त्र है मानव दोनों में से यथेष्ट पथ को चुन लेने में।
चुनाव से पहिले चुनावों के भीषण-दुष्परिणामों-सुपरिणामों का तटस्थ
ो धृतिपूर्वक परीक्षण कर ले, तो यह इसका 'विश्वमानवता' पर ही नि सीम-
ह माना जायगा। वैसा अनुग्रह करने वाले विश्वमानवों-सौरमानवों से ही
यह चान्द्र-प्राकृत-मानव प्रणतभाव से जिज्ञासामात्र के लिए अपने वर्त्तमान
रवादी, किंवा राष्ट्रवादी-मानव से मानव-स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न
रहा है कि—

क्या आज हम मानव हैं ?

चर्चा यद्यपि पराधिकार से सम्बन्ध रखती है। किन्तु धर्म्मनिष्ठ भारतीय
के स्वरूपोद्‌बोधन के लिए दो शब्दों में उस का भी दिग्दर्शन करा देना
ठक बन रहा है। जिन प्रतीच्य (विदेशी) तन्त्रों के सवलनमात्र के
रणमात्राधार पर भारतीय संविधान का नवनिर्म्माण हुआ * है, जिसमें
भारतवर्ष की मूलसंस्कृति-साहित्य-आदर्श-नीति-आदि का सस्मरण भी
हुआ है, तद्‌भूत गणतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र के समर्थक हमारे इस संविधान
मौलिक आधार हैं, क्या उन आधारों के मूलसर्जक प्रतीच्य देशों के
विद्वानोंने सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर दिया है—उन गणतन्त्रात्मक
न्त्रों के प्रति ? । यही यह मुख्य प्रश्न है, जिस का उन की दृष्टि से भी
हम विचार करलें, तो सम्भवतः क्यों, निश्चयेन हमारा व्यामोहन सर्वात्मना
तो अंशतः तो ह॰ ही सकता है।

*—सन् ४७ से सन् ५० पर्य्यन्त-भारतीय विद्वानों (प्रतीच्यशिक्षा से दीक्षितों)
संविधान निर्म्मात्रीसभा' के अत्यन्त परिश्रम से संविधान सम्पन्न हुआ,
न् ५० की २६ जनवरी को अधिकृत रूप से उद्‌घोषित हुआ। विमर्शात्मक

इस बुद्धिस्थानीय गणतन्त्र का धर्म्मपूर्वक सञ्चालन करता है। एवं बुद्धि-पूर्वक ही शासक आत्ममूलक समदर्शन से मानवराज्य (आत्मराज्य) द चतुर्थ शरीरधर्मा वर्ग की व्यवस्था करता है। तात्पर्य्य-ईश्वराज्य से नि नियन्त्रित, इससे बुद्धि, बुद्धि से मन, मन से शरीर। चारों स्थानों में स्व वर्गों में पारस्परिक नियन्त्रण का अभाव। चारों ही स्व-स्व-निसर्ग-सिद्ध धर्म्मानुगत-नैतिक कर्त्तव्यनिष्ठाओं में धर्म्मपूर्वक व्यवस्थित। और यही व वर्गात्मक भी वर्गविहीन आत्मसाम्यमूलक-वर्गव्यवस्थात्मक लोकोत्तर ल एव यही सहजपद्धति, जिसमें ऊँच नीच-हीन सम्पन्न-जैसे दानवीय म कल्पना का प्रवेश भी निषिद्ध है। और यही है नीति-अनुशासन-राष्ट्र-तन्त्र-समन्वयात्मक वह भारतीय सत्तातन्त्र, जिसकी मौलिक इन पद्धतियों को वादों के आवेश में आकर मूलसम्मृति से वञ्चित हतभाग्य भारत ने सर्वस्व ही अभिभूत कर लिया है।

आत्मसाम्यमूलक, अतएव समदर्शनात्मक आत्मधर्म्म पर प्रतिष्ठित, च अपने प्रकृतिसिद्ध चारों वर्गों से एक ही राष्ट्रबिन्दु पर निर्विरोध ह भारतीय चिरन्तन 'समाजव्यवस्था'-लक्षण चातुर्वर्ण्य, तथा व्यक्ति क आध्यात्मिक पर्वों को चार आश्रमों से आश्रमजीवनपद्धति के द्वारा ह व्यक्त-परिपूर्ण-बनाए रखने वाला चातुराश्रम्य, जैसी लोकोत्तरा-शान्ति सम्मता पुष्टि-तुष्टि-तृप्ति-शान्ति-करी महामङ्गलमयी शास्त्रव्यवस्था को कर प्रतीच्यानुकरणानुग्रह से सम्प्राप्ता आज की वर्गभेदमूला 'समाजवाद' ह ने किस प्रकार वर्गों के उच्छेद के नाम पर अनेक वर्ग उत्पन्न कर डाले ह राष्ट्र के प्राङ्गण में ?, प्रश्नमीमांसा को अब यहीं उपरत कर देना श्रेयपन्था क्योंकि यह सुनिश्चित है कि, प्रकृतिसिद्ध वर्गचतुष्टयी के समर्थक-'चतु इद सर्गम' (शाङ्खायनारण्यक) इस सर्वमूर्द्धन्य श्रौत प्राकृतिक सि बलवत्-नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रत्येक देश के मानव को अपने स्वरूप में जन्मत ही विद्यमान आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चार मानवीय अनुसार ही अपनी प्रत्येक व्यवस्था का निर्म्माण करते ही रहना पड़ेगा आत्मधर्म्म की उपेक्षा की जायगी इन वर्गों में, तो 'शरीर' से उपक्र

ा शरीर पर ही समाप्त होती रहेगी शरीरनीरी हिंसक-पशुओं की भाँति।
ल में आत्मधर्म प्रतिष्ठित कर लिया जायगा, तो आत्मा से उपक्रान्ता वही
पा आत्मसीमा पर उपरत होती हुई 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुसार
र्नपूर्वक विश्वशान्ति का ही कारण बनती रहेगी। दोनों ही पथ मानव के
विद्यमान हैं। स्वतन्त्र है मानव दोनों में से यथेष्ट पथ को चुन लेने में।
चुनाव से पहिले चुनावों के भीषण-दुष्परिणामों-सुपरिणामों का तथ्य
धृतिपूर्वक परीक्षण कर ले, तो यह इसका 'विश्वमानवता' पर ही नि सीम
ह माना-जायगा। वैसा अनुग्रह करने वाले विश्वमानवों-सौरमानवों से ही
यह चा द्र-प्राकृत-मानव प्रणतभाव से जिज्ञासामात्र के लिए अपने वर्त्तमान
ादी, किंवा राष्ट्रवादी-मानव से मानव-स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न
हा है कि—

क्या आज हम मानव हैं ?

चर्चा यद्यपि पराविकार से सम्बन्ध रखती है। किन्तु धर्मनिष्ठ भारतीय
के स्वरूपोद्बोधन के लिए दो शब्दों में उस का भी दिग्दर्शन करा देना
ेक बन रहा है। जिन प्रतीच्य (विदेशी) तन्त्रों के सकलनमात्र के
रणमात्राधार पर भारतीय सविधान का नवनिर्माण हुआ * है, जिसमें
भारतवर्ष की मूलसस्कृति-साहित्य-आदर्श-नीति-आदि का संस्मरण भी
हुआ है, इत्थभूत गणतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र के समर्थक हमारे इस सविधान
मौलिक आधार हैं, क्या उन आधारों के मूलप्रवर्त्तक प्रतीच्य देशों के
विद्वानोंने सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर दिया है—उन जनत-त्रात्मक
न्त्रों के प्रति! यही वह मुख्य प्रश्न है, जिस का उन की दृष्टि से भी
हम विचार करलें, तो सम्भवत क्यों, निश्चयेन हमारा व्यामोहन सर्वात्मना
तो अंशत तो हट ही सकता है।

*—सन् ४७ से सन् ५० पर्यन्त भारतीय विद्वानों (प्रतीच्यशिक्षा से दीक्षितों)
'सविधान निर्मात्रीसभा' के अत्यन्त परिश्रम से सविधान सम्पन्न हुआ,
सन् ५० की २६ जनवरी को अधिकृत रूप से उद्घोषित हुआ। त्रिवर्षात्मक

इस बुद्धिस्थानीय गणतन्त्र का धर्मपूर्वक सञ्चालन करता है। एवं बुद्धि-मन पूर्वक ही शासक आत्ममूलक समदर्शन से मानवसाम्य (आत्मसाम्य) दृष्टि चतुर्थ शरीरधर्मा वर्ग की व्यवस्था करता है। तात्पर्य्य-ईश्वराव्यय से भूत नियन्त्रित, इससे बुद्धि, बुद्धि से मन, मन से शरीर। चारों स्थानों में स्व वर्गों में पारस्परिक नियन्त्रण का अभाव। चारों हीं स्व-स्व-विभक्त-प्रकृति धर्मानुगत-नैतिक कर्त्तव्यनिग्रहों में धर्मपूर्वक व्यवस्थित। और यही वर्ग वर्गात्मक भी वर्गविहीन आत्मसाम्यमूलक-वर्णव्यवस्थात्मक लोकोत्तर समाज एवं यही सहजपद्धति, जिसमें ऊँच नीच-हीन सम्पन्न-जैसे दानवीय भाव कल्पना का प्रवेश भी निषिद्ध है। और यही है नीति-अनुशासन-गण-प्र तन्त्र-समन्वयात्मक वह भारतीय सत्तातन्त्र, जिसकी मौलिक इन पद्धतियों को वादों के आवेश में आकर मूलसस्कृति से वञ्चित हतभाग्य भारत ने इ सर्वस्व ही अभिभूत कर लिया है।

आत्मसाम्यमूलक, अतएव समदर्शनात्मक आत्मधर्म पर प्रतिष्ठित, अ च अपने प्रकृतिसिद्ध चारों वर्णों से एक ही राष्ट्रबिन्दु पर निर्विरोध सम भारतीय चिरन्तन 'समाजव्यवस्था'-लक्षण चातुर्वर्ण्य, तथा व्यक्ति के आध्यात्मिक पर्वों को चार आश्रमों से आश्रमजीवनपद्धति के द्वारा सर्व व्यक्त-परिपूर्ण-बनाए रखने वाला चातुराश्रम्य, जैसी लोकोत्तरा-शान्ति सम्मता पुष्टि-तुष्टि-तृप्ति-शान्ति-करी महामङ्गलमयी शासनव्यवस्था को कर प्रतीच्यानुकरणानुग्रह से सम्प्राप्ता 'आज-की वर्गभेदमूला 'समाजवाद' ने किस प्रकार वर्गों के उच्छेद के नाम पर अनेक वर्ग उत्पन्न कर डाले हैं राष्ट्र के प्राङ्गण में ?, प्रश्नमीमांसा को अब यहीं उपरत कर देना श्रेयःपन्था। क्योंकि यह सुनिश्चित है कि, प्रकृतिसिद्ध वर्णचतुष्टयी के समर्थक-'चतुष्ट इदं सर्वम्' (शाङ्खायनारण्यक) इस 'सर्वमूर्द्धन्य श्रौत प्राकृतिक सिद्धा बलवत्-नियन्त्रण से नियन्त्रित प्रत्येक देश के मानव को अपने स्वरूप की में जन्मत ही विद्यमान आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-इन चार मानवीय प अनुसार ही अपनी प्रत्येक व्यवस्था का निर्माण करते ही रहना पड़ेगा आत्मधर्म की उपेक्षा की जायगी इन वर्गों में, तो 'शरीर' से उपक्रान

मझते हैं, अनेक बुद्धिजीवी (जो इस दासता से बचे रह गए हैं) आज मारी इसी धारणा से सहमत होंगे। अतएव आज उन विशुद्ध-तटस्थ द्धिजीवियों का यह अनिवार्य्य नैष्ठिक कर्त्तव्य होजाता है कि, वे टस्थरूपसे-अपने आपको इन तन्त्रों से बचाते हुए केवल राष्ट्रहित की ामना से सत्यपूर्वक यह उद्‌बोधनसूत्र राजनीति के विद्यार्थी के सम्मुख ख ही दें, जिससे उसको मुक्ति मिल जाय। अवश्य ही शीघ्र से शीघ्र इस द्यार्थी को मुक्त हो ही जाना है इस जनतन्त्र के व्यामोहक स्वरूप से स उद्‌बोधनसूत्र के द्वारा कि—

"जनतन्त्र की जड़े जनता में हैं,–इस प्रकार की सिद्धान्तवादिता घोषणा), इसके समर्थक दार्शनिक ऊहापोह, नैतिक औचित्य का विश्ले- ण, आदि आदि साधनों से सम्बन्ध रखने वाले स्वरूपों का सर्वथा थक्-पृथक्-शुद्ध-वैज्ञानिक, किन्तु तत्त्वतः बालसुलभ,-सरलता से त्पन्न, ये सभी कुछ कोरी आत्मवञ्चना ही है जनता की। (इन के लिए कोई जनता है, न इसमें कोई जड़े ही हैं)।"

यह स्मरणीय है कि, शासन करने की एकमात्र कला है 'अन्य-व्यक्तियों-जनता-की भावुकता-निर्बलता-से लाभ उठाने के उपायों को जान कर उन्हें यथासमय उपयोग में लाते रहना"। जनता की मौलिक भावनाओं के उन्मूलन के निष्फल प्रयत्न मे ये जनतन्त्रवादी शासक अपनी समस्त शासनशक्तियों का उपयोग करते रहते हैं (अपने उपास्यदेव जनता के हित के नाम पर ही)"।

देखिए—Mind and Society, of Pareto

इसीप्रकार सुप्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान्–John H. Hallowell 'श्रीजोन एच् हेलोवेल' (जो राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य्य माने

'बहुमतवाद' के राज्य के सिद्धान्तों की पवित्रा घोषित करते हुए तत्त्वत स्वय हीं इस देवता के (जनता के) विकास का अवरोध ही करते रहते हैं। वैसी असख्य-अगणित-अड़चनें खड़ी करते रहते हैं इसके सम्मुख जिन से यह देवता कदापि स्वकेन्द्ररूप से जागरूक नहीं बन सकता। (यह इन्हें इसलिए करना पड़ता है कि ये स्वयं अल्पमतवाले ही बने रहते हैं। (अतएव 'बहुमत' के पूर्ण विकास में तो स्वय इन अल्पमतानुगामी उपासकों को अपने जीवन में भी भय होने लगता है)। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, युक्ति और विवेक की देवी-देवता की युगलमूर्त्ति की अर्चना के द्वारा (नैतिकता की उद्घोषणा के द्वारा) ये अपने इस आराध्य 'वयस्कमताधिकार' नामक देवता (जनता) का पूजन करते रहते हैं (उद्बोधन कराते रहते हैं, नैतिकता-सयम अनुशासन में रहने का उपदेश देते रहते हैं), धूप-दीप जलाते रहते हैं (अमुक प्रसाद के साक्षात्कारमात्र से इन्हें भोगों के प्रति आकर्षित करते रहते है, सीधे शब्दों में अमुक प्रलोभनों से मनाते रहते हैं इस देवता को)। (जब इनके ये युक्ति विवेक की घोषणा, धूप-दीप-प्रसाद-आदि साधन भी व्यर्थ चले जाते हैं) तो उस अवस्था में ये उपासक अपने उपास्य देवता के साथ छल-प्रपञ्च, और भ्रष्टाचार के माध्यम से ग्रन्थिबन्धन (साँठ-गाँठ) करने लग पड़ने में भी कोई भी सकोच नहीं करते। (क्योंकि इन उपासकों की जीवनसत्ता इन उपास्य देवताओं पर ही निर्भर है)। जनतन्त्र की जड़ें जनता में ही तो मानी गई हैं।

भले ही शासन का कोई सा भी स्वरूप हो, और उसे राजतन्त्र, सामन्ततन्त्र, गणतन्त्र, प्रजातन्त्र, आदि किसी भी नाम से व्यवहृत किया जा रहा हो, यह 'इटालियन समाजशास्त्र' के अनुसार सर्वथा परिगणित (इने गिने) व्यक्तियों का, अल्पदलों का ही शासन होता है, जो सर्वथा निष्कर्षत छल, (कूटनीति) से, अथवा तो बल (वित्तबल और सेनाबल)–से ही जनता पर शासन करता रहता है। और इस

जेप राजनैतिक सत्तातन्त्र के मूल में आत्मधर्मनिष्ठा को मौलिक र नहीं बना दिया जाता, वह आंशिक सत्ता हो, अथवा तो ौम-सर्वोच्च-पूर्णसत्ता हो, दोनों ही पक्षों में सत्तासञ्चालक आपको कदापि विशुद्ध नहीं बनाए रख सकता। सम्भवतः इसी र पर तरत्त्व विद्वान् सर्वश्री Lard acton (लॉर्ड एक्टन) माग को यह कहना पड़ा कि—
"Power Corrupts, absolute Power Corrupts solutey" (पावर करप्ट्स एब्सोल्यूट पावर करप्ट्स अब्सो- ली)। अर्थात्–"आंशिक सत्ता (जहाँ शासक को) भ्रष्ट करती वहाँ सम्पूर्ण सत्ता (इसे) पूर्णतमरूपेण भ्रष्टतम कर देती है"।
सुप्रसिद्ध प्राड्विवाक, किन्तु आगे जाकर सर्वोच्च सत्ता पद पर ासीन सर्वश्री Abraham Lincon 'अब्राहमलिङ्कन' महोदय ने जनतन्त्रीय-प्रजातन्त्र परिभाषा को Government of the ple by the and people for the people निमेण्ट ऑफ दी पीपल बाई दी पीपल एण्ड फॉर दी पीपल" अर्थात्- नता का जनता-द्वारा-जनता के लिए शासन" आधार बना राजनीतिशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् John, H. Hallowell न हेलोवेल) महाभाग ने अपने प्रस्थान The Moral undaion of Demdoroy (दी मोरल फाउन्डेशन आफ डेमोक्रेसी) अर्थात्-'जनतन्त्र का नैतिक आधार' नामक ग्रन्थ में तन्त्रीय प्रजातन्त्र का जो विवेचन किया है, उस से यह सर्वात्मना ाणित हो जाता है कि, वास्तव में धर्मनिरपेक्ष गणतन्त्रीया शासन- ति यद्यपि जनता के मौलिक हितों का सरक्षण नहीं कर सकती, ादि इसी ग्रन्थ के कतिपय निम्न लिखित भावोद्धरणों से प्रमाणित जाता है।

"अवश्य ही १०-२०-१००-५०-व्यक्तियों का तो परस्पर मिल कर मशवरे से भी बहुमत निर्धारित हो सकता है। किन्तु उस महान् ष्ट्र में-जिस में जनता करोड़ों की सख्या में है, प्रतिनिधियों के द्वारा

गए हैं) अपने विख्यात ग्रन्थ—The Moral Foondation of Democarecy 'दी मोरल फाउन्डेशन आफ डेमोक्रेसी' ('जन-तन्त्र का नैतिक आधार') में युक्ति-तर्क-इतिहास-मानवस्वरूप-आदि के विश्लेषण-द्वारा अन्ततः यही प्रमाणित कर रहे हैं कि, "बिना ईश्वरनिष्ठा, किंवा धर्म्मनिष्ठा के, (जिसे मूलनिष्ठा भी कहा जा सकता है)–कदापि केवल नीतिप्रधान गणतन्त्र में राष्ट्र का नैतिक उत्थान सम्भव नहीं है"।

सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता (दार्शनिक) विद्वान् सर्व श्री Bishopgeorge Berkeley (बिशप जोर्ज बर्कले) महाभाग की महात्त्वपूर्णा इस प्रसिद्ध उक्ति से भी हमारे जनतन्त्रवादी प्रतीच्य-शिक्षापरपारगामी महानुभाव सम्भवतः अपरिचित न होंगे कि—

Without Relagion and Theology a man may be a thriving earth worm but he will make a sorry Statesman and a sorry Patriot.

* "विदाउट् रिलीजन एण्ड थियालाजी ए मेन मे बीए थ्राइविंग् अर्थ वर्म बट्, ही विल मेक ए सॉरी इस्टेस्ट्मेन एण्ड सॉरी पेट्रियट्"।

अर्थात्–"बिना धर्म्म, और ईश्वर–निष्ठा के एक व्यक्ति (दिन रात खाते पीते रहने वाले एक हृष्टपुष्ट गिंडोले के समान मोटा ताजा गिंडोला–कीड़ा तो अवश्य बन सकता है। किन्तु वह शासक अत्यन्त ही भ्रष्ट, एवं निःसीमरूप से शोचनीय देशभक्त बनेगा"।

—बिशप् बर्कले

णित होते रहे, जिन्हें जनतन्त्र के विशोधन के लिए समय-समय काम में लाने की चेष्टा हुई। केवल व्यक्तिविशेषों, अधिक से अधिक विशेषों के हित-साधन के अतिरिक्त इस 'प्रातिनिध्य-प्रणाली' से का राष्ट्र की सामान्य-व्यापक जनता का कोई भी हित साधन हो सका, और इस में ये अशुद्धियाँ चलतीं ही रहीं कि—

१—पार्टी के नामाङ्कित प्रतिनिधि की बिना उसकी योग्यता और प्रनिष्ठा का विचार किए उसे मत दे डालना, और बदले में अनेकानेक म-पद-और कभी कभी नक़द रुपया भी पाते रहना।

२—योजनाबद्ध सुसंघठित प्रचारों के द्वारा जनता को छल बल-कौशल (दामनीति-भेदनीति-फूट) से बहकावे में डाले रखना।

३—पार्टी के थोड़े से नेताओं की अहमहमिका-धींगामस्ती-का, किंवा अनैतिक-प्रभुता का स्थापित हो जाना। पार्टीरूप स्वार्थयन्त्र का राष्ट्ररूप जनायन्त्र पर नियन्त्रण बढ़ते जाने से शुद्ध जन जनतन्त्र का शनैः शनैः शुचिभाव में परिणत होते जाना।

४—मतदान (निर्वाचन-चुनाव) के अवसरों पर अनेक अनैतिकताओं का वर्गविशेष के, एवं व्यक्तिविशेष के हितों के कारण अनेक प्रकार के छल-कपट, यहाँ तक कि हत्या तक जैसी अनैतिकताओं का व्यापक प्रचार हो पड़ना। आदि आदि।

इन मुख्य दोषों, एवं अगणित गौण दोषों के कारण ही राष्ट्र की प्रमुख राजनीति-'हितसंघर्षों तथा पारस्परिक हितों के समझौतों की ही अनीति रह गई है आज के इस प्रतिनिधिशासनात्मक गणतन्त्रीय जनतन्त्र-शासन में, जिसमें जनता सर्वथा उपेक्षित ही है। इसी दोष को लक्ष्य बना कर राजनीतिशास्त्रियों की परिषत् के प्रधान आचार्य श्री A. R. Benley (ई० आर० बैंटले) महोदय ने-Pressore

ही इस अपरिमित जनता का मत प्राप्त किया जा सकता है। कैसे असख्य-जनता के मनोभाव, इच्छाएँ निश्चित हों, अभिव्यक्त इस प्रश्न के समाधान के लिए ही विभिन्न वैसे राजनैतिक वर्ग निर्म्माण आवश्यक हो जाता है, जिन्हें जनता के मनोभाव जानने लिए ही भाषण-लेखन-प्रचार-सघठन-आदि आदि की पूर्ण सुवि देना आवश्यक माना गया है। इसी आधार पर जनता का म होता है। मतदान से जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव होता और ये प्रतिनिधि ही 'शासनसत्ता' का स्वरूप निर्म्माण करते हैं, यह है जनतन्त्र के निर्म्माण का नैतिक आधारसूत्र। (हे महोदय के शब्दों में यही) 'प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय-गणतन्त्रराज सहज परिभाषा है। ऐसे प्रातिनिध्य के प्रति आज अनेक आर उत्पन्न हो पड़ी हैं। ७० वर्षों से चले आते रहने वाले भी इस प्राति से गणतन्त्रात्मक अमेरिका राष्ट्र हमारे इस राष्ट्र की सामाजिक-आ तथा प्रशासनिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सका है। इस सुदीर्घकालीन गणतन्त्र-शासनकाल में हीं केवल न्यूयार्क न हीं जनसख्या क अनुपात से संसार में सब से अधिक जघन्य आ हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, अपहरण, आदि होते आ रहे अतएव कदापि इन प्रतिनिधियों के शासन से जनता का उत्थान स नहीं है।

इसी आधार पर यहाँ जनतन्त्र के विशोधन के लि क्रमश १-Initiative (इनीशियेटिव), २-Referend (रेफरेण्डम), तथा ३-Recall (रिकोल) नामक तीन प्रकार प्र हुए। किन्तु इन से भी उद्देश्य में सफलता न मिली। एक चौथा 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' का खोजा गया। किन्तु फ्रान्सादि में परीक्षण भी व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। 'जनसेवा-आयोग' (पब्लिक कमीशन) भी इस दिशा में मतवादों के वैय्यक्तिक-स्वार्थों के से अपने आपको न बचा सका। इसप्रकार वे सभी उपाय व्यर्

mistake of the whole order and tenor of our constitution.

Parliament is not a *congress* of ambassadors from different and hostile interests; which interests each must maintain, as an agent and advocate against other agents and advocates; but parliament is a *deliberative* assembly of *one* nation, with *one* interest, that of the whole; where, not local purpose, not local prejudices, ought to guide, but the general good, resulting from the general reason of the whole."

3. *Works* (Bohn ed,; London, 1893), I,447.

मतदाता-सदस्यों के सम्मुख अपना वक्तव्य देते हुए बर्क कहते हैं कि-"मेरे मित्रो ! आपके द्वारा (जनता के द्वारा) निर्वाचित सदस्य कहते हैं कि,-"उनके समस्त संकल्प आप लोगों के ही संकल्पों-इच्छाओं के आधीन रहेंगे" । अगर इतनी सी ही बात है, तो कोई हानि नहीं है । यदि राज्यशासन किसी के मत, इच्छा, किंवा अभीष्ट के अनुसार ही चलने की वस्तु है, तो निःसन्देह आपकी इच्छा ही सर्वोपरि है । किन्तु (यह मत भूलिए कि) न्यायों (कानूनों),-विधियों का निर्म्माण विवेक, और निश्चयात्मिका बुद्धि से लिए गए निर्णयों के अनुसार ही हुआ करता है । और इस निर्म्माण में इच्छा-पक्षसमर्थन-और झुकाव कम से कम रहा करते हैं । परन्तु उस विवेक, विचार,

Politics (प्रेशर पोलोटिक्स) 'दबाव की राजनीति'-का आश्रय लेक
विशोधन करना कराना चाहा, जिसमें भी आज तक सफलता नहीं मि
सकी है । और इसी आधार पर आज इस प्रातिनिध्य-प्रणाली के प्र
राष्ट्र में गहरा असन्तोष फैल गया है, जो सन् १७७४ मे ब्रिस्टल में म
दाताओं के सम्मुख दिए गए उस युग के सुप्रसिद्ध राष्ट्रनिर्माता प
नैष्ठिक विद्वान् सर्वश्री एडमेण्ड बर्क के भाषण के निम्नलिखित श
का ही स्मरण करा रहे हैं—

"My worthy collegue says, his will ought to b
subservient to yours If that be all, the thing
innocent If government were a matter of w
upon any side, yours, without question, ought
be superior But government and legislation a
matters of reason and judgment, and not of in
nation, and what sort of reason is that, in whi
the determination precedes the discussion
which one set of men deliberate, and anoth
decide To deliver an opinion is the right of
men, that of constituents is a weighty a
respectable opinion, which a representative oug
always to rejoice to hear, and Which he oug
always most seriously to consider But *Autho
tative* instructions, *mandates* issued, which t
member is bound blindly and implicitly to ob
to vote, and to argue for, though contrary to t
clearest conviction of his judgment and cons
ence,—these are things utterly unknown to t
laws of this land, and arise from a fundamen

mistake of the whole order and tenor of our constitution

Parliament is not a *congress* of ambassadors from different and hostile interests; which interests each must maintain, as an agent and advocate against other agents and advocates, but parliament is a *deliberative* assembly of *one* nation, with *one* interest, that of the whole, where, not local purpose, not local prejudices, ought to guide, but the general good, resulting from the general reason of the whole "

3 *Works* (Bohn ed,, London, 1893), I,447.

मतदाता–सदस्यों के सम्मुख अपना वक्तव्य देते हुए बर्क कहते हैं कि–"मेरे मित्रो ! आपके द्वारा (जनता के द्वारा) निर्वाचित सदस्य कहते हैं कि,–"उनके समस्त संकल्प आप लोगों के ही संकल्पों–इच्छाओं के आधीन रहेंगे" । अगर इतनी सी ही बात है, तो कोई हानि नहीं है । यदि राज्यशासन किसी के मत, इच्छा, किंवा अभीष्ट के अनुसार ही चलने की वस्तु है, तो निःसन्देह आपकी इच्छा ही सर्वोपरि है । किन्तु (यह मत भूलिए कि) न्यायों (कानूनों),–विधियों का निर्म्माण विवेक, और निश्चयात्मिका बुद्धि से लिए गए निर्णयों के अनुसार ही हुआ करता है । और इस निर्म्माण में इच्छा–पक्षसमर्थन–और झुकाव कम से कम रहा करते हैं । परन्तु उस विवेक, विचार,

और निर्णय के क्या अर्थ है, जिनमें विचार-विनिमय के प्रारम्भ करने से पूर्व ही निर्णय हो चुके हों ? । जिसमें कुछ व्यक्ति (संसद में) तो विचार विनिमय का अभिनयमात्र करते रहें, कुछ अन्य व्यक्ति (मतदाता) उनके लिए निर्णय प्रकट करते रहें–(विचार विनिमय से पहिले ही) ।

अवश्य ही अपना 'मत' देना प्रत्येक वयस्क का अधिकार हैं । निर्वाचकों का मत तो अत्यन्त ही आदरणीय और महत्त्वपूर्ण है, जिसको मैं समझता हूँ–प्रत्येक प्रतिनिधि बड़े ध्यान से सुनने और समझने को लालायित रहा करता है, रहना चाहिए । परन्तु निर्वाचित प्रतिनिधि को आदेश और निर्देश देना, एवं बिना किसी नचनुच के तदनुकूल अपना मतदान करने को बाध्य करना भले ही अमुक प्रश्न में उसकी विवेक, हृदय की साची, और व्यक्तिगत विचार तथा निर्णय उसके कितने हीं विपरीत क्यों न हो–ये ऐसी बातें हैं, जो हमारे ढंग के कानूनों में कोई स्थान नहीं रखतीं । और हमारे संविधान के मूल आशय, और मूल उद्देश्य को समझने में मौलिक त्रुटि और दोष से उत्पन्न होती हैं ।

ध्यान रहे—संसद् विभिन्न–परस्पर विरोधी हितों के राजदूतों की कांग्रेस (समिति), अथवा जमावड़ा नहीं है कि–वे उन हितों का पोषण, और [illegible] मुख्त्यार या दलाल की तरह करें, और [illegible] से टक्कर लें

अपितु यह तो राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली एक विचार-सभा है, जिसका समान हित-एक हित 'राष्ट्रहित' ही है। समग्र राष्ट्रहित का पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा सम्पादन करना ही इसका लक्ष्य है। यहाँ स्थानीय, या प्रादेशिक उद्देश्य, या स्थानीय पूर्वग्रह, या विशेष हितों का समर्थन पथप्रदर्शन नहीं करते। अपितु प्रतिनिधि की विवेकशक्ति का उद्बोधन समग्रहित-समानहित-राष्ट्रहित के द्वारा ही होता है"।

—एडमेण्ड बर्क

धर्मनिरपेक्ष गणतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली 'प्रातिनिध्य-संसदीया-शासनप्रणाली' के सम्बन्ध में व्यक्त उसी देश के तत्त्वज्ञ विद्वानों की उक्त विचारधारा यह प्रमाणित कर रही है कि, वणिक्तन्त्र के प्रच्छन्न स्वार्थो-हितों के शिलान्यास के आधार पर ही प्रादुर्भूता इस प्रणाली के-'नैतिकता' जैसे व्यामोहक उद्घोष से कभी जनता के ये प्रतिनिधि-व्यक्तिविशेषों-किंवा वर्गविशेषों के हित-साधन के अतिरिक्त राष्ट्रीय जनता के हितों की तो कौन कहे, उसके सम्पर्क में भी ये नहीं आना चाहते। सम्पूर्ण राष्ट्र को, राष्ट्रद्वारा सम्पूर्ण मानवता-विश्वमानवता को समान हितों में प्रतिष्ठित करने की शक्ति तो एकमात्र आत्मसाम्यमूलक-समदर्शनात्मक-'समाज' संघटन में ही है, जिसे विस्मृत कर देने के कारण, किंवा निरपेक्ष मान बैठने के कारण तथाविध प्रातिनिध्य गण-तन्त्रों के सर्जक वे राष्ट्र भी चिन्तित है, जिस चिन्ता का हमारे राष्ट्र ने भी आज आमन्त्रण कर लिया है। 'इसी आमन्त्रण के परिणामस्वरूप आज विश्वप्राङ्गण में जड़-भूत-अर्थ-साम्यात्मक वह मार्क्सवाद (कम्यूनिज्म) जागरूक हो पड़ा है, जिसे आत्मप्रतिष्ठा के द्वारा यदि रोका न गया वैनक्रान्ति के माध्यम से, तो निश्चयेन सम्पूर्ण विश्व निकट भविष्य में

और निर्णय के क्या अर्थ है, जिनमें विचार-विनिमय के प्रारम्भ करने से पूर्व ही निर्णय हो चुके हों ? । जिसमें कुछ व्यक्ति (संसद में) तो विचार विनिमय का अभिनयमात्र करते रहें, कुछ अन्य व्यक्ति (मतदाता) उनके लिए निर्णय प्रकट करते रहें-(विचार विनिमय से पहिले ही) ।

अवश्य ही अपना 'मत' देना प्रत्येक वयस्क का अधिकार हैं । निर्वाचकों का मत तो अत्यन्त ही आदरणीय और महत्त्वपूर्ण है, जिसको मैं समझता हूँ-प्रत्येक प्रतिनिधि बड़े ध्यान से सुनने और समझने को लालायित रहा करता है, रहना चाहिए । परन्तु निर्वाचित प्रतिनिधि को आदेश और निर्देश देना, एवं बिना किसी नचनुच के तदनुकूल अपना मतदान करने को बाध्य करना भले ही अमुक प्रश्न में उसकी विवेक, हृदय की साक्षी, और व्यक्तिगत विचार तथा निर्णय उसके कितने ही विपरीत क्यों न हो-ये ऐसी बातें हैं, जो 'हमारे ढंग के कानूनों में कोई स्थान नहीं रखतीं ।' और 'हमारे संविधान के मूल आशय, और मूल उद्देश्य को समझने में मौलिक त्रुटि और दोष से उत्पन्न होती हैं ।

ध्यान रहे—संसत् विभिन्न-परस्पर-विरोधी-हितों के राजदूतों की कांग्रेस (समिति), अथवा जमावड़ा नहीं है कि—वे उन हितों का पोषण, और समर्थन एक वकील या मुख्त्यार या दलाल की तरह करें, और अन्य इसी प्रकार के वकीलों से टक्कर लें ।

क्त चारों कारणों से अपने चारों हीं इन सामाजिक, तथा मानवीय-पर्वो से
शरीर से श्रान्त,- मन से क्लान्त, बुद्धि से विभ्रान्त, तथा भूतात्मना
अशान्त । सहजभाषा में मुख्यमन्त्री जहाँ नित्य सशङ्कित रहे, प्रधान दल
सदा विकम्पित रहे, तत्पदप्रतीक्षानुगामी अन्य वर्ग जहाँ सदा नियन्त्रित रहें,
मतदात्री जनता इस स्वराट्चरित्र को स्मार स्मार-अनियन्त्रित-उच्छृङ्खल-
ित होती रहे, इत्यभूता पद्धति से, आत्मधर्म-आत्मसयम-निरपेक्षा पद्धति से
ं आत्मा-बुद्धि-मन -शरीर चारों ही किस प्रकृतिसाम्य के प्रति अनुधावन
जा रहे हैं ?, प्रश्न का यथार्थ समाधान सर्वनियन्ता अव्ययेश्वर के अति-
। और कौन कर सकता है ?, जिस अव्ययपुरुषात्मक आत्मधर्म की निरपेक्षिता
ं भारतराष्ट्र की मानवप्रजा को इस प्रश्नाम्रेडन के लिए आज सर्वात्मना
र ही प्रमाणित कर दिया है कि—

क्या हम मानव हैं ?

यह तो हुई वर्गोच्छेदक, किन्तु तत्त्वत वर्गों के अनन्य समर्थक वर्त्तमान
तन्त्रात्मक सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाजवाद की (सम्भवत अब भी वर्गविहीन
जवाद की ?) ही पुण्यगाथा का मूलसस्मरण । अब स्वयं विशुद्ध सत्तातन्त्रात्मक
ासनक्षेत्र (सरकारक्षेत्र) से सम्बन्ध रखने वाले अगणित वर्गभेदों का विचार
िए । मुख्यमन्त्री प्रथमवर्ग हैं, अन्य मन्त्रिगण द्वितीय वर्ग हैं, सचिव-
ं तृतीय वर्ग हैं, तो भृत्यसमन्वित कार्य्याग्राहक (चपरासी आदि
हित क्लार्क) वर्ग चतुर्थ वर्ग हैं । चारों के लिए उद्‌घोषित असमान-
वस्थाएँ हैं, जहाँ साम्य का नामस्मरण भी अवैधानिक घोषित हुआ है ।
ं कौन नहीं जानता कि, इन जनसेवकों ? के जीवनीय मापदण्ड कहीं कहीं तो
र्मवञ्चित-अतएव धूलिधूसरित सामन्तशाही को भी परास्त कर रहे हैं ।
नता के मतदानों से ही सिंहासनारूढ इन जनसेवकों से तो असंमत् सदृश-
ामान्य जनतावर्ग के लिए दर्शन भी कठिन है, फिर अपनी वैभवहीना-
त्वहीना अस्पृश्यता के अभिशाप से यह वर्ग उन के स्पर्श की तो कल्पना भी
से कर सकता है । तत्तन्त्रानुगता-परिगणिता-जनता के अतिरिक्त सामान्य-

ही रक्तक्रान्तिमूलक किसी अप्रत्याशित भयावह सकट से ही ग्रहग्रस्त बन जायगा। अतएव ....।

यह है उन प्रतीच्य विद्वानों के मन्तव्य, जिनके देश की मान्यताओं के अनुकरण के आधार पर हमारा तथाकथित धर्म्मनिरपेक्ष सविधान बना है। कोई स भी शासनतन्त्र हो, अभीष्ट केवल 'आत्मधर्म्म' निष्ठा है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है वर्त्तमान गणतन्त्रानुगत प्रजातन्त्र भी अशतः राष्ट्रप्रगति का कारण बन सकता है। स्वय भारतराष्ट्र की चिरन्तन प्रज्ञाने इसी आधार पर केवल प्रकृतिमूलक, किं नीतिमात्रप्रधान नीति-अनुशासन-गण-प्रजा-नामक चारों हीं तन्त्रों के मू में 'अव्ययपुरुषात्म' रूप 'धर्म्म' को प्रतिष्ठित कर अपनी इन चारों शासन व्यवस्थाओं का मानवीय-आध्यात्मिक चारों पर्वों से निर्विरोध सम-समन्व कर लिया था।

क्या वर्तमान समाजवादीया पद्धति ने कोई नवीन आविष्कार कर डाला ! असम्भव। निश्चयेन प्रतीच्यपथानुगत-समाजवाद की पद्धति में भी वही सब कुछ ! जो प्रकृत्या होना चाहिए था। धर्म्म का उपक्रम जहाँ अव्ययपुरुष (आत्मा)से हो है, वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष नीति का उपक्रम शरीर ही तो बन सकता है। अतएव प्राय इस पद्धति में है वयस्क (अर्थात् शरीर विकासमात्रानुगामी) मानवों का वि कहा जाता है-प्रजा, किंवा जनता, जिसकी प्रधान आवश्यकता मानी गई शरीरचिन्तानिवर्त्तिका योगक्षेमव्यवस्था। इसमे उपक्रान्त होने वाली सत्ता मन-बुद्धि-भूतात्मा-तीनों हीं शेषवर्ग शरीरधर्म्मों से ही तो नियन्त्रित रहेंगे फलस्वरूप शरीरपोषण के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ग के विकास का अवसर नहीं रह जाता इस पद्धति में। शरीरस्थानीया जनता से मतग्रहीता मनःस्थानीय वर्ग नियन्त्रित, इनसे बहुतमतशाली भी सशङ्क-बुद्धिस्थानीय वर्ग विकम्पित, एवं इनकी कृपामात्र से नेतृत्व पद पर समारूढ भूतात्मस्थानी अन्तिम वर्ग भी सशङ्कित। चारों हीं तत्त्वत परस्पर अनियन्त्रित नि न्त्रित-विकम्पित-और सशङ्कित। अतएव तत्त्वतः घोषणामात्र के लिए सर्वात्म शरीर से पुष्ट-मन से तुष्ट-बुद्धि से तृप्त, एवं भूतात्मना शान्त भी ...।

दशा में तो आज हम अपने आप से भी इस प्रश्न करने का भी नहीं रव रहे कि—

क्या हम मानव हैं ?

मान-समाजवादव्यवस्था के सुविशाल ? प्राङ्गण में, भेदभावशून्य ? ग में वर्गभेदों के मूलोच्छेद के लिए आतुर बने हुए इस समाजवादी सम्भवतः वर्गभेदात्मिका भेददृष्टि के उन्मूलन ? के लिए ही, और सम्भवतः में भेदवादशून्य-नामरूपकर्म्मभेदों से अतीत-अद्वैतसिद्धान्त की प्रतिष्ठा ? ही स्वयं समाजवाद के केन्द्रस्थान में ही उन नवीनतम-आधुनिकतम आवास-निवास-नगरों-स्थानों का निर्म्माण किया होगा, जो बड़े ही गौरव ध्यान से अपने-शाननगर, माननगर, विनयनगर, सेवानगर, इन अपनी वर्गभेदोन्मूलन-घोषणा का मानो उपहास ही कर रहे हैं। लक्ष्य का अनुग्रह करना ही चाहिए अस्मत्-सदृश-समानधर्म्मा चान्द्र मानवों को लेखी उन वर्गभेदात्मिका तालिकाओं को, जिनका स्वरूप परस्पर सर्वथा है, जिनका आहार-विहार-पद-सम्मान-धन-गौरव-मानादि-सभी कुछ स्पर निःसीमरूपेण विभिन्न है। और यह नानात्व, यह भेदव्यवहार, यह , यह मापदण्डभेद किस व्यवस्था के सुपरिणाम हैं ?, प्रश्न हमारे लिए तो त्य ब्रह्म की भाँति अचिन्त्य ही प्रमाणित हो रहे हैं। अब तो एकमात्र त्य-अविज्ञेय परमेश्वर ही इन आधुनिकतम-प्रकृतिमात्र प्रधान-आत्मधर्म-ञ्चित वर्गभेदों को चिन्त्य बना सकते हैं।

-मानवव्यक्ति के उद्घोषित चार-वर्ग—

र से भ्रान्त-उच्छृङ्खल कर्म्म द्वारा (शारीरिक पुष्टि से विपरीता-भ्रान्ति)

से क्लान्त-अनतान्त्रिक नियन्त्रणों के द्वारा (मानसिक तुष्टि से वि० क्लान्ति)।

द से विश्रान्त पदप्रतिष्ठालालसा के द्वारा (बौद्धिक तृप्ति से वि० विश्रान्ति)।

आत्मा से अशान्त-पदसंरक्षणप्रयासों के द्वारा (आत्मिक अशान्ति से वि० अशान्ति)

—— १ ——

जनता का तो (जिसे तत्वतः 'जनता' अभिधा का सहज अधिकार प्राप्त है) इस
जनसेवक तन्त्रों के द्वारों में भी प्रवेश निषिद्ध है केवल मत (वोट)-संग्राहक
ग्रामधर्म्मवालों को छोड़ कर । ऐसा सबकुछ क्यों घटित-विघटित हो रहा है ?
प्रश्न का एकमात्र उत्तर है प्रकृति को पुरुष से विच्छिन्न कर देना । सम
को व्यक्तित्त्व विकास से पृथक् मान लेना । निष्कर्षत -नीति को धर्म
से सर्वथा निरपेक्ष मान बैठना । और दूसरा इस से भी भयानक उ
है यहाँ के वर्त्तमान विद्वानों का (अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्ता आत्म
बुद्धिमन शरीरदासतामूला परतन्त्रता के अनुग्रह से) सत्तातन्त्र
वास्तविक उद्बोधन प्रदान करने के स्थान में उसकी भावुकतापूर्ण
मान्यताओं का केवल 'नामसाम्य' के आधार पर तत्त्वशून्य समर्थन प्र
करते जाना ।

इसी समर्थन व्यामोहन के कारण 'नीति' को ही धर्म्म प्रमाणित क
के लिए कटिबद्ध हो जाना, भारतीय धार्मिक गणतन्त्र के-'गण' श
साम्यमात्र के व्याज से इस पश्चिम के अनुकरणात्मक गणतन्त्रानु
प्रजातन्त्र पर भारतीय शास्त्रपज्ञा की छाप लगाते रहना । इसी व्यामोहन
तो यहाँ की मूलसंस्कृति-शुद्धधर्म्म-ज्ञानविज्ञानसम्मत तत्त्ववाद-आदि को मत
के द्वारा अभिभूत किया है, जिस इस सर्वस्वाघातिका अभिभूति के महान् स
वाहक संस्कृति के अतीत, एवं भविष्य से कोई सम्पर्क न रखने वाले,
नि स्वार्थभाव ? से केवल 'वर्त्तमान' के रहस्यात्मक तत्त्व के पूर्णज्ञाता ? श
विद्वान् ही बनते आ रहे हैं विगत कतिपय शताब्दियों से । इनकी इसी 'राज
के नि सीम अनुग्रह से कुछ ही समय के पूर्व के राज्यतन्त्रसमर्थक भी वे ही भा
शास्त्र आज गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र के सर्वसमर्थक प्रमाणित हो गए । औ
मुख्यरूप मे तो देश के इन राजभक्त विद्वानों की ही कृपा से ही एतद्देशीय ! मै
साहित्य, तदनुप्राणिता मूलसंस्कृति, तदभिन्न सम्प्रदायवादनिरपेक्ष शाश्वत
तदुपबृंहक-आदर्श-सभ्यता-आचार-राजनीति-आदि आदि यच्चयावत्
विभूतियाँ राष्ट्रीय जनमानस की प्रज्ञा से सर्वथा ही तिरोहित बन चुकी हैं ।
... और क्या पतन होगा ! । इस आत्यन्तिक प्रज्ञापतन के अनुगा

नीति, और धर्म शब्दों के चिरन्तन इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले
ीय समाजशास्त्रियों की अध्ययात्मधर्ममूला धर्मप्रधाना आश्रमव्यवस्था, एवं
प्रधाना वर्णव्यवस्था के दिग्दर्शन के अनन्तर वर्त्तमान सत्तातन्त्र के धर्म-
िद्व चतुर्धा-विभक्त ही, अतएव वर्गभेदात्मक ही समाजसंघठन के उस
निरपेक्ष गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र का दिग्दर्शन कराया गया, जिस के द्वारा
ारतीय चिरन्तन-समाजसंघठन को उच्छिन्न कर एक नवीन धर्मनिरपेक्ष
ाममाजवाद' स्थापित करने के लिए आतुर बने हुए हैं। इसी सम्बन्ध में
विदेशी तत्त्वज्ञ विद्वानों की मान्यताओं के दिग्दर्शन कराने की भी प्रासङ्गिक
ा हुई, जिन्हें आज हमारा सत्तातन्त्र अपने प्रत्येक विधि-विधानों में अनुकरणा-
ा से आदर्श मान रहा है। इन सब आलोच्य-प्रसङ्गों के आधार पर अब
ति, और धर्म के शब्दार्थ समन्वय के सम्बन्ध में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच
जाना पड़ा कि,—

बिना आत्मधर्म के शरीरनीति कदापि स्वस्वरूप से न तो प्रतिष्ठित ही
ा सकती, न ऐसी शरीरनीति (लोकनीति) का विकास ही सम्भव। स्पष्ट ही
र्म को निरपेक्ष उद्घोषित कर बैठने वाली ऐसी नीति आत्ममूलक 'समदर्शनपथ'
स्खलित होती हुई विषमदर्शन का ही सर्जन कर डालती है, जिस विषमदर्शन
ो अग्रिमशाने वैय्यक्तिक लोकैषणा का, एवं तदनुगता वित्तैषणा का ही उद्गम
थान माना है। धर्मनिरपेक्ष इत्थंभूत नीति-पथ के निग्रहात्मक अनुग्रह से जिस
ाष्ट्र की 'मानवता' लोकैषणात्मक पद-प्रतिष्ठा--व्यामोहन, तत्स्वरूपसंरक्षक
वित्तव्यामोहन को ही जहाँ मानवजीवन का एकमात्र लक्ष्य मान बैठी हो, 'दानवता'
े समतुलिता उस मानवता ? को अनुदिन दुर्विगत होते देख कर क्या मानव की
चिरन्तनप्रज्ञा अपने अन्तर्जगत् में यह मूक प्रश्न नहीं कर सकती कि—

क्या आज हम मानव हैं ?

(२)-संसदीया-प्रणाली के उद्घोषित चार वर्ग—

१-मतदात्री जनता--(समाजशरीमद्य)-अनियन्त्रित--जनतावर्ग (धर्मनिरपेक्षिता के
२-मतेच्छु-वर्गाः---(समाजमनोऽद्य)--नियन्त्रित---विभिन्नवर्ग (जनता के द्वारा)
३-बहुमतानुगतो वर्ग - समाजबुद्धिरद्य)-विकम्पित---सशक्तवर्ग (विभिन्न वर्गों के द्वारा
४-बहुमतवर्गस्य नेता (समाजभूतात्माद्य)-सशङ्कित--मुख्यवर्ग (सशक्तवर्ग के द्वारा

——२——

(३)-राजधानी (न्युदेहली) के उद्घोपित चार नगर—

१—शाननगर (सर्वोच्च अधिकारियों के लिए सुरक्षित-आत्मस्थानीय
२—माननगर (गजेटेड् अधिकारियों के लिए सुरक्षित-बुद्धिस्थानीय
३—विनयनगर (क्लार्क-अधिकारियों के लिए सुरक्षित -मन स्थानीय
४—सेवा-नगर*(चपरासी-अधिकारियों के लिए सुरक्षित शरीरस्थानीय

——३——

(४)-राजस्थानप्रान्त की राजधानी के आदर्शनगर-गाँधीनगर उद्घोपित पाँच निवासस्थान—

१—A क्लास (फर्स्टक्लास) सर्वेन्टों के आवासगृह (आत्मस्थान
२—B क्लास (सेकिण्डक्लास) सर्वेन्टों के निवासगृह (बुद्धिस्थान
३—C क्लास (थर्डक्लास) सर्वेन्टों के विश्रान्तिगृह (मन.स्थान
४—D क्लास (फोर्थक्लास) सर्वेन्टों के विश्रामगृह (शरीरस्थान
५—E क्लास (फिफ्तक्लास) सर्वेन्टों के शरणगृह÷ (प्रवर्ग्यस्थान

——४——

*--भारतीय वर्णव्यवस्था में शरीरधर्म्मा मानव को ही 'शूद्र' कहा गया एव यही 'सेवा' धर्म्म का अनुगामी माना गया है। समतुलन कीजिए वर्ग के लिए निर्मित **'सेवानगर'** के 'सेवा' शब्द के साथ शूद्रवर्ण 'सेवाधर्म्म' का।

÷--भौमज्योतिर्मय आदितेय पूषाप्राण जहाँ स्वच्छूद्र का आधार माना है, वहाँ तपोमय भूमाप्राण दितेय असच्छूद्र का आधार माना गया है, पाँचवाँ अवर्ण विभाग है भारतीयशास्त्र में। लीजिए, हमारी प्रान्तीयसत्ता उस पञ्चम श्रेणि को भी विस्मृत नहीं किया। -

ी मुख्य विभाग हैं। आत्मपर्व अन्तर्मुख है, शरीरपर्व बहिर्मुख है। अन्त-
व आत्मपर्व इन्द्रियातीत है, बहिर्मुख शरीरपर्व इन्द्रियदृष्ट है, प्रत्यक्ष है।
मा, और शरीर के इन स्वरूपभेदों के आधार पर ही धर्म्म, तथा नीतिमार्ग
वस्थित हुए हैं। प्राणप्रधान आत्मा भूतप्रधान शरीर की प्रतिष्ठा है। धर्म्म
आत्मा से सम्बन्ध है, नीति का शरीर से सम्बन्ध है। क्योंकि धर्म्मानुगत
ामा नीत्यनुगत शरीर की प्रतिष्ठा है, अतएव धर्म्म को नीति की प्रतिष्ठा कहा
सकता है। दृश्य प्रपञ्च स्थावर-जङ्गम (जड-चेतन) भेद से दो मार्गों में
मक्त है। स्थावरप्रपञ्च 'विश्व' है, जङ्गमप्रपञ्च 'जगत्' है। विश्व (जड-
पञ्च), और जगत् (चेतन प्रपञ्च) दोनों दृश्य-भौतिक प्रपञ्चों की मूलप्रतिष्ठा
र्म्म ही माना गया है। इसी आधार पर-'धर्म्मो विश्वस्य, जगत प्रतिष्ठा'
सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

प्राणात्मक धर्म्मपथ के आधार पर प्रतिष्ठित भूतात्मक नीतिपथ आगे जाकर
धर्म्मपथ' में ही अन्तर्भूत हो जाता है। यही कारण है कि, अन्तर्मुख धर्म्म,
एवं बहिर्मुखा नीति के विभिन्न स्वरूप-युक्त होने पर भी भारतीय दृष्टिकोण से
नीति भी धर्म्ममार्ग ही मान लिया गया है। तात्पर्य्य-भारतीय परिभाषा में नीति
वही नीति है, जिसकी प्रतिष्ठा धर्म्म है। धर्म्ममार्गच्युत विशुद्ध नीतिमार्ग यहाँ
अनीतिपथ ही माना गया है। लोकव्यवहार नीतिमार्ग पर प्रतिष्ठित हैं, पारलौ-
किक-आत्मविकासम् लक-आत्मिक आचरण धर्म्ममार्ग पर प्रतिष्ठित हैं। लौकिक
चातुरी नीति है, पारलौकिक (आत्मिक) कौशल धर्म्म है। यदि लौकिक
चातुरी केवल चातुरी है, इसमें केवल लौकिक स्वार्थसाधन, साथ ही आत्मवि-
कासतिरोभावपूर्वक पारलौकिक कौशल की हानि होती है, तो ऐसी चातुरी यहाँ
नीति न कहला कर 'अनीति' ही कहलाई है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां
सा चातुरी चातुरी' इस लोकसूक्ति के अनुसार चातुरी (नीति) वही चातुरी
है, जिसमें लोकव्यवहार-संरक्षणपूर्वक आत्मकौशल सुरक्षित बना रहता है।
शरीरव्यवहार आत्मव्यवहारानुकूल बना रहे, यही यहाँ की नीति है। एवं आत्म-
व्यवहार शरीरानुकूल बना रहे, यही यहाँ का धर्म्म है। और इस दृष्टिकोण से धर्म्म
एवं नीति के पृथक्त्व रहने पर भी दोनों का एकत्र समन्वय हो रहा है।

प्रसङ्ग-प्रेरितकर रहा है कि, दो शब्दों में धर्म्म, और नीति का ए
स्वतन्त्र दृष्टिकोण से भी स्वरूप-दिग्दर्शन करा दिया जाय। इसलिए, क्या कि
जाय कि, एक ओर वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रज्ञा जहाँ बड़े आवेश से नीति-नैतिकता
आदि का अनुदिन उद्घोष कर रही है, वहीं वहाँ दूसरी ओर 'धर्म्म' का नाम
सुनने मात्र से भी उत्तेजित हो पड़ती है। मानों इस की दृष्टि में धर्म्म ही
मानव की नैतिकता का अन्यतम शत्रु हो। धर्म्मप्राण इस भारतराष्ट्र में धर्म्म के
प्रति इसप्रकार उपेक्षा क्यों हो पड़ी !, इस प्रश्न के कूटनीतिपरिपूर्ण इतिहास के
विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है। यह भावना स्वयं इस राष्ट्र के मानव की
उपज नहीं है। अपितु यह तो उस घोषणा का पुनरावर्त्तन-मात्र है यहाँ के आलं
बुद्धिदासपथानुवर्त्मा भावुक मानव के द्वारा। '**हम तुम्हारे धर्म्म में कोई
हस्तक्षेप नहीं करेंगे। क्योंकि धर्म्म का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है**'
साम्राज्ञी विक्टोरिया की इस पुरातन-घोषणा का ही पुनरावर्त्तनमात्र हो पड़ा
है आज के उस संविधान के द्वारा, जिसकी संसदीया प्रणाली, तदनुगत यथ
वत् विधि-विधान पूर्वकथनानुसार उसी देश की प्रज्ञा के वद्ध प्रसूत हैं।
इन कल्पना-प्रसूनों के प्रातिभासिक स्वरूप-दर्शन के लिए ही धर्म्म और नीति
का यह स्वतन्त्र स्वरूप श्रोताओं के सम्मुख समुपस्थित हो रहा है।

'धर्म्म' शब्द के साथ 'नीति' शब्द बिना ही निमन्त्रण के उपस्थित हो
जाता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर, दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, एवमेव धर्म्म
और नीति का भी भारतीय दृष्टिकोण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीति शरीरस्थानी
है, धर्म्म आत्मस्थानीय है। नीति वही नीति है, जो धर्म्मस्वरूप का संरक्षण
करती है। धर्म्म, वही धर्म्म है, जो अपने आधार पर प्रतिष्ठित नीति को लोका
भ्युदय में प्रवृत्त रखता है। वैसी नीति अनीति है, जो धर्म्मस्वरूप पर आक्रमण
कर उसे स्वरूपच्युत कर देती है। वैसा धर्म्म अधर्म्म है, जो नीति को लोक
संरक्षण की विघातिका बना देता है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर धर्म्म
और नीति का समन्वय कीजिए।

अध्यात्मसंस्था का जिस पद्धति से जीवन-निर्वाह होता है, वह पद्धति ही
अध्यात्मसंस्था का धर्म्म, तथा नीति है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, और शरी

शरीर प्रतिष्ठित है। आत्मप्राधान्य से ही यहाँ आत्मा जहाँ समुज्ज्वल है, वरुण-गौणता से शरीर कृष्ण है। पश्चिम दिशा के दिक्पाल वरुण पश्चिम में प्रधान हैं, इन्द्र गौण हैं। अतएव वरुणानुगत शरीर वहाँ प्रधान है, नुगत आत्मा गौण है। शरीर के आधार पर वहाँ आत्मा प्रतिष्ठित है। प्राधान्य से ही वहाँ शरीर जहाँ समुज्ज्वल है, शुक्ल है, वहाँ इन्द्र की ता से आत्मा तमोऽभिभूत है। यहाँ नीति धर्म्म के लिए है, वहाँ धर्म्म त के लिए है। यहाँ धर्म्म नीति का आधार है, वहाँ नीति धर्म्म आधार है। यहाँ दोनों के संघर्ष में नीति की उपेक्षा की जाती है, ाँ दोनों के संघर्ष में धर्म्म (मत) की उपेक्षा की जाती है। यहाँ का र्म आत्ममूलक बनता हुआ धर्म्म है, वहाँ का धर्म्म मानवीय कल्पना से ाव बनता हुआ 'मत' है और यही धर्म्म तथा मत में अहोरात्र का अन्तर जिसे न समझ कर ही मतवाद की भाँति भारतीय धर्म्म भी वर्तमान शिक्षित- ा की दृष्टि में एक अनावश्यक, साथ ही शान्ति-विघातक तत्त्व बनता रहा है।

मतवाद, और धर्म्म के तात्त्विक स्वरूप का निर्णय कर के ही हमें भारतीय र्म की उपादेयता की मीमांसा करनी चाहिए। भारतवर्ष में प्रचलित यद्यावत् म्प्रदाएँ, पश्चिमी देशों में प्रचलित विभिन्न धर्म्मपथ, सब माननीय मन से म्बन्ध रखते हुए 'मतवाद' हैं। जो भारतीय सम्प्रदाएँ वेदधर्म्म पर प्रतिष्ठित हैं थी), उन को छोड़ कर समस्त विश्व के धर्म्मों को केवल 'मतवाद' ही कहा ाएगा। सृष्टि के आरम्भ से प्रलय पर्य्यन्त समानरूप से प्रवाहित प्रकृतिसिद्ध ाकृत नियमोपनियमों की समष्टि ही 'धर्म्म' (प्राकृत-प्रतीकधर्म्म *) है जिसके र्शन का, प्रचार प्रसार का एकमात्र श्रेय एतद्देश में प्रसूत उन भारतीय तत्त्वद्रष्टा र्षियों को ही मिला है, जिन की दृष्टि का आधार वेदशास्त्र है, एवं जिन की दृष्टि से दृष्ट मानवधर्म्म मनुस्मृति में प्रतिपादित हुआ है।

---

* स्मरण रहे-सामान्य-विशेषात्मक प्रतीक धर्म्म धर्म्म के प्रतीक हैं। इनका आधारभूत अव्ययात्मधर्म्म तो अप्राकृत धर्म्म ही है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

इस समन्वय से कभी दोनों के सघर्ष का अवसर उपस्थित नहीं होता । यः कभी किसी प्रसङ्ग पर नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर आक्रमण करता हुआ प्रतीत होने लगता है, तो उस दशा में यहाँ उस नीतिमार्ग की उपेक्षा कर दी जाती है । दोनों के काचित्क सघर्ष में धर्म्म का ही समादर किया जाता है । धर्म्मविरुद्ध नीति-मार्ग यहाँ सदा से उपेक्षणीय ही माना गया है । धर्म्ममार्ग का स्वरूपप्रे वेदवित् ब्राह्मण है, नीतिमार्ग का सरक्षक मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा है । रा का नीतिमार्ग ब्राह्मण के धर्म्ममार्ग को आधार बना कर ही प्रवृत्त होता है । अतएव भारतीय नीतिमार्ग का प्रवर्त्तक-सरक्षक राजा यहाँ निष्कर्षत धर्म्ममार्ग का ही सरक्षक माना गया है । राजा की राजनीति धर्म्ममार्ग का ही सरक्ष करती है । यहाँ आकर हम कह सकते हैं कि, यहाँ धर्म्म और नीति कहने म के लिए दो विभिन्न पथ हैं । वस्तुत दोनों अभिन्न हैं । वेदशास्त्रसिद्ध धर्म ही यहाँ की राजनीति की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्वरू विश्लेषण हुआ है —

> क्रमेण श्रणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियुज्यते ॥
> आत्मा, सुतो, वा भार्य्या वा, तद्विशेषं शृणुस्व मे ॥१॥
> ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् वयोवृद्धान् सुदक्षिणान् ।
> सेवेत प्रथमं विप्रानसूयापरिवर्जितान् ॥२॥
> तेभ्यश्च शृणुयान्नित्यं वेदशास्त्रविनिर्णयम् ॥
> यद्रुचुस्ते च तत् कार्य्यं प्राज्ञैश्चैतन्नृपश्चरेत् ॥३॥
> —कालिकापुराण—राजनीतिवि० पु० ८४ अ० ।

नीतिमार्ग धर्म्ममार्ग पर किस दशा में प्रतिष्ठित रहता है ?, इस प्रश्न उत्तर आत्मप्रधानता पर निर्भर है । आत्मस्वरूप का इन्द्रतत्त्व से, एवं शरीरस का सम्बन्ध वरुणतत्त्व से माना गया है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा है । पूर्वदेशों में इन्द्र का प्राधान्य है, वरुण गौण है । अतएव इन्द्रा आत्मतत्त्व यहाँ प्रधान है, वरुणानुगत शरीर गौण है । आत्मा के आधार

में क्या हुआ ?, यह भी एक अनुरञ्जन की सामग्री है, जिसका दो शब्दों
श्लेषण कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। हमनें उनमे क्या लिया ?,
ा उत्तर स्पष्ट है। विजेता की सस्कृति विजितों को विवश बन कर स्वीकार
पड़ती है। फलत हमनें उनकी सस्कृति, सभ्यता, आदर्श, साहित्य को ही
अभ्युदय का कारण समझा। अपनापन छोड़कर हम सर्वात्मना दासधर्म्म'
क्षित होगए। हमारे वे सब आचार–व्यवहार हमारी ही दृष्टि में केवल ढोंग
ए, जिन का हमनें उनके आचार–व्यवहार से विरुद्ध गमन देखा। उन्हें
से क्या मिला ?, सब कुछ। इसप्रकार पारस्परिक सम्बन्ध में हमनें सबकुछ
दिया, और उन्होंनें सबकुछ पा लिया। वे 'वे ही' बने रह कर जहाँ सब कुछ
ए, वहाँ हमनें 'वे बन कर' सब कुछ खो दिया। हमनें वैदिक सिद्धान्तों की
ा की, उन्होंने वैदिक सस्कृति का मुक्त कण्ठ से यशोगान किया। हमनें
तीय अध्यात्मवाद को केवल कल्पना समझा, उन्होंनें इसी को शान्ति का
ण माना। उनके इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता के लिए एक दो उदाहरण
ृत कर देना भी अनावश्यक न माना जायगा।

जर्मनी के अधिनायक हर हिटलर के आध्यात्मिक गुरु सुप्रसिद्ध दार्शनिक
त्शे' महोदय ने प्राय विश्व के सम्पूर्ण मतों (ism) का, तथा मजहबों
Religeon) का अध्ययन किया। इनके अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर
ुचे कि, "मत, और मजहब, दोनों मानव–जीवन की स्वाभाविक शान्ति
अन्यतम शत्रु हैं। न तो इनसे राष्ट्र का बौद्धिक विकास ही हो सकता,
न इनसे मानव की व्यक्तिसस्था का ही कोई अभ्युदय सम्भव। क्योंकि
नके नियम सकुचित, अतएव दासता के प्रवर्त्तक हैं"।

आगे जाकर जब नीत्शे को यह विदित हुआ कि, धर्मतत्त्व मत और मजहब
कोई विभिन्न वस्तु है, जिसमें युक्ति–तर्क–विज्ञान का समादर है, जिसकी दृष्टि
दार है, जिसके नियम विकसित हैं, तो वे धर्मतत्त्व के परिज्ञान के लिए व्यग्र हो
गए। आपने वैदिक–मन्त्रों का अध्ययन किया। इस वेदस्वाध्याय के अनन्तर वेद-
सिद्ध सनातनधर्म्म के सम्बन्ध में आपकी यह धारणा हो गई कि—"वेद से बढ़

धर्म्म कभी नहीं बदलता, बदलते हैं–मतवाद। धर्म्म और नीति में सघर्ष उपस्थित नहीं होता। सघर्ष होता है–मतवाद, तथा नीति में। यही है कि, पश्चिमी देशों में धर्म्म नामक मतवाद के साथ नीति का सघर्ष होता रहा है। धर्म्म में विज्ञान, तर्क, युक्ति, आदि का समादर है। अतः सघर्ष के कारण उपस्थित ही नहीं हो सकते। मतवाद में केवल अन्धश्रद्धा वहाँ विचार स्वातन्त्र्य का द्वार सर्वथा अवरुद्ध है। अतएव केवल श्रद्धा के बल पर सुरक्षित ऐसे मतवादों में सघर्ष का जन्म ले लेना स्वाभाविक है के साम्यवाद ने इसी मतवाद के भ्रम से धर्म्म और ईश्वर की उपेक्षा कर ही अपना अभ्युदय समझा। साम्यवाद को जन्म देने वाले भारतीय धर्म परिभाषा उसके लक्ष्य में न आई। मानते हैं–मतवादलक्षण धर्म्म ही की अशान्ति का कारण है।–क्योंकि मतवादात्मक धर्म्म में साम्यवाद मूलप्रतिष्ठारूप समदर्शन का नितान्त अभाव है। मतवाद व्यक्तिगत को ही प्रोत्साहित करता है। प्रवृद्ध वैय्यक्तिक स्वार्थ ही समाज–विघटन का बनता है। दुःख है कि भारतीय सनातनधर्म्म' का स्थान भी आज सम्प्रदा रूप मतवाद ने ही छीन लिया है, अथवा तो छीनता जा रहा है।

सभी सम्प्रदायवाद स्व स्व स्थान पर प्रतिष्ठित रहते हुए, साथ ही वे धर्म्मरक्षा में आत्मसमर्पण करते हुए जहाँ उपादेय, अतएव सरक्षणीय है अपने अपने सामयिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता देते हुए, अपने आप अभ्युदय का प्रवर्तक समझते हुए साथ ही इतर सम्प्रदायों की निन्दा कर सगठन तोड़ने का महापातक करते हुए सर्वथा अनुपादेय, अतएव उ ही हैं। सम्प्रदायवाद की घातक प्रतच्छाया के अनुग्रह से ही आज धर्म सार्वभौमित्वता अस्तप्राय बन रही है। जो सनातनधर्म्म' किसी युग में सम्पू की शान्ति का सन्देशवाहक था, वही आज सम्प्रदाय के रँग से रंजित अशान्ति का कारण बन रहा है। सम्प्रदायवाद के घातक अभिनिवेश (ह हठधर्म्मी) से ही साम्यवाद के मूलभूत 'समदर्शन' का विनाश हुआ यही समदर्शन का विनाश समाजशान्ति का उच्छेदक बना है।

शासनसत्ता के अनुग्रह से पश्चिमी देशों का पूर्वी देशों से सम्बन्ध इस सम्बन्ध से दोनों को पुरातन सस्कृतियों का परस्पर आदान–प्रदान

प्रकृति) से बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है"। इस दृष्टिकोण की सिद्धान्त
: आपने वेद-धर्म्म की वस्तुपरीक्षा आरम्भ की। सब से पहिले आपने गीता का
। आरम्भ किया। केवल एक महीने के स्वाध्याय से ही आपका दृष्टिकोण
या। वेदशास्त्रसम्मत पुनर्जन्मादि सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करते हुए
यह स्वीकार कर लिया कि—"अणु, तथा परमाणुओं की सुसूक्ष्म
यों का आधार अवश्य ही सर्वव्यापक ईश्वरतत्त्व कोई सत्तासिद्ध
है, जिसे स्वीकार किए बिना मानव का अभ्युदय असम्भव है"।
आकर आपने यह विश्वास प्रकट किया कि, "उच्चतम शिखर पर पहुँच
वैज्ञान धर्म्म के गुह्यतम-अतीन्द्रिय तत्त्व में ही विलीन हो जाता है"।
कार मिसेज मारमेंट, नेली, स्लेड, पाल, आदि विदुषियों, और विद्वानों
। मुक्तकण्ठ से वेद-धर्म्म की उपादेयता स्वीकार कर सुप्त भारतीयों का उद्-
। कराया है।

पश्चिमी विद्वान् इसप्रकार जहाँ उत्तरोत्तर हमारे धर्म्म की ओर आकर्षित
जा रहे हैं, वहाँ दासवृत्ति में निमग्न हम भारतीय, विशेषत शिक्षित भारतीय
के भूतवाद का अनुकरण करना ही अपना परम पुरुषार्थ मान रहे हैं। अपने
। का विरोध, और पश्चिमी (रूस के) साम्यवाद का समर्थन करते हुए
तीय सभ्यता पर कलङ्क के छींटे फेंकते हुए हम अपने हाथों ही अपने सर्वनाश
आमन्त्रण करते हुए 'प्रगति' के सुख स्वप्नों की असम्भव कल्पना में तल्लीन
रहे हैं। जैसा कि कहा गया है, कार्ल मार्क्स का यह कहना है कि,—"मजहब
ोब मजदूर और किसान के लिए अफीम है, जो उसे अपने अधिकार
। ज्ञान नहीं होने देता"–किसी सीमा तक सत्य है। हम स्वयं मतवादलक्षण
बहब को शान्ति का शत्रु मान रहे हैं। परन्तु इससे आगे बढ़ने में साम्यवाद से
स्युदय नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर ल्यूडर्स के शब्दों में मार्क्स को केवल
रोधि मतों का ही ज्ञान था, जिसमें दोषों का रहना अनिवार्य्य है। अतएव
जहब से ऊब कर उन्होंने उसका विरोध किया।

धर्म्म क्या है ?, धर्म्म, और मत में क्या अन्तर है ?, इस प्रश्न के समाधान
ा क्योंकि उन्हें अवसर ही नहीं मिला। अतएव उन्होंने 'साम्यवाद' की सृष्टि कर

कर कोई भी उत्तम वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं है, एवं न वेदसिद्ध मानव-ध
के अतिरिक्त कोई धर्म्म हीं"। मानवधर्म्म-प्रतिपादिका 'मनुस्मृति' के सम्ब
में आपका यह कथन था कि—"इसमें सूर्य का सा प्रकाश है। ए
मानव-जीवन को सफल बनाने वाले वैज्ञानिक तत्त्वों का विश्लेषण हु
है। यदि मनुष्य मनु महाराज के बताए हुए सामाजिक नियमों का पा
करे, तो वह कभी दु खी नहीं रह सकता"।

सुप्रसिद्ध वेदाभ्यासी सर्वश्री मैक्समूलर महोदय के भी इस सम्बन्ध में ये
विचार थे। आपने एक समय एक महत्त्वपूर्ण परिषत् (सभा) में सम्पादित
इस सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किए थे कि—"यदि मुझ से पूछा ज
कि किस देश के वायुमण्डल में मानसिक विकास की ऐसी विभूति
उत्पन्न हुई है, जिन्होंने जीवन-विज्ञान के गूढतम रहस्यों पर वि
किया है ?, जिनके अध्ययन की आवश्यकता प्लेटो, और काण्ट
पण्डितों को भी रही है ?, तो मैं भारत की ओर इशारा करूँगा"। डा
वैलेन्टाइन की सम्मति में—"वेद ससार का सर्वोत्तम ग्रन्थ है, और भार
सब से सुसस्कृत लोग"। बर्लिन विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रोफेसर मान
ल्यूडर्स साहिब ने वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति का पर्याप्त अध्ययन कि
परिणाम में आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—"यदि महात्मा कार्ल मार्क्स
के साम्यवाद के आचार्य्य) अपने जीवन में एक बार भी चन्द घ
लिए भी मनुस्मृति का अवलोकन कर लेते, तो बहुत सम्भव था
साम्यवाद के प्रवर्त्तक होने के बजाय वैदिक-साम्यवाद के एक
प्रचारक बन जाते। किन्तु योरोप का दुर्भाग्य था कि, उन्हें ऐसा अ
ही प्राप्त न हुआ"।

जिस युग में पश्चिमी विद्वानों की रुचि वेद-स्वाध्याय की ओर अधि
बढ़ती जा रही थी, उस रुचि को देख सुन कर उस युग के सुप्रसिद्ध विज्ञा
आइन्सटीन महोदय आकुल हो पड़े। आप अपने समय के कट्टर नास्ति
आपका विश्वास था कि, "मनुष्य स्वय ही अपना निर्माता है, इस मा

धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक क्षत्रिय, दोनों ही विभाग दुर्भाग्य से आज सुप्त हैं। ऐसी स्थिति में अर्थकोष का संरक्षक गुप्तसमाज (वैश्यसमाज-पूँजीपति) यदि उच्छृङ्खल न बने, तो महान् आश्चर्य्य है। और उभय रक्षाकर्म्म से वञ्चित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा गरीबों का रक्तशोषण न हो, तो महान् आश्चर्य्य है। इसी तो हम साभिनिवेश यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहे हैं कि, यदि हम वास्तव में भारतराष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें दरिद्र सामान्य प्रजा के दुःखों में सहयोग देना पड़ेगा, इसके लिए पूँजीपति वैश्यसमाज का ध्यान धर्म्ममूलक साम्यवाद की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। इसके लिए धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के संरक्षक सत्तातन्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा। एवं सत्तातन्त्र की दण्ड-नीति को धर्म्मानुगत बनाए रखने के लिए वेदशास्त्रसम्मत मानवधर्म्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। सर्वान्त में ब्राह्मणवर्ग को वर्त्तमान सम्प्रदाय वाद (मतवाद) की सङ्कुचित दृष्टि से बचाकर इसे शाश्वत आर्ष-मानवधर्म्म में पुनः दीक्षित करने के लिए विलुप्तप्राय वेदविज्ञान का पुनः उद्धार करना पड़ेगा। तभी भारतीय धर्म्म. और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित पल्लवित हो सकेंगी, जिनका हमारे वर्त्तमान अभिनव राष्ट्रनिर्म्माण-प्रसङ्ग में सर्वथा अभाव ही सिद्ध हो रहा है। इससे अधिक राष्ट्रप्रजा का और क्या पतन होगा ! । इस आत्यन्तिक पतन की प्रक्रान्ति को देख-सुन कर ही तो तटस्थ नैष्ठिक मानव आज बार बार हमारे राष्ट्र से यही परोक्ष प्रश्न कर रहे हैं कि—

क्या आज हम मानव हैं !

धर्म्म, और नीति के इस पारस्परिक उपकार्य्य-उपकारक-अन्योऽन्याश्रित-सहज-सम्बन्ध को विस्मृत कर देने के कारण ही आज इस पावन भारतराष्ट्र में धर्म्म, और नीति में परस्पर अहमहमिका बनी हुई है। धर्म्मपथ के पथिक धार्मिक मानव, एवं नीतिपथ के पथिक राष्ट्रीय मानव, इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता वैसी ही प्रतिद्वन्द्विता है, जिसके सूत्रपात पर आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व 'महाभारतयुद्ध' का उपक्रम हुआ था। धर्म्माभिनिविष्ट . . . एवं नीत्यभिनि-

डाली। विज्ञान, और ईसाइयत (मत) में परस्पर पर्याप्त सघर्ष हुए हैं। मार्क्स के युग में भी योरोप में मतवादों के अत्याचार ने प्रबलरूप धारण कर रक्खा था। ईसाइयत का पालन पोषण राजाओं, तथा क्रूर पूँजीपतियों के द्वारा होता था। और इसप्रकार ईश्वर के नाम पर गरीबों का चूँसा हुआ रक्तकोष उसी प्रकार पूँजीपति पादरियों के उपासना-मन्दिरों (गिर्जाघरों) में सञ्चित होता रहता था, जैसे कि वर्त्तमान भारत के पूँजीपतियों के द्वारा पुष्पित पल्लवित सम्प्रदायाचार्यों के कोष मुग्ध अन्ध श्रद्धालु आस्तिक प्रजा के शोषण कर्म्म से सगृहीत अतुल द्रव्यराशि से परिपूर्ण हैं। ऐसी स्थिति में मार्क्स ने जो कुछ किया, ठीक किया। धर्म्म के नाम पर मतवाद का पोषण करने वालों के लिए यदि मार्क्स इससे भी कठिन दण्ड व्यवस्था करते, तो हम उसका भी अभिनन्दन ही करते। परन्तु दुःख है कि, धर्म्म के तात्विक स्वरूप न जानने के कारण अनीश्वरवादात्मक ऐसे साम्यवाद का उनकी ओर से आविष्कार हो पड़ा, जो कहने भर के लिए शान्ति का कारण बनता हुआ भी तत्त्वत अशान्ति का ही जनक सिद्ध होगा। आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मसयम, और इच्छादमन की मूलप्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक ज्ञानात्मक ईश्वरीय धर्म्म से वञ्चित मार्क्स के भौतिक साम्यवाद में भी मतवाद की भाँति आत्मसयम, और इच्छादमन का अभाव है। अतएव केवल अर्थवादात्मक साम्यवाद आत्मशान्ति से कोसों दूर रहता हुआ मानवजीवन को सुशान्त बनाए रखने में नितान्त असमर्थ है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान युद्धप्रवृत्ति ही पर्य्याप्त है।

भारतीय साम्यवाद की मूलप्रतिष्ठा वह धर्म्म है—जिसके सत्य, अहिंसा, दया, अस्तेय, आत्मसयम, इच्छा दमन, आदि गुण माने गए हैं। एवविध धर्म्म से ही साम्यवाद विश्वशान्ति का कारण बन सकता है, जो साम्यवाद गीता के शब्दों में 'समत्त्वयोग' कहलाया है। समदर्शन ही इस समत्त्वयोग की आधारशिला है, एव यही भारतीय साम्यवाद की मौलिक परिभाषा है, जिसे न समझ कर वर्त्तमानयुग के कतिपय राष्ट्रीय गीताभक्तों ने गीता के साम्यवाद के साथ मार्क्स के साम्यवाद की तुलना कर डालने की भ्रान्ति कर डाली है।

यही हमारा धर्म्ममूलक साम्यवाद है, जिसके स्रष्टा हैं ब्रह्मर्षि (ब्राह्मण), एवं सरक्षक हैं—राजर्षि (क्षत्रिय)। धर्म्ममार्ग के [illegible]

धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के सरक्षक क्षत्रिय, दोनों ही विभाग दुर्भाग्य से आज लुप्त हैं। ऐसी स्थिति में अर्थकोष का सरक्षक गुप्तसमाज (वैश्यसमाज-पूँजीपति) यदि उच्छृङ्खल न बने, तो महान् आश्चर्य्य है। और उभय रक्षाकर्म्म से वञ्चित ऐसे पूँजीपतियों के द्वारा गरीबों का रक्तशोषण न हो, तो महान् आश्चर्य्य है। तभी तो हम साभिनिवेश यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहे हैं कि, यदि हम वास्तव में भारतराष्ट्र का अभ्युदय चाहते हैं, तो सर्वप्रथम हमें दरिद्र सामान्य प्रजा के दुःखों में सहयोग देना पड़ेगा, इसके लिए पूँजीपति वैश्यसमाज का ध्यान धर्म्ममूलक साम्यवाद की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। इसके लिए धर्म्मानुगत नीतिमार्ग के सरक्षक क्षात्रतन्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा। एव क्षात्रतन्त्र की दण्ड-नीति को धर्म्मानुगत बनाए रखने के लिए वेदशास्त्रसम्मत मानवधर्म्म के उपदेशक ब्राह्मणवर्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। सर्वान्त में ब्राह्मणवर्ग को वर्त्तमान सम्प्रदाय वाद (मतवाद) की सकुचित दृष्टि से बचाकर इसे शाश्वत आर्ष-मानवधर्म्म में पुन: दीक्षित करने के लिए विलुप्तप्राय वेदविज्ञान का पुनः उद्धार करना पड़ेगा। तभी भारतीय धर्म्म, और नीति की उक्त परिभाषाएँ पुष्पित पल्लवित हो सकेंगी, जिनका हमारे वर्त्तमान अभिनव राष्ट्रनिर्म्माण-प्रसङ्ग में सर्वथा अभाव ही सिद्ध हो रहा है। इससे अधिक राष्ट्रप्रजा का और क्या पतन होगा ! । इस आत्यन्तिक पतन की प्रक्रान्ति को देख-सुन कर ही तो तटस्थ नैष्ठिक मानव आज बार बार हमारे राष्ट्र से यही परोक्ष प्रश्न कर रहे हैं कि—

क्या आज हम मानव हैं ?

धर्म्म, और नीति के इस पारस्परिक उपकार्य्य-उपकारक-अन्योऽन्याश्रित-सहज-सम्बन्ध को विस्मृत कर देने के कारण ही आज इस पावन भारतराष्ट्र में धर्म्म, और नीति में परस्पर अहमहमिका बनी हुई है। धर्म्मपथ के पथिक धार्मिक मानव, एवं नीतिपथ के पथिक राष्ट्रीय मानव, इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता वैसी ही प्रतिद्वन्द्विता है, जिसके वक्षस्थल पर आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व 'महाभारतयुद्ध' का उपक्रम हुआ था। धर्म्माभिनिविष्ट युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डवों की, एवं नीत्यभिनि-विष्ट दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों की इस प्रतिद्वन्द्विता ने किस प्रकार भारतराष्ट्र की

विद्या-श्री-समृद्धि को अभिभूत कर दिया था ?, प्रश्न का समाधान परोक्ष नहीं है । कहीं वही प्रश्न हमारी इस प्रतिद्वन्द्विता से पुनः जागरूक न हो पड़े इस धर्म, और नीति के अभिनिवेश में, इसके लिए दोनों ही अभिनिविष्टों को अपने अपने अभिनिवेशों का राष्ट्रहितमाध्यम से परित्याग कर उस मध्य बिन्दु को अपनी प्रतिष्ठा बना लेने का अनुग्रह कर ही लेना चाहिए, जिस प्रतिष्ठा-बिन्दु पर दोनों ही तन्त्र निर्विरोध सुसमन्वित हो जाया करते हैं । दोनों ही वर्गों को अपनी स्वस्था तथा प्रकृतिस्था मानवीय-प्रज्ञा से धीरतापूर्वक यह विवेक कर ही लेना है कि न तो धर्म्माभिनिविष्टों का धर्म्म ही वास्तविक धर्म्म है, एवं न नीत्यभिनिविष्टों की नीति ही वास्तविक नीति है । अपितु दोनों ही पथ केवल 'वाद' हैं, जिन वादों का कहीं अन्त नहीं है ।

जनसंघ की राष्ट्रीयता, हिन्दूमहासभा का हिन्दुत्त्व, प्रजासमाजवाद का समाजवादत्त्व, रामराज्य का धर्म्मनिष्ठात्त्व, एवं प्रस्तुत सत्तातन्त्र का कामे सवादत्त्व सभी एकमात्र उपलालनात्मिका वैसी प्ररोचनाएँ ही हैं, जिन से न तो धर्म्म ही कोई सम्बन्ध है, न राष्ट्रीयता ही जिनमें प्रविष्ट है, न हिन्दुत्त्व का व्यापक मानवीय स्वरूप ही जिसमें आधार है, न समाजवाद ही जिसमें समाविष्ट है, न नीतिलक्षण जनतन्त्रात्मक पवित्र शासन ही जिसमें जागरूक है । अपितु इन वादों के मूल में प्रच्छन्नरूप से वैय्यक्तिक स्वार्थससाधक, वित्तैषणागर्भित-लोकैषणात्मक-पदप्रतिष्ठा-व्यामोहनात्मक शारीरिक दम्भ, मानसिक मान, तथा बौद्धिक ही उत्तरोत्तर पुष्पित पल्लवित हो रहे हैं, जिन दम्भ-मान-मद-भावों को मानवता के अन्यतम शत्रु ही कहा गया है । एवं जिनका एकमात्र प्रचण्ड पुरुष वे उच्चघोषणामात्र हैं, जिन घोषणाओं से उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठाओं कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है ।

सन् ५७ के निर्वाचन के अकाण्ड-ताण्डव के देखने का तो महद्भाग्य उपलब्ध नहीं हुआ । किन्तु कर्णाकर्णिपरम्परया गच्छत.-स्खलनरूप से ताण्डवनृत्य की जो ध्वनि कर्णकुहरों में प्रविष्ट हुई, उसके आधार पर उक्त वादों के प्रति हमें अत्यन्त निराश ही बन जाना पड़ा । सत्तापदे समारूढा कां

दिशा में एकमात्र यह प्रधान तर्क सुना गया कि,—"कांग्रेस ने ही देश तन्त्र किया है। अतएव प्रतिक्रियावादी-सामन्तवादी तन्त्रों से गठ-किए हुये सम्प्रदायवादों की उपेक्षा कर कांग्रेस के ही हाथों को करो। क्योंकि राष्ट्र में एकमात्र यही ऐसी संस्था है, जो अमुक भयों से राष्ट्र का सन्त्राण कर सकती है"। दूसरा महान तर्क—"यदि तिक्रियावादियों में से दो चार को निर्वाचन म सफलता मिल भी तो इससे होगा क्या। अन्त में सरकार तो कांग्रेस की ही बनेगी। ये' इत्यादि इत्यादि"।

आलोच्य दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में एतावन्मात्र ही है कि,—क्या कांग्रेस के मे रामराज्यवादी धार्मिक, हिन्दूमभावादी हिन्दू, एवं जनसंघवादी सभी, में से कोई भी समाविष्ट न थे सघर्षकाल में ?, जो आज केवल वाद' नाम ग्रेस उन सबका बहिष्कार उद्घोषित कर रही है। कांग्रेस के जन्मदाता गोपालकृष्ण गोखले सनातनधर्म के सगुण स्वरूप लोकमान्य बालगङ्गाधर क, कांग्रेस के कर्णधार सर्वश्री गांधीजी के भी श्रद्धेय ज्येष्ठभ्राता पद पर ढ हिन्दुत्व के अनन्य समर्थक धर्मप्राण श्रद्धेय मदनमोहन मालवीय भाग, भारतीय संस्कृति के प्रचण्ड समर्थक सर्वश्री विपिनचन्द्रपाल, आस्था की सजीव प्रतिमा श्री जे० एम० सेन० गुप्ता, भारतीय प्रतिभा के मूर्ति स्वरूप श्रीचितरञ्जनदास, प्रचण्डखण्डिका के अनन्योपासक कारावास पार्थिवपूजन में संलग्न परमतेजस्वी महाभाग श्रीसुभाषचन्द्र बोस, वे- पर अनन्य भावुकता रखने वाले महाप्राण सर्वश्री लाला लाजपतराय, य धर्माचार्यों में आस्था रखने वाले यशस्वी सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्राग्निकधुरीण श्री मोतीलाल नेहरू, राममक्ति में आपादमस्तक मग्न विभोर सर्वश्री जी, आदि आदि जिन राष्ट्रस्तम्भों के शिलान्यास के आधार पर कांग्रेस का न भवन खड़ा हुआ है, क्या वे विभूतियां हिन्दू-राम-वेद-संस्कृति-विषमभावों की शत्रु थीं ? । अथवा तो विगत राष्ट्रीय आन्दोलनों में जिन य महाप्राण राष्ट्रीय मानवों ने अपना सुख, तथा प्रकट बलिदान किया था, वे हिन्दुत्ववादि की सीमा में बहिर्भूत रहने वाले किसी अज्ञात कांग्रेस-लोक

के ही निवासी थे ? । आज जो कॉंग्रेसमञ्च पर समासीन हैं, क्या एकमात्र
कृपा से ही राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ था ? । यदि नहीं, तो फिर इस तर्क का क्या
रह जाता है कि–'कॉंग्रेस ने हीं देश को आजाद किया है'। न
धारणा हीं, अपितु सुनिश्चिता आस्था है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दो
प्रधान त्याग उस हिन्दू का, धर्म्मप्राण उस मानव का ही रहा है, जिसकी
करना अपनी कृतघ्नता का ही नग्न परिचय देना है केवल कॉंग्रेसवाद के का
व्यामोहन-व्याज से । आज भी कॉंग्रेससत्ता का जो भौतिक भवन चल-फिर
उसमें कोटि कोटि उस हिन्दू का ही परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से सर्वस्व समर्पण है,
'हिन्दू' नाममात्र से भी आज की कॉंग्रेस के ललाट पर त्रिवली उभर आ
मुसलमान–इसाई–पारसी–सिक्ख–आदि में से कोइ भी आज राष्ट्रसत्ता के
प्रतिक्रियावादी नहीं । दोष सारा 'हिन्दू' नाम में ही गर्भीभूत है,
मिथ्याभ्रान्ति क्यों ? ।

इसलिए 'हिन्दू' दोषी है कि, इसने प्रतिक्रियावाद करना स्वप्न में
सीखा । हाँ, यह विगत शताब्दियों से 'भावुक' अवश्य रहा है । इसी सव
कारिणी भावुकता के निग्रह से सर्वस्व लुटा कर भी इसने पुरस्कार में
उत्पीड़न–उपेक्षा–ही प्राप्त की है भुक्त-प्रकान्त सत्तातन्त्रों से । और आज
एवविध पुरस्कार इसे प्रच्छन्न में हिन्दू, किन्तु प्रत्यक्ष में कॉंग्रेसज
द्वारा ही अवनतशिरस्क बन कर ग्रहण करने पड रहे हैं । कॉंग्रेसजन स्व
भावुकता के वारुणपाश में आबद्ध बनते हुए पदप्रतिष्ठासरक्षणमात्र के लि
परम पवित्र 'हिन्दू' अभिधा से उत्तेजना-प्रदर्शित करने लग पड़े हैं, जो सम
उपाधि इसकी सहजसिद्धा–विश्वबन्धुत्वमूला–मानवता के सम्मान में इसे हजा
पूर्व उस आर्य्यायण (ईरान) जनपद से ही उपलब्ध हुई है, जिस इस ऐति
चिरन्तन तथ्य को न जाने के कारण अर्वाचीन इतिहास का भावुक विद्या
'सिन्धु' का अपभ्रंश मानने की ही भूल कर रहा है ।

किसने इस हिन्दू की भावुकता से लाभ नहीं उठाया !, एवं किसने
प्रत्युपकार में इसे उत्पीड़ित न किया ! । अन्तर केवल यही है कि, पुरा
यह सर्वसमर्थ भी निरीह (भावुक) जहाँ अन्यान्य आततायियों से

हाँ आज यह अपने भावुक आत्मबन्धुओं से ही उत्पीड़ित हो रहा है । उत्पीड़न-बिन्दु को लक्ष्य बना लेने वाले कुछ एक चाणाक्ष-चतुरों ने भी [सभा' नाम से यदि एक विशेष वर्गवाद को जन्म दे डाला, तो इस में का क्या अपराध है ? । एवमेव इस की सहजसिद्धा धर्म्मभावना को लक्ष्य कर सामन्तवाद के सहयोग से–धर्म्मव्याज से (जो कि तत्त्वतः मतवाद के के और कुछ नहीं है) यदि 'रामराज्यवाद' उद्भूत हो पड़े, तो इस में स का क्या अपराध ? ।

अपराध है यह एकमात्र उस 'कांग्रेसवाद' का, जिसने आवेश में आकर । उपेक्षा तो कर डाली । किन्तु इसकी वह भूख शान्त न की, जिसे पूरी के लिए यह विगत २-३-सहस्राब्दियों से भावुक जनता हुआ इतस्ततः दग्ध बना रहता हुआ दन्द्रम्यमाण है । यह चाहता है, इसकी भूख है मूलसंस्कृति, जिसने इसे 'मानवता' का पुरस्कार समर्पित किया है । वह है इसका वह शाश्वत-सनातनधर्म, जिसके आधार पर न केवल इसी का, तु विश्वमानव का स्वरूप प्रतिष्ठित है । इसी प्रलोभन में इसने कभी बुद्ध शरण ली, कभी आर्हतों को लक्ष्य बनाया, कभी विविध वैष्णवसम्प्रदायवादों आराधना की, कभी अर्द्धतमृगमरीचिका के प्रति अनुधावन किया, कभी ों की उपासना की, कभी तान्त्रिकों के साथ गठबन्धन किया, कभी कीर्त्तन-मण्डलियों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया, तो कभी अन्ततोगत्वा उस कांग्रेस के सर्वस्व समर्पण कर डाला, जिस से इसे अपनी मूलसंस्कृति के पुनरुद्धार बड़ी बड़ी आशाएँ थीं । किन्तु ! · · · ।

बड़ा ही मर्म्मस्पर्शी है इस अभिनय बिन्दु ! परन्तु ! का इतिहास, जो र स्वतन्त्र ग्रन्थ में (चार खण्डों में) उपनिबद्ध कर दिया गया है । ऐसी दशा-दशा में 'हारा ऊँट घड़े में शोधे' न्याय से शताब्दियों का भावुक हिन्दू यदि जनसंघ-हिन्दूसभा-रामराज्य-आदि वादों के प्रति अनुधावन प्र करे, तो इसमें किसका अपराध है ?, प्रश्न के समाधान का अन्वेषण तन्त्र को ही करना है मुमुक्षि-नयन बन कर, किन्तु अपने अभिनिवेशमूलक-

'काम्रेसवाद' के व्यामोहन को छोड़ते हुए ही । यदि काम्रेस में ऐसी उदाता नहीं आवेगी, तो क्या परिणाम होगा इस व्यामोहन का ?, प्रश्न का कुछ कुछ अर्थ सम्भवत इस नवनिर्वाचन-वेला में अब जानने-पहिचानने लगी है हमारे राष्ट्र की यह काम्रेसीया-राष्ट्रसत्ता राष्ट्र के महत्सौभाग्य से । जिसका यत्किञ्चित् सा श्रीगणेश नवनिर्वाचनपथानुगामी उस विशुद्धि-करण से अनुभूत है, जिस विशुद्धिकरण के निग्रहात्मक अनुग्रह से ऐसे कतिपय 'काम्रेसवा' अपने विगत पञ्चवर्षीय सुकृत्यों ! के सुपरिणाम ! स्वरूप भावी सत्ताध्यासे से पृथक् कर दिए गए हैं, जिन की एकमात्र कृपा ! से ही 'काम्रेस' जैसी राष्ट्रीय पावन-संस्था को आज 'कांग्रेसवाद' जैसी जघन्या उपाधि से समन्वित हो जाना पड़ा है ।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि, "अपने भुक्त इतिहास के द्वारा घटित-विपरीत विषमा परिस्थिति से क्षणमात्र त्राण प्राप्त करने के उद्देश्य से ही यह विशुद्धि करण का तात्कालिक अभिनय कर लिया हो" । यह आशङ्का इसलिए स्वाभाविक है कि, विशुद्धि-करण का मूलाधारभूत जो सांस्कृतिक धरातल है उसके प्रति तो आज भी राष्ट्रीयसत्ता उदासीन ही बनी हुई है । इसके अतिरिक्त निर्वाचन-काण्ड के प्रसङ्ग में जिन आशालु-(उम्मीदवारों)-ओं का इस बार भी काम्रेस के नाम पर निर्वाचन होने जा रहा है, उनका जिस अन्तर्गत पद्धति से मटमदुपायों से जैसा प्रचार प्रसार हुआ है, उसे देख-सुन कर अभी तो कोई आशा नहीं की जा सकती इस राष्ट्रीयसत्ता के उद्बोधन की ।

यह शैली ही मानो कुछ ऐसा प्रमाणित कर देने के लिए सज्जीभूत है कि "जिसने चार आने का फार्म भर कर 'कांग्रेसवाद' में नाम लिखा लिया वह उसी प्रकार भगवदनुग्रह से परिपुष्ट-अनुगृहीत हो गया, जैसे कि कोई भी यथाजात भी निरक्षरमूर्द्धन्य भी प्राकृत भी मानव वाल्लभाचार्यों के द्वारा गले में कण्ठी बँधवा कर, और कानों में मन्त्रध्वनि प्राप्त कर बिना ही प्रयास के मुक्तिधाम का अधिकारी घोषित कर दे है अपने आपको स्वयं अपने ही श्रीविहीन-श्रीमुख से । अनुभव-प्राप्ति

-शिक्षा-सदाचार, एवं सर्वोपरि सत्यनिष्ठा के मूल्याङ्कन से यत्किञ्चित् भी न रखते हुए जिसे घुणाक्षरन्याय से जहाँ भी जैसे भी तन्त्र से लो र मिल गया, वही देश का कर्णधार बन बैठने की मृगमरीचिका में न हो गया। और यों शक्ति-योग्यता-परीक्षण की निकषा (कसौटी) से भी असम्पृष्ट इत्थम्भूत आसन्नभावी पदप्रतिष्ठाव्यामोहन का ही नाम यदि ऽ-करण है, तो सचमुच राष्ट्र के लिए यह महद्भावी-भय ही माना जायगा। भगवान् मङ्गल करें हमारे इस भावुक भारत राष्ट्र का। कहीं आगामी पाँच ऽ शासनकाल में भी सत्तातन्त्र ने इस राष्ट्र के मूलहृदय का स्पर्श न कर प्रतीच्य-देशों के अन्धानुकरण के आधार पर ही से मौलिक-आत्मसत्यधर्म्म रहित काल्पनिक नैतिकबल को ही अपने शासन का आधार बनाए रखने की कर डाली, तो राष्ट्र की भावुकप्रजा अपनी एकान्तनिष्ठ-बुभुक्षा से हित होती हुई किसी उस जड़-अर्थ-समीकरणात्मक 'साम्यवाद' में एकबार निमज्जित हो ही जायगी, जिसमें मानव का केवल शरीर ही शरीर कङ्कालरूप आत्मविहीन जडपाषाणरूप से) शेष रह जाया करता है।

यह शुभ चिह्न है कि, वर्त्तमान निर्वाचन में पहिले की अपेक्षा संघर्ष किसी मात्रयन्त जागरूक हुआ है। यहीं 'कांग्रेसवाद' का वह व्यामोहक तर्क उपस्थित कि-"इन दो चार विरोधियों को सफलता मिल भी गई, तो क्या हो-यगा। अन्तत. विजय काँग्रेस की हो सुनिश्चित है। अतएव सरकार कांग्रेस की ही बनेगी"। क्या इस तर्क में कुछ तथ्य है ?। सर्वथा नहीं। यं कांग्रेस का जन्म क्या महासमूह से हुआ था ? । कांग्रेस स्वयं तो मने जन्म-कालीन इतिहास से परिचित नहीं, तो अपरिचित भी नहीं ही होगी ?। ऐसी आत्मविस्मृति तो नहीं हुई है सम्भवत अभी तक इस कांग्रेस की ?। इस से अधिक क्या निवेदन करें हम इस महान् ? तर्क के सम्बन्ध में ?।

अब दो शब्द हमें उन अन्य वादों से भी प्रसङ्गवश से निवेदन कर देने हैं, जो कांग्रेसवाद के विरोध के लिए अवतीर्ण हैं इस राष्ट्ररङ्गमञ्च पर। जहाँ तक कांग्रेस का 'वाद' से सम्बन्ध है, वहाँ तक तो यह भी एक सम्प्रदायवाद-विशेष से

अधिक कोई महत्त्व नहीं रख रही। और इस दृष्टि से तो प्रत्येक प्रज्ञाशील को अन्यान्य मतवादात्मक धर्म्मवादों, हिन्दूवादों, जनसंघवादों, रामराज्यवादों, आदि की भाँति प्रचण्ड विरोध ही करते रहना चाहिए। एवं वैसा स्वतन्त्र एक राष्ट्रीय सांस्कृतिक समूह सुसाधिठत करने में प्रयत्नशील बने रहना चाहिए, जो इन सभी वादों को निस्तेज बनाता रहे। किन्तु जहाँ तक कांग्रेस शुद्ध कांग्रेस है, जिसका 'राष्ट्रस्वातन्त्र्ययज्ञ' से सम्बन्ध है, उसे बलप्रदान करना तो प्रत्येक राष्ट्रहितैषी का अनन्य राष्ट्रीयधर्म्म ही माना जायगा। क्योंकि इस महायज्ञ मे जिन महाप्राणों ने निर्व्याज-निश्छल-रूप से अपना सर्वस्व हुत किया है, उनकी तपश्चर्य्या को आवेश मे आकर अभिभूत कर डालना राष्ट्र के प्रति कृतघ्नता ही मानी जायगी।

आज भी कांग्रेस मे वैसे परिगणित विशिष्ट मानवश्रेष्ठ विद्यमान हैं, जिन में भारतीय सस्कृति के मूलबीज ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। हम यदि भूल नहीं कर रहे, तो हमें यह कह देना चाहिए कि, वे विशिष्ट मानव अमुक सीमा-पर्य्यन्त कांग्रेस के प्रति शुद्ध निष्ठा से अपना उत्तरदायित्त्व निभाते हुए आतुर हैं भारतराष्ट्र की उस मूलसस्कृति, मूल आत्मधर्म्म के पुनरभ्युत्थान के लिए, जिस की प्राणप्रतिष्ठा के बिना स्वयं ये भी इस वर्त्तमान शासनतन्त्र की स्थिरता के प्रति आज सर्वात्मना आशङ्कित हो पड़े हैं।

शङ्कातङ्कितमानस इन राष्ट्रीय अमुक परिगणित नेताओंको ही हमें बल प्रदान करना है अपनी मूलसस्कृति के द्वारा किसी भी सम्प्रदायवाद से थुड़ भी सम्पर्क न रखते हुए। सम्प्रदायवादनिरपेक्ष-मानवमात्र के लिए अभ्युदय कर एतद्देशीय प्राच्य सांस्कृतिक-मौलिक-ज्ञानविज्ञानात्मक विशुद्ध आर्षधर्म्म का पुनःसंस्थापन ही कांग्रेस को प्राणदान कर इसे वैसा सशक्त बना देगा, निश्चयेन बना देगा, जिससे कांग्रेसवाद के साथ साथ अन्यान्य वे सभी वाद भी स्मृतिगर्भ में ही विलीन हो जायँगे, जिन वादों की विभीषिका से आज सर्वसाधनसम्पन्न भी भारतराष्ट्र भा-हत (भा-प्रकाश-तेज, उससे हत-शून्य) ही प्रमाणित हो रहा है।

कौन बलप्रदान करे सत्तातन्त्रको ?, यही एक वैसी समस्या है, जिसका समाधान इस राष्ट्र की तटस्थ प्रज्ञाओं को सम्भवत अनेक शताब्दियों से नहीं मिल रहा है। क्यों नहीं मिल रहा ?, प्रश्न का इसके अतिरिक्त और कोई समाधान नहीं हो सकता कि, जिस कोश में प्रश्न का तात्त्विक समाधान सुगुप्त सुरक्षित है, उस मधु-कोश से तो यहाँ की प्रज्ञाएँ अनेक शताब्दियों से पराङ्मुख बनती चलीं आ रहीं हैं, एव जिन काल्पनिक रिक्त-कोशों के साथ इन प्रज्ञाओं का विगत शताब्दियों से सख्य बनता चला आ रहा है, उन रिक्त कोशों ने इनको प्रज्ञाओं को उत्तरोत्तर कुण्ठित-हतप्रभ ही बनाया है, जिस के दुष्परिणामस्वरूप आज तो वे तटस्थ प्रज्ञाएँ भी इस सीमापर्य्यन्त भावुक बन चुकी हैं कि, सांस्कृतिक बलप्रदान करने के लिए अग्रगामिनी बनतीं हुई पुरोऽवस्थित भूतैश्वर्य्य के चाकचिक्य से प्रभावित हो कर ये स्वय भी कालान्तर में अपने लक्ष्य को विस्मृत करतीं हुईं सर्वथा गतानुगतिक-भाव में ही परिणत हो जाती हैं।

अतएव सत्तातन्त्र से सान्निध्य प्राप्त करने से पहिले तो राष्ट्र की उन विमल-तटस्थ-प्रज्ञाओं का ही उद्बोधन अभीष्ट है। जबतक इनका स्वय का उद्बोधन नहीं हो जाता, जबतक ये स्वय नवग्रहग्राहों से उन्मुक्त नहीं बन जातीं, तबतक तो इस महा यक्ष-महा अश्व-रूप महतो महीयान् गम्भीर प्रश्न से परित्राण पा जाना असम्भव ही है कि—

क्या हम मानव हैं ?

कैसे हो यह उद्बोधन ?, कैसे राष्ट्र की शुद्ध प्रज्ञाएँ नवग्रहग्राह से विमुक्त हों ?, इस सामयिक, किन्तु दुरधिगम्य प्रश्न के साथ साथ ही यह समस्या भी प्रधानरूप से शेष ही बनी रहँ जाती है, जिसका आरम्भ से-'क्या हम मानव हैं ?' इस प्रश्न के रूप में पुन पुन आम्रेडन होता आ रहा है। समस्या जितनी जटिल है, समाधान उतना ही सुकर है।

जिन नवग्रहों ने यह समस्या खड़ी की है, उनके प्रति आस्था-श्रद्धान्विता राष्ट्र जनता का उद्बोधन ही इस समस्या का एकमात्र प्रमुख, एवं प्रथम निदान है, जिस हार्थभूत निदान का बीज 'श्वेत-क्रान्ति' की घोषणा पर

ही अवलम्बित है। अपनी मौलिक चिरन्तन परम्पराओं के विलुप्तप्राय हो जाने से अवश्य ही 'श्वेतकान्ति' शब्द आज के मानव के लिए सर्वथा नवीन है। किन्तु जिन चिन्तकों ने महाभारत का स्वाध्याय किया है, उनके लिए तो "शरीरानुगता कृष्णकान्ति, मनोऽनुगता पीतकान्ति, बुद्धयनुगता रक्तकान्ति, एवं आत्मानुगता श्वेतकान्ति" ये चारों ही कान्ति-शब्द सर्वथा सुपरिचित ही प्रमाणित होने चाहिएँ। मानवस्वरूपोद्बोधन से सम्बन्ध रखने वाली आत्मानुगता उस श्वेतकान्ति का—जिसका कि आज से पाँच सहस्र वर्ष 'अर्जुन' के माध्यम से पूर्णावतार भगवान् कृष्ण के द्वारा—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥
—गीता

इस श्वेत-परिग्रह-क्षण से उद्घोष हुआ था, आज उसी आत्ममूला बुद्धि-योगनिष्ठात्मिका श्वेतकान्ति का महान् उद्घोष राष्ट्रीय कर्णकुहरों में प्रविष्ट होने जा रहा है। श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !

ओम्-शमित्येतत्

—•—

श्रीं तत् सत् ब्रह्मणे नमः
नमः परम-ऋषिभ्यः नमः परम-मानवेभ्यः
मानवोऽस्यर्थराजिकब्लोय (मानवाश्रम)
की

श्वेतक्रान्ति का महान् संदेश

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
—ऋक्संहिता ५।४४।१५।

केन्द्रस्वतन्त्रीय पृथ्वीकेन्द्र मे अनुप्राणित पारमेष्ठ्य 'नाक' को आधार बना प्रतिष्ठित रहने वाला वेदतत्त्वात्मक 'अभिजित्' नक्षत्र (ब्रह्मप्राणात्मक नक्षत्र) उपलक्षित 'ध्रुव' आज भारतराष्ट्र के अभिमुख बन गया है । फलस्वरूप आज भारतराष्ट्र का केन्द्रस्थानीय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र 'भारत' नामक प्राणाग्नि अपने प्रचण्डवेग से जग पड़ा है, जिसकी जागरूकता में कोई भी असुर-राक्षस भारत में प्रवेश नहीं कर सकता । रक्षःपाप्महन्ता ऐसा 'भारत' अग्नि सचमुच जग गया है, जिस इस जाग्रत अग्नि की पिण्डस्वरूपसम्पादिका ऋचाएँ सतत कामना किया करती हैं । अवश्य ही आज अग्नि जग पड़ा है, जिस जाग्रत अग्नि के प्रति महिमास्वरूपसम्पादक मण्डलात्मक साम अपना आत्मसमर्पण किए हुए हैं । अवश्य ही आज इस राष्ट्र का प्राणाग्नि जग पड़ा है, जिसे लक्ष्य बना कर अन्न-सोमात्मक सोम कह रहे हैं कि, हे अन्नादलक्षण भोक्ता-अग्निदेव ! हम तो आपके निम्नश्रेणि में प्रतिष्ठित सहचारी-भोग्य मित्र हैं" । तात्पर्य्य-आज राष्ट्र में अन्नादलक्षण वह भोक्ता अग्नि जाग उठा है, जिसके बल पर राष्ट्र स्वयं अपनी सार्वभौम-ऋक्साममयी महिमा का विस्तार करने की पूर्ण क्षमता रखता है । ऐसे सक्षम-जागरूक-भोक्ता-अग्नि को अब कोई भोग्य (परतन्त्र) नहीं बना सकता । अपितु अब तो सम्पूर्ण भोग्य (सोम) इसमे मित्रता करने के लिए

ही समुत्सुक हैं भोग्यरूप से ही–अपने आपको इस मैत्री सम्बन्ध में अनुरक्त ही मानते हुए । ऐसे जाग्रत 'भारत' अग्नि * के माङ्गलिक सस्मरण-पूर्वक ही आज के सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय प्रजा के दिव्सोममय, पवित्रतम श्रोत्रविवरों में पारमेष्ठ्य विष्णु से सम्बन्ध रखने वाली अव्ययात्मक श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश प्रविष्ट होने जा रहा है इस विष्णुक्रान्ति के साथ—

इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणम्, विष्णोर्विक्रान्तम्, विष्णुक्रान्तम् । तदिमानेव लोकान्त्समारुह्य सर्वमेवेदमुपर्युपरि भवति अर्वागेवास्मादिदं सर्वं भवति । (सैषा प्राजापत्या विष्णुक्रान्तिः सैव श्वेतक्रान्तिः, तदाधारभूतैव एति प्रेति-मूला त्रैलोक्यकारणिजागरणनिबन्धना) ॥

—शतपथब्राह्मण ४।४।२।६।

भूपिण्ड–चन्द्रमा–सूर्य्य–इन सुप्रसिद्ध तीन पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यु-लोकों को अपने महिमामण्डल के सीमागर्भ में भुक्त-प्रतिष्ठित रखने वाले अङ्गिरा-अत्रिप्राणमय, इट्-ऊर्क् भोग मय, ब्रह्मव्रह्म (स्वर) स्वरूप परमर्ति महद्ब्रह्मरूप पारमेष्ठ्य विष्णु ही सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सर मूलाधिष्ठानरूप क्रान्तिभावों (क्रान्तिवृत्तों) के प्रथम प्रवर्त्तक बने हुए अतएव पारमेष्ठ्य विष्णु को अवश्य ही क्रान्तिप्रवर्त्तक कहा जासकता त्रैलोक्य की सौरभावनिबन्धना बुद्धिक्रान्तियाँ, चान्द्रभावनिबन्धना मनःक्रान्तियाँ, एवं भौमभावनिबन्धना शरीरक्रान्तियाँ, तीनों लोकक्रान्तियाँ लोकातीत धारमूत विष्णु की इस परमक्रान्तिरूपा अव्ययात्मलक्षणा श्वेतक्रान्ति के पर ही प्रतिष्ठित हैं, जो इन सब की अधिष्ठात्री है । यही प्राजापत्या वह 'विष्णुक्रान्ति' है, जिसके द्वारा एति--प्रेतिमूला-प्राणत्-अपानत्-लक्षण-

* ... ग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण 'भारत' इति ... ता)

त का उदय हुआ है । सर्वंमूलभूता, अग्निजागरणनिबन्धना उस विष्णु-
वरूपा श्वेतक्रान्ति का सम्मरण करते हुए ही उसका यह महान् सन्देश उप-
। हो रहा है ।

अव्ययेश्वरगमाधिष्ठाता पारमेष्ठ्यो-विष्णु -महानात्मा

(४) श्वेतक्रान्तिरूप -प्राजाप यक्रान्तिलक्षणा

सूर्य —सौरसम्वत्सरक्रान्ति —बुद्धिक्रान्ति (रक्तक्रान्ति)

चन्द्रमा चान्द्रसम्वत्सरक्रान्ति -मन क्रान्ति (पीतक्रान्ति)

भूपिण्ड -पार्थिवसम्वत्सरक्रान्ति शरीरक्रान्ति (कृष्णक्रान्ति)

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता । ये तदन्तरा-तद् ब्रह्म,
मृतं, स आत्मा । प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये । यशोऽहं
मि । ब्राह्मणानां यशः, राज्ञां यशः, विशां यशः । अहमनु-
त्ति म हाहं यशसा यशः श्वेतमदत् कमदत् कं श्वेतं, लिन्दु-
भिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥

—छान्दोग्योपनिषत् ८।१४।

पारमेष्ठ्य ऽव्यक्त विष्णु से अभिन्न स्वायम्भुव अव्यक्त तत्त्व ही यह 'नभस्वान्'
क प्राणात्मक समुद्र है, जिसे वैज्ञानिकों ने 'आकाश' कहा है । यही आका-
मक शुन-इन्द्रप्राणात्मक-सत्त्वविशेष नाम-रूप-कर्मों का प्रवर्त्तक बनता है-
'इन्द्रपत्नी' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठिनी भार्गवी आम्भृणीवाक् के द्वारा, तथा
'इन्द्रसी सरस्वतीवाक् के द्वारा । ये ही दोनों वाग्विवर्त्त इन्द्राकाश के आधार

ही समुत्सुक है भोग्यरूप से ही–अपने आपको इस मैत्री सम्बन्ध में अवरुद्ध
हीं मानते हुए । ऐसे जाग्रत 'भारत' अग्नि * के माङ्गलिक स्मरण–
ही आज के सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय प्रजा के दिव्सोममय, श्र
पवित्रतम श्रोत्रविवरों में पारमेष्ठ्य विष्णु से सम्बन्ध रखने वाली अव्ययात्म
श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश प्रविष्ट होने जा रहा है इस विष्णुक्रान्तिमय
के साथ—

इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणम्, विष्णोर्विक्रान्तम्, विष
क्रान्तम् । तदिमानेव लोकान्त्समारुह्य सर्वमेवेदमुपर्य्युपरि भवा
अर्वागेवास्मादिदं सर्वं भवति । (सैषा प्राजापत्या विष्णुक्रान्
सैव श्वेतक्रान्तिः, तदाधारभूतैव एति प्रेति-मूला त्रैलोक्यक्रा
रग्निजागरणनिबन्धना) ॥

—शतपथब्राह्मण ५।४।२।६।

भूपिण्ड–चन्द्रमा–सूर्य्य–इन सुप्रसिद्ध तीन पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–
को अपने महिमामण्डल के सीमागर्भ में भुक्त–प्रतिष्ठित रखने वाले
अङ्गिरा–अग्निप्राणमय, इट्–ऊर्क्–भोग–मय, बहुब्रह्म (क्षर) स्वरूप
क्षरमूर्त्ति महदक्षरस्वरूप पारमेष्ठ्य विष्णु ही सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरचक्र
मूलाधिष्ठानरूप क्रान्तिभावों (क्रान्तिवृत्तों) के प्रथम प्रवर्त्तक बने हुए
अतएव पारमेष्ठ्य विष्णु को अवश्य ही क्रान्तिप्रवर्त्तक कहा जासकता
त्रैलोक्य की सौरभावनिबन्धना बुद्धिक्रान्तियाँ, चान्द्रभावनिबन्धना मनःक्रान्ति
एवं भौमभावनिबन्धना शरीरक्रान्तियाँ, तीनों लोकक्रान्तियाँ लोकातीत ह
धारमूत विष्णु की इस परमक्रान्तिरूपा अव्ययात्मलक्षणा श्वेतक्रान्ति के आ
पर ही प्रतिष्ठित हैं, जो इन सब की अधिष्ठात्री है । यही प्राजापत्या यह 'वि
क्रान्ति' है, जिसके द्वारा एति––प्रेतिमूला–आगति–अपगति–लक्षणा–अ

। का उदय हुआ है। सर्वमलमता, अग्निजागरणनिबन्धना उस विष्णु-ग्रहरूप श्वेतक्रान्ति का सम्मरण करते हुए ही उसका यह महान् सन्देश उपस्थित हो रहा है।

अव्ययेश्वरगर्भाधिष्ठाता-पारमेष्ठ्यो-विष्णुः-महानात्मा

(४) श्वेतक्रान्तिरूपः-प्राजापत्यक्रान्तिलक्षणः

सूर्यः—सौरसम्वत्सरक्रान्तिः—बुद्धिक्रान्तिः (रक्तक्रान्तिः)

चन्द्रमाः-चान्द्रसम्वत्सरक्रान्तिः-मनःक्रान्तिः (पीतक्रान्ति)

भूपिण्ड-पार्थिवसम्वत्सरक्रान्तिः शरीरक्रान्तिः (कृष्णक्रान्तिः)

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता । ये तदन्तरा-तद् ब्रह्म, मृतं, स आत्मा । प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये । यशोऽहं मि । ब्राह्मणानां यशः, राज्ञां यशः, विशां यशः । अहमनुन्नि स हाहं यशसां यशः श्वेतमदत् कमदत् कं श्वेतं, लिन्दु-भिगां लिन्दुमाभिगाम् ॥

—छान्दोग्योपनिषत् ८।१४।

पारमेष्ठ्य व्यक्त विष्णु से अभिन्न स्वायम्भुव अव्यक्त तत्त्व ही वह 'नभस्वान्' प्राणात्मक समुद्र है, जिसे वैज्ञानिकों नें 'आकाश' कहा है। यही आका-के शुन-इन्द्रप्राणात्मक-तत्त्वविशेष नाम-रूप-कर्म्मों का प्रवर्तक बनता है-'पत्नी' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठिनी भार्गवी आम्भृणीवाक् के द्वारा, तथा इसकी सरस्वतीवाक् के द्वारा । ये ही दोनों वाग्विवर्त इन्द्राकाश के आधार

पर अर्थ (पदार्थ), और तद्वाचक नामो (शब्दों) के प्रवर्तक बने हुए इत्थभूत नामरूपात्मक (अर्थ एवं शब्दात्मक) इस पञ्चपर्वा आकाशात्मक महा के केन्द्र में 'उक्थ'रूप से जो विश्वातीत (प्रकृति से अतीत) तत्त्व प्रतिष्ठित वही ब्रह्म (अव्यय) है, वही **'आत्मा'** है । (श्वेतकान्ति के अनुग्रह से) प्रजापति-आत्मा के इस सभारूप विश्वगृह में प्रविष्ट मानव अव्ययात्मनिष्ठा के पर सर्वात्मना उस यश से यशस्वी बन जाता है, जो श्वेत-शुभ्र-सत्त्वगुणलद यश ज्ञाननिष्ठ-ब्राह्मणों का यश है, पौरुषबलयुक्त क्षत्रियों का यश है, अर्थैश सम्पन्न वैश्यों का यश है। और इन यशों का जो महान् यश-आत्मयश (क प्रतिष्ठा) है, वह तो मुग्ध मानव का मूलकेन्द्र ही है। ऐसे इस श्वेतकान्ति 'यशसा यश.' का सस्मरण करते हुए ही आज हम इसके प्रवर्तक-सुग श्वेतकान्ति के महान् सन्देश का उपक्रम कर रहे हैं।

यशसा यशः----अव्ययानुगत.--(आत्मयशः)]—विश्वात्मयशः

ब्राह्मणाना यश सौर ——(बुद्धियश.)	—विश्वयशांसि
राज्ञा यश —— चान्द्र ——(मनोयश.)	
विशा यश — पार्थिव ——(शरीरयश·)	

(१)-प्राजापत्यनिष्ठा की पराङ्मुखता——

आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व अभिव्यक्त हो पड़ने वाली कृष्णद्वैपा भगवान् व्यास की–'सुदुर्लभा वेदविद्वांस' इस दया अनवद्या पटु अनुभू समन्वित, एवं एतद्देशीय महर्षि-मानवश्रेष्ठ की पुराणी प्रज्ञा से आविर्भूत, रहस्य 'प्राजापत्यवेदशास्त्र' भारतीय जनमानस की परप्रत्ययनेयमूला सहज भावुक अनुबन्ध से अपनी निष्ठानुबन्धिनी सांस्कृतिक गरिमा-महिमा से अन्तर्मुख प्रमाणित होता चला आ रहा है।

अपनी प्रशापराधमूला वहिर्मुखा व्यक्ता भावुकता के व्यामोहन के कारण अनेक शताब्दियों से अन्तर्मुख-अव्यक्त-प्रमाणित होती रहने वाली प्राजापत्या अर्पनिष्ठा (केन्द्रनिष्ठा) से वञ्चित रहता हुआ भारतीय मानव मतवादाभिनिविष्ट, तदनुगतानुगत साम्प्रदायिक विविध शाखा-प्रशाखाओं से सर्वथा कावालीकृत उन महोपग्रहों के निविडतम आसुरभावापन्न वारुणपाशों से उस सीमापर्य्यन्त आबद्ध हो चुका है, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर मानव की आत्मानुबन्धिनी शान्ति, बुद्ध्यनुबन्धिनी तृप्ति, मनोऽनुबन्धिनी तुष्टि, एवं शरीरानुबन्धिनी पुष्टि, चारों ही मानवीय-पर्वसम्पत्तियाँ ऋद्धि-वृद्धि-समृद्धि-स्वस्ति-इन चारों प्राकृतिक विभूतियों से वञ्चित बनती हुई प्रकृतिसिद्ध सहज स्वस्त्ययनपथ से सर्वथा ही पराङ्मुखा बन जाया करतीं हैं ।

(२)-निष्ठाप्रतिबन्धक नवग्रहग्राहमण्डल—

सख्यातीत उपग्रहपरम्पराओं से दुर्बोध्य बने रहने वाले जिन नव ग्रह-ग्राहोंनें अपनी मत्सरता से भारतीय मानव की आचारानुगता स्वरूपप्रज्ञा को लक्ष्यहीन बनाते हुए इसे केन्द्रविच्युत कर दिया है, उन नव ग्रहों के तथ्यशून्य उद्ङ्कर मलीमस इतिहास के आपातरमणीय वाग्विजृम्भण में न पड़ते हुए प्रस्तुत 'सन्देशपत्र' में उनका केवल नामोल्लेख कर देना ही हम अल अनुभूत कर रहे हैं । वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय, तथा विश्वानुबन्धिनी ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय-निःश्रेयस-पथ की समाहिका, जीवनीयरसप्रवाहात्मिका, आत्मिक-दैविक-भौतिक-उत्तरदायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से समन्विता एवविधा आचारमीमांसा से एकान्तत असस्पृष्ट, अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण केवल तत्त्ववादात्मक 'दर्शनवाद' इस देश का वह महा महग्राह है, जिस मौलिक महाग्रह के व्यामोहन से ही भारतीय मानव आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा से, धर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख बना है । इसी दर्शनवाद के अनुग्रह से आगे चल कर उन शेष ग्रहों का क्रमिक आविर्भाव हो पड़ा है, जिस क्रमिक स्खलन के लिए सस्कृत-साहित्य में 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात शतमुखम्' आभाणक प्रसिद्ध है ।

१—आचारमीमांसासम्मत-स्वस्वरूपव्याख्यानुगत-स्वरूपबोधात्मक ज्ञान, ए इत्थंभूत ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित गुणभूतात्मक चार,-अणुभूतात्मक पञ्चजन-रेणुभूतात्मक पुरञ्जन-,भूत-भौतिकात्मक-पुर आदि विविध ज्ञानसमन्वित कर्तव्य निर्णायक विज्ञान * की सृष्टिस्वरूपव्याख्यात्मिका दृष्टिमात्र से भी सर्वथ असंस्पृष्ट, इसप्रकार आचारात्मक कर्त्तव्यप्रवर्त्तक विज्ञान से सर्वथा बहिर्भूत, केवल काल्पनिक तत्त्वज्ञान के विजृम्भणमात्र से समाप्लुत इत्थंभूत (१)—वैमर्शिक-दर्शनवाद,

२—एवंविध दर्शनवाद के द्वारा समुद्भूत परस्परगात्यन्तविरुद्ध-विधि-निषेध-भ्रामक-विरुद्धनानाकोऽव्यवगाहिज्ञानानुगत संशयभावसमन्वित-अतएव *'इदमित्थमेव नान्यथा'* लक्षण निश्चित-संशयरहित कर्त्तव्यबोध कराने में सर्वथा असमर्थ। धर्म्मभीरु भावुक भारतीय मानव की तात्कालिक भावुकतामात्र के संरक्षणमा में उपलालनमाध्यम से कुशल-विविध स्मृतिनिबन्धन इत्थंभूत (२)—स्मार धर्म्मवाद, (मतवाद),

३—एवंविध धर्मवाद के अनुग्रह से आविर्भूत, सम्प्रदायवादाभिनिविष्ट व्याख्याताओं के स्व स्व *सीमित साम्प्रदायिक* दृष्टिकोण के आधार पर पुष्पित पल्लवित, धार्मिक-मत-तीर्थ-क्षेत्र-आशौच-श्राद्ध-देवपूजन-आदि आदि आचारों के निर्णय-पथ के लिए बद्धपरिकर, किन्तु मतवादाभिनिवेशनिग्र से निर्णयदृष्टि से सर्वथा ही *पराःपरावत*, *अतएव नैर्णयिक-निर्णयविभ्रामक* इत्थंभूत (३)—नैबन्धिक निर्णयवाद,

---

* एकं ज्ञानं ज्ञानम् , मूलात्मकं ज्ञानं 'ज्ञानम्' । विविधं ज्ञानं (तूलात्मकं ज्ञानं) विज्ञानम् ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता

- श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्

४-एवविध निर्णयजाल से सक्षुब्ध बन जाने वाले मानव के प्रतिक्रियात्मक मानस की निराश, तथा अस्थिर प्रज्ञा मे समुद्भूत, अमृतपुत्र मानव के सहज माङ्गलिक ऐश्वर्य्य को नि सीमारूपेण अभिभूत कर देने वाली स्वस्वरूपविकास की महती प्रतिबन्धिका 'अस्मिता' के आधार पर प्रतिष्ठित, अतएव दासानुदासभाव-प्रवर्त्तक, अतएव च सर्वथा पशुसमतुलित परावलम्बभावसमाप्लुत हीनग्रन्थिसमुपेत्र कल्पनिक भक्तिमात्रानुप्राणित इत्थभूत (४)-भाक्त सम्प्रदायवाद,

५—एवविध सम्प्रदायवादसापेक्ष मनोभावों के परिपोषक परवञ्चक दम्भभाव के आधार पर प्रतिष्ठित, ज्ञानविज्ञानात्मिका निकषा (कसौटी) के परीक्षण से सर्वथा बहिष्कृत, वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-जातिनिग्रह-छल-आदि आदि वञ्चना-साधनों से समन्वित, शुष्क-निरुद्देश्य-उदर्कशून्य-तर्कजाल से अनुप्राणित, पण्डितम्मन्यवर्ग के द्वारा पुष्पित पल्लवित इत्थभूत (५)-दाम्भिक शास्त्रवाद,

६—एवविध शास्त्रवादसस्कार से सस्कृत, 'यत्र शाब्दिका' * यथानुसारी, गतानुगतिक न्यायेन श्रवमरवादानुवर्त्ती, वाक्छलमात्रानुगामी, दीन-हीन मलिनवासनासस्कारसमारूढ, केवल आदरशब्दोपपणोद्घोषनिमग्न, राष्ट्रीयप्रगतिपथप्रतिबन्धक, व्याजस्तुतिगानकुशल, शास्त्रलवज्ञानदुर्विदग्ध गलशोषक, इसप्रकार के शास्त्रम्मन्यों की मान्यतामात्र से अनुप्राणित इत्थभूत (६)-वैडालव्रतिक-उपदेशवाद,

७—एवविध वञ्चनापूर्ण उपदेशवाद से आरम्भ में कुछ समय पर्य्यन्त मनोयोगानुगत बने रहने वाले भी भावुक समाज के द्वारा अन्ततोगत्वा प्रतिगामी बन जाने के दुष्परिणामस्वरूप सहसा आविर्भूत हो पड़ने वाली निराशा के माध्यम से आगत्क, आपातरमणीय, भौतिक-दैविक-आत्मिक-निष्ठाप्रतिबन्धक, आत्यन्तिकरूपेण पौरुषविवर्जित, दासतानुगत पारतन्त्र्यप्रवर्त्तक, गन्धर्वाप्सराप्राणनिबन्धना चान्द्री श्लथ-प्रज्ञा से समुत्तेजित, अतएव झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-क्षुद्र-

---

* यत्र शाब्दिका, स्तत्र तार्किका:, यत्र तार्किका, स्तत्र शाब्दिका:।
यत्र नोमपास्तत्र चोमया:, यत्र चोमपास्तत्र नोमया: ॥

१—आचारमीमांसासम्मत-स्वस्वरूपव्याख्यानुगत-स्वरूपबोधात्मक ज्ञान, एवं इत्थंभूत ज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित गुणभूतात्मक चर,-अणुभूतात्मक पञ्चजन-, रेणुभूतात्मक पुरञ्जन-,भूत-भौतिकात्मक-पुर आदि विविध ज्ञानसमन्वित कर्त्तव्य निर्णायक **विज्ञान** * की सृष्टिस्वरूपव्याख्यात्मिका दृष्टिमात्र से भी सर्वथा असंस्पृष्ट, इसप्रकार आचारात्मक कर्त्तव्यप्रवर्त्तक विज्ञान से सर्वथा बहिर्भूत, केवल काल्पनिक तत्त्वज्ञान के विजृम्भणमात्र से समाप्लुत इत्थंभूत (१)—**वैमर्शिक-दर्शनवाद,**

२—एवंविध दर्शनवाद के द्वारा समुद्भूत परस्परात्यन्तविरुद्ध-विधि निषेध-भ्रामक-विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानानुगत संशयभावसमन्वित-अतएव '**इदमित्थमेव नान्यथा**' लक्षण निश्चित संशयरहित कर्त्तव्यबोध कराने में सर्वथा असमर्थ। धर्म्मभीरु भावुक भारतीय मानव की तात्कालिक भावुकतामात्र के संरक्षण में उपलालनमाध्यम से कुशल-विविध स्मृतिनिबन्धन इत्थंभूत (२)—स्मार्त **धर्म्मवाद, (मतवाद),**

३—एवंविध धर्म्मवाद के अनुग्रह से आविर्भूत, सम्प्रदायवादाभिनिविष्ट व्याख्याताओं के स्व स्व सीमित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के आधार पर पुष्पित पल्लवित, धार्म्मिक-मत-तीर्थ-क्षेत्र-आशौच-श्राद्ध-देवपूजन-आदि आदि आचारों के निर्णय-पथ के लिए बद्धपरिकर, किन्तु मतवादाभिनिवेशनिग्रह से निर्णयदृष्टि से सर्वथा ही परा पराहत, अतएव नैष्ठिक निर्णयविभ्रामक इत्थंभूत (३)—**नैबन्धिक निर्णयवाद,**

---

* एकं ज्ञानं ज्ञानम् , मूलात्मकं ज्ञानं 'ज्ञानम्'। विविधं ज्ञानं (तूलात्मकं ज्ञानं) विज्ञानम्।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता

— श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन स पन्थाः।

४-एवंविध निर्णयज्ञान से संक्षुब्ध बन जाने वाले मानव के प्रतिक्रियात्मक मानव की निराशा, तथा अस्थिर प्रज्ञा से समुद्भूत, अमृतपुत्र मानव के सहज स्वाभाविक ऐश्वर्य्य को निःसीमारूपेण अभिभूत कर देने वाली स्वस्वरूपविकास की महती प्रतिबन्धिका 'अस्मिता' के आधार पर प्रतिष्ठित, अतएव दासानुदासभाव-समर्थक, अतएव च सर्वथा पशुसमतुलित परावलम्बभावसमाप्लुत हीनग्रन्थिसमुत्तेजक साम्प्रदायिक भक्तिभावानुप्राणित इत्थंभूत (४)-भाक्त सम्प्रदायवाद,

५—एवंविध सम्प्रदायवादसापेक्ष मनोभावों के परिपोषक परवञ्चक दम्भभाव के आधार पर प्रतिष्ठित, ज्ञानविज्ञानात्मिका निकषा (कसौटी) के परीक्षण से सर्वथा बहिष्कृत, वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-जातिनिग्रह-छल-आदि आदि वञ्चना-साधनों से समन्वित, शुष्क-निरुद्देश्य-उत्कर्षशून्य-तर्कजाल से अनुप्राणित, पण्डितम्मन्यवर्ग के द्वारा पुष्पित पल्लवित इत्थभूत (५)-दाम्भिक शास्त्रवाद,

६—एवंविध शास्त्रवादसंस्कार से संस्कृत, 'यत्र शाब्दिका' * यथानुसारी, गतानुगतिक-न्यायेन अवसरवादानुवर्त्ती, वाक्छलमात्रानुगामी, दीन-हीन-मलिन-धाम्नामस्कारसमारूढ़, केवल आदर्शघोषणोद्घोषनिमग्न, राष्ट्रीयप्रगतिपथप्रतिबन्धक, व्याख्यानकुशल, शास्त्रलवज्ञानदुर्विदग्ध गलशोषक, इसप्रकार के शास्त्रम्मन्यों की मान्यतामात्र से अनुप्राणित इत्थभूत (६)-वैडालव्रतिक-उपदेशवाद,

७—एवंविध वञ्चनापूर्ण उपदेशवाद से आरम्भ में कुछ समय पर्यन्त मनोरञ्जनानुगत बने रहने वाले भी भावुक समाज के द्वारा अन्ततोगत्वा प्रतिगामी बन जाने के दुष्परिणामस्वरूप सहसा आविर्भूत हो पड़ने वाली निराशा के सम्भ्रम से जागरूक, आपातरमणीय, भौतिक-दैविक-आत्मिक-निष्ठाप्रतिबन्धक, आत्यन्तिकरूपेण पौरुषवर्जित, दासतानुगत पारतन्त्र्यप्रवर्त्तक, गन्धर्वाप्सराप्राण-निरूपणा धाम्नी रमण-प्रज्ञा से समुत्तेजित, अतएव भम्भा-ताल-मृदङ्ग-ढुद्र-

---

* यत्र शाब्दिका, स्तत्र तार्किकाः, यत्र तार्किका, स्तत्र शाब्दिकाः।
यत्र नोमपास्तत्र घोमपाः, यत्र घोमपास्तत्र नोमपाः ॥

घन्टिका (घूँघरू)-आदि के माध्यम से स्वरविहीनतापूर्वक प्रक्रान्त हो पड़ते रहने वाले नृत्यगीतादि स्त्रैण-भावों से समलङ्कृत, सर्वथैव आत्मदासताभिवर्द्धक कल्याणोपाधिविभूषित, इत्थभूत (७)-वैकारिक नामभक्तिवाद,

८—एवविध एतद्देशीय सप्त ग्रहा के निग्रहानुग्रह मे स्वप्राजापत्यनिष्ठा-आर्षनिष्ठा के लेशबोध से भी वञ्चित हो जाने वाले राष्ट्रभक्तिपथारूढ वर्त्तमान प्रक्रान्त युगीय भारतीय मानवों से अनुप्राणित, स्वकेन्द्रानुगत-स्वसंस्कृति-सभ्यता-आदर्श-धर्म्म-नीति-आचार-शिक्षा-भाषा- लिपि-अशनपानपरिग्रह—तत्पद्धति-वेशभूषा-लोकसाहित्य-मर्य्यादा-आदि आदि के सम्पर्कमात्र से भी पराङ्मुख, तद्विपरीत (अपनी स्वकेन्द्रनिष्ठा के विचलित हो जाने से) परप्रत्ययनेयतानुगत-परभावसमन्वित-परसंस्कृति-सभ्यता आदि आदि से आलोमभ्य -आनखाग्रेभ्य समाप्लुत, स्वरूपविस्मारक, काल्पनिक विकास-प्रगति-योजना-पथविमोर, स्वदेशानुगत सर्वलक्ष्यविहीन, सर्वविरोधी, घोषणोद्घाटनभोजनादि अभ्यस्तपरम्परापदर्शन मात्रप्रिय, परनीतिकुशल, सर्वथैव अभिनिविष्ट इत्थभूत (८)-वैधानिक सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यवाद,

९—एवविध स्वातन्त्र्यवाद की उन्मुक्ता वरदा अभया छत्रछाया में आवास-निवास करने वाले 'जनतन्त्र' के द्वारा समुद्घोषित, एतद्देशीय देशधर्म-कुलधर्म- आभिजात्यधर्म-श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह—लोकाचार—मङ्गलपरायणता-उत्सवपरायणता-आदि आदि यथयावत् स्वस्त्ययनपर्यो के आमूल-चूड उन्मूलन के लिए सर्वसाजसज्जा मे बद्धपरिकर, लोकशिक्षापट्टमावानुगामी, रोगनिवारण-व्याज से रुग्णविनाश के लिए ही प्रतिक्षण समातुर, शारीरिकभावानुबन्ध से अशिष्टता प्रवर्त्तक, मानसभावानुबन्ध से अभद्रता-समुत्तेजक, बौद्धिकभावानुबन्ध से अमङ्गल-परिवर्द्धक, एवं आत्मिक भावानुबन्ध से अशुचि निर्देशक, समस्त आत्यन्तिकरूप से अभिभूत, सर्वसुधारव्याज से सर्वविध्वंसक इत्थभूत (९)-अहैतुक सुधारवाद,

तथोपवर्णित इन सुप्रसिद्ध मुक्त-प्रक्रान्त नवग्रहग्राहों की करालदंष्ट्रा से कवलित हो जाने के कारण अपनी मूलभूता [illegible]

सद्गुरु बन जाने वाले, एतद्देशीय-१-दार्शनिक, २-धर्म्माचार्य्य, -धर्मनिर्णायक, ४ सम्प्रदायाचार्य्य, ५-शास्त्रमर्मज्ञविद्वान्, ६-उपदेशक, -कल्याणपथमक्त, ८-स्वतन्त्रताप्रेमी, एवं ९-सुधारक, इन नवविध विवेकों के परस्परात्यन्तविरुद्ध-विवेचनों के दुष्परिणामस्वरूप ही दुर्भाग्यवश आज इस आर्षप्राजापत्य शाश्वत-धर्म्मनिष्ठ भी भारतदेश के संविधान में 'धर्म्म-निरपेक्ष' भाव समाविष्ट हो पड़ा है. जिसका एकमात्र उत्तरदायित्व तथाकथित इस नवग्रहमण्डल, एवं तद्विवेचक, तद्गतानुगतिक-समाज से ही सम्बद्ध माना जाना चाहिए, जिसकी प्राजापत्यनिष्ठाविस्मृति ने ही एतद्देशीय सहज आर्षधर्म्मनिष्ठ भी जनमानस को नतमस्तक बनकर अपने संविधान की 'धर्म्म निरपेक्ष' नाट्यधोषणा का समादर करना पड़ रहा है, करना ही पड़ेगा, करना ही चाहिए। प्रानप्यालम्। सैषा स्थितिः। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया।

३)-नवग्रहग्राहों से मानव की निष्ठा का अभिभव—

स्थितिविचिन्तन के मूलाधारभूत तथोपवर्णित नवग्रहमण्डल, एवं नितान्त श्रद्धेय नवग्रहविवेचकवर्ग के काल्पनीकृत निविड़तम प्रज्ञापाशों से आबद्ध हो जाने वाली भारतीय आर्षजनता की आत्ममूला सत्त्वगुणविभूति, तद्गुणमूला दैवविभूति आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व ही इस सीमापर्य्यन्त अभिभूत हो गई थी, जिसके अनुबन्ध से ग्रहमण्डलोदयात्मक तदारम्भकाल (महाभारतयुग) में ही नितान्त धर्म्मभीरु विशुद्ध भावुक अर्जुनप्रमुख पाण्डवों के, तथा नितान्त कर्म्म-भीरु केवल अहमिस्त दुर्योधनप्रमुख कौरवों के माध्यम से हिंसाप्रवृत्तिमूला युद्धप्रवृत्तिका रजोगुण-मूला वह 'रक्तक्रान्ति' आविर्भूत हो पड़ी थी, जिस महाभारतयुगानुगता रक्तक्रान्ति ने सम्पूर्ण लोक-विभूतियों को एक प्रकार से तद्युग में निश्शेष ही प्रमाणित कर दिया था।

घन्टिका (घूँघरू)-आदि के माध्यम से स्वरविहीनतापूर्वक प्रक्रान्त हो पडते रहने वाले नृत्यगीतादि स्त्रैण-भावों से समलङ्कृत, सर्वथैव आत्मदासताभिवर्द्धक कल्याणोपाधिविभूषित, इत्थभूत (७)-वैकारिक नामभक्तिवाद,

८—एवविध एतद्देशीय सप्त ग्रहों के निग्रहानुग्रह से स्वप्राजापत्यनिष्ठा-आर्षनिष्ठा के लेशबोध से भी वञ्चित हो जाने वाले राष्ट्रभक्तिपथारूढ वर्त्तमान प्रक्रान्त युगीय भारतीय मानवों से अनुप्राणित, स्वकेन्द्रानुगत-स्वसंस्कृति-सभ्यता-आदर्श-धर्म्म-नीति-आचार-शिक्षा-भाषा-लिपि-अशनपानपरिग्रह-तत्पद्धति-वेशभूषा-लोकसाहित्य-मर्य्यादा-आदि आदि के सम्पर्कमात्र से भी पराङ्मुख, तद्विपरीत (अपनी स्वकेन्द्रनिष्ठा के विचलित हो जाने से) परप्रत्ययनेयतानुगत-परभावसमन्वित-परसस्कृति-सभ्यता आदि आदि से आलोमभ्य -आनखाग्रेभ्य समाप्लुत, स्वरूपविस्मारक, काल्पनिक विकास-प्रगति-योजना-पथविमोर, स्वदेशानुगत सर्वलक्ष्यविहीन, सर्वविरोधी, घोषणोद्घाटनभोजनादि अभ्यस्तपरम्पराप्रदर्शन-मात्रप्रिय, परनीतिकुशल, सर्वथैव अभिनिविष्ट इत्थभूत (८)-वैभ्राजिक सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यवाद,

९—एवंविध स्वातन्त्र्यवाद की उन्मुक्त वरदा अभया छत्रछाया में आवास-निवास करने वाले 'जनतन्त्र' के द्वारा समुद्घोषित, एतद्देशीय देशधर्म्म-कुलधर्म्म-आभिजात्यधर्म्म-श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-लोकाचार-[illegible]परायणता-उत्सवपरायणता-आदि आदि यथयावत् स्वस्ययनपथों के [illegible] के लिए सर्वसाजसज्जा से बद्धपरिकर, [illegible] व्याज से रुग्णविनाश के लिए ही प्रतिज्ञा [illegible] अशिष्टता प्रवर्त्तक, मानसभावानुबन्ध से अभद्रता [illegible] से अमङ्गल-परिवर्द्धक, एवं आत्मिक भावानुबन्ध आत्यन्तिकरूप से अभिभूत, सर्वसुधारव्याज से अहैतुक सुधारवाद,

तथोपवर्णित इन सुप्रसिद्ध [illegible]क्त-प्रक्रान्त [illegible] हो जाने के कारण अपनी [illegible]

हमुख बन जाने वाले, एतद्देशीय-१-दार्शनिक, २-धर्म्माचार्य्य, -धर्म्मनिर्णायक, ४ सम्प्रदायाचार्य्य, ५-शास्त्रभक्तविद्वान्, ६-उपदेशक, -कल्याणपथभक्त, ८-स्वतन्त्रताप्रेमी, एव ६-सुधारक, इन नवविध वेचकों के परस्परात्यन्तविरुद्ध-विवेचनों के दुष्परिणामस्वरूप ही दुर्भाग्यवश ाज इस आर्ष प्राजापत्य शाश्वत-धर्म्मनिष्ठ भी भारतदेश के सविधान में 'धर्म्म-नरपेक्ष' भाव समाविष्ट हो पड़ा है. जिसका एकमात्र उत्तरदायित्व तथाकथित स नवग्रहमण्डल, एव तद्विवेचक, तद्गतानुगतिक समाज से ही सम्बद्ध माना जाना ाहिए, जिसकी प्राजापत्यनिष्ठाविस्मृति ने ही एतद्देशीय सहज आर्षधर्म्मनिष्ठ भी नमानस को नतमस्तक बनकर अपने सविधान की 'धर्म्म निरपेक्ष ' ाक्यघोषणा का समादर करना पड रहा है, करना ही पडेगा, करना ही चाहिए। ग्रालप्यालम्। सैषा स्थिति। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया।

(३)-नवग्रहग्राहों से मानव की निष्ठा का अभिभव—

स्थितिचिन्तन के मूलाधारभूत तथोपवर्णित नवग्रहमण्डल, एव नितान्त नवधेय नग्रहविवेचकवर्ग के काल्वालीकृत निबिडतम प्रज्ञापाशों से आबद्ध हो ाने वाली भारतीय आर्षजनता की आत्ममूला सत्त्वगुणविभूति, तद्गुणमूला वितविभूति आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व ही इस सीमापर्य्यन्त अभिभूत हो गई थी, जिसके अनुबन्ध से ग्रहमण्डलोदयात्मक तदारम्भकाल (महाभारतयुग) में ही नितान्त धर्म्मभीरु विशुद्ध भावुक अर्जुनप्रमुख पाण्डवों के, तथा नितान्त कर्म्म-भीरु केवल अभिनिष्ठ दुर्योधनप्रमुख कौरवों के माध्यम से हिंसाप्रवृत्तिमूला युद्धप्रव-र्तिका रजोगुण-मूला वह 'रक्तक्रान्ति' आविर्भूत हो पड़ी थी, जिस महाभारतयुगा-नुगता रक्तक्रान्ति ने सम्पूर्ण लोक-विभूतियों को एक प्रकार से तद्युग में नि शेष ही प्रमाणित कर दिया था।

इदमत्र नितान्तमनघेनम्
नवग्रहमण्डलानि–तद्विवेचकर्गतालिका च—

१—सृष्टितत्त्वविमर्शपरा —	तत्त्ववादिन —	दार्शनिकविवेचका
२—धर्म्मतत्त्वविमर्शपरा —	धर्म्मवादिन —	स्मार्त्तविवेचका
३—विधिनिषेधविमर्शपरा —	धर्म्मनिविष्टा —	नैबन्धिकविवेचका
४—भक्तितत्त्वविमर्शपरा —	भक्तिनिविष्टा —	सम्प्रदायिकविवेचक
५—शास्त्रपठनविमर्शपरा —	शास्त्रभक्ता —	विद्वांसो विवेचका
६—सर्वविमर्शपरा —	सर्ववादिन —	उपदेशकविवेचका
७—सर्वविमर्शशून्या —	विसवादिन —	कल्याणभावविवेचक
८—लोकशिक्षणपटव —नीतिकुशला --	प्रतीच्यपथानुगामिन —नेतार -	भारतीय
९—सर्वशिक्षणपटव —मर्य्यादाकुशला —	नैतिकबलसमर्थका —	समाजसुधारका

सर्वलोकविभूतिसहारिका परस्वत्वापहरिणी हिंसामयी युद्धप्रवृत्तिमूला इस रक्त क्रान्ति के दुष्परिणामस्वरूप आगे चल कर अर्थविषमतामयी रजस्तमोगुणमयी द प तक्रान्ति उदित हो पडी, जिसने सत्त्वधर्म्ममूलक अयविनिमयसाम्य को उच्छेद कर अर्थलिप्सा-लालसा-एषणा के माध्यम से सम्पन्न और दरिद्र, जैसे वि भावों का सर्जन कर डाला। एवभूता यही पीतक्रान्ति अन्ततोगत्वा तमोगुणम उस 'कृष्णक्रान्ति' की सर्जिका बन बैठी, जिसके अनुबन्ध से मानवीय प्रज्ञा श्र आत्मा, बुद्धि, मन, तीनों चेतनतत्त्वों से सर्वथा अभिभूत होती हुई जड़-भूतलिप्त त्मक अशनपानभावात्मक भौतिक शरीर को ही मानवजीवन का मुख्य लक्ष्य मा बैठने की भयावह भ्रान्ति कर पड़ती है। इसप्रकार क्रमानुबन्ध से आविर्भूत पड़ने वाली रक्त-पीत-कृष्ण-क्रान्तियों के निग्रहानुग्रह से मानव का प्राज्ञापत्य स्वरूप सर्वथैव अभिभूत हो गया, जिस अभिभूति का यों स्पष्टीकरण किया सकता है कि—

(४)-रक्त-पीत-कृष्ण-क्रान्तियों की विकृतियाँ—

आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिरस से शून्या, इन्द्रियमात्रानुगत-आहारनिद्राभयमैथुनादि पशुभावों से उपलालिता, भोगलिप्सानुगत-अभिनिवेशानुबन्धना, जड़भावानुबन्ध

भौतिक शरीरमात्र को ही अपना मुख्य केन्द्र मान लेने वाली केवल तमोगुणमयी कृष्णक्रान्ति' ने मानव को आज किस सीमापर्यन्त तमसा अभिभूत कर लिया है ?, प्रश्न भी आज राष्ट्रीय प्रज्ञा के समाधान क्षेत्र के लिए सर्वथा दुर्विगम्य-प्रश्न हीं प्रमाणित हो गया है।

एवमेव आत्मस्वरूपार्क-(रश्मि)-सहयोग-वञ्चिता वासना-भावनानुगत--आसक्तिभावनिबन्धना, परप्रत्ययनिबन्धनप्रज्ञाभावानुगत-कामक्रोधलोभ-मोहमदमात्सर्यादि काममावों से उपचालिता, सर्वेन्द्रियनिबन्धन सौम्य मनोमात्र को ही अपना मुख्य लक्ष्य बना लेने वाली रजस्तमोगुणमयी 'पीतक्रान्ति' ने आज मानवीय मानस को किस प्रकार पिष्टमान-क्षुब्ध-क्लान्त-परिश्रान्त, एव दिग्भ्रान्त बना दिया है ?, प्रश्न भी आज सर्वथा अचिन्त्यकोटि में हीं समाविष्ट हो चुका है।

तथैव आत्मस्वरूपप्रबोधपराङ्मुखा, विद्या-काम-कर्म्म शुक्रादि भावानुगत अस्मिताभावनिबन्धना, नवनवोन्मेषशाली-प्रतिक्षणविलक्षण-क्षणभावापन्न-लोकैषणोत्तेजक-प्रवृत्तिविज्ञाननिबन्धन- तात्कालिकरूपेण आपातरमणीय-आकर्षक भौतिक क्षणिक विज्ञान के चाकचिक्य से सर्वथैव अभिभूता, बुद्धिमात्र को ही अपने पौरुषप्रदर्शन की आधारभूमि मानने वाली रजोगुणमयी 'रक्तक्रान्ति' ने मानवीय सहज प्राकृतिक स्वस्ति शान्तिपथ को किस सीमापर्यन्त विकृत कर दिया है ?, प्रश्न भी आज सीमा का उल्लघन कर चुके हैं।

(४)-प्रकृतिस्थ, एवं स्वस्थ मानव का उत्पीड़न—

प्रकृत्या सर्वसाधानपरिग्रहसम्पन्न होने से अपने शरीरतन्त्र, एव मनस्तन्त्र से सहजरूपेणैव 'प्रकृतस्थि' भी, पुरुषेण सर्वज्ञानक्रियार्थशक्तिसम्पन्न होने से अपने बुद्धितन्त्र, एव भूतात्मतन्त्र से सहजरूपेणैव 'स्वस्थ' भी, अतएव सर्वथैव परिपूर्ण भी मानव कैसे, किन कारणों से विकारानुबन्धी युगधर्म्मों से अभिभूत होकर आज अपनी शारीरिक-मानसिक प्रकृतिस्थता, एव बौद्धिक-आत्मिक स्वस्थता खो बैठा ?, यह दुरधिगम्य, असमाधेय प्रश्नसमतुलित जटिलतम प्रश्न विगत-मुक्त-अनेक शताब्दियों से मानवीया प्रज्ञा का उत्पीड़क ही बनता चला आ रहा है। क्या

मानवीय प्रज्ञा ने इस प्रश्न का अद्यावधि सफल समाधान प्राप्त किया ?, यही वह समसामयिक महान् प्रतिप्रश्न है, जिसके याथातथ्य-अनुरूप-समन्वय किए बिना आपातरमणीय-युगधर्मभावुकतानुगत-अन्यान्य-प्रयत्नसहस्रों से भी न तो मानवीय भूत (शरीर) की समस्या का ही निराकरण सम्भव है, न प्रज्ञा-(मना) क्षोभ-की निवृत्ति ही सम्भव है, न मति-(बुद्धि)-विभ्रम का पलायन ही शक्य है, एवं सर्वोपरि न चिद्भाव (आत्मा) का सहज अनुग्रह ही सम्भव है।

किस देश की कौन सी मानवीय प्रज्ञा ने इस अतिप्रश्नात्मक प्रतिप्रश्न का क्या समाधान किया ?, किंवा कर रही है ?, एवं करेगी ?, इन अवान्तर प्रश्नों की यातयाम-मीमांसाओं में हमें अपने आपको क्योंकि यातयाम बना लेना अभीष्ट नहीं है। दूसरे शब्दों में स्वदर्शनप्रतिबन्धिका अन्तर्राष्ट्रीया लोकैषणा के व्यामोहन से लक्ष्यहीन बन जाना क्योंकि हमें श्रेय पन्था प्रतीत नहीं हो रहा। अतएव दो शब्दों में हम एतद्देशीय महामहिम प्रज्ञावदातश्रममूर्ति महर्षि-मानवश्रेष्ठ की प्रकृतिस्थतानुगता स्वस्थप्रज्ञा से अनुप्राणित, श्वेतभ्रान्तिमलक सर्वसंशयरहित, 'इदमित्थमेव नान्यथा' न्यायेन सर्वथा निर्णीत-निश्चित-सैद्धान्तिक-अरमालण-समाधान ही अपना लक्ष्य बना रहे हैं, जिस सैद्धान्तिक निर्व्याज समाधान का गुह्यब्रह्म (गुप्त रहस्य) 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' नाम की आर्ष अभिधा (नाम) के अन्तर में हीं पिनद्ध (अन्तर्गर्भितरूप से सुरक्षित) है।

(६)-'मानव' अभिधा का स्वरूपपरिचय—

उक्त अभिधावाक्य के 'मानव-उक्थ-वैराजिक-ब्रह्मोद्य' ये चार स्वतन्त्र पर्व हैं, जिनका प्रत्येक का अपना अपना स्वतन्त्र रहस्यपूर्ण इतिहास है, जिस सर्वाङ्गीण बोध के अनन्तर ही इस अभिधा के पिनद्ध रहस्य का उद्घाटन सम्भव है। जिस महाविद्या के द्वारा इस रहस्य का विश्लेषण हुआ है, वही विद्या 'प्राजापत्यविद्या' कहलाई है, जिसका अनुपद में ही संकेत किया जा रहा है। चतुष्पर्वा अभिधा का प्रथम पर्व 'मानव' है, जिसका मनु' से सम्बन्ध है। रहस्यपूर्ण 'मनु' तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति का ही नाम 'मानव' है।

स्थावरजङ्गमात्मक-त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप-सप्त व्याहृतिलक्षण-विराट् विश्व के केन्द्रीभूत, विश्वनभ्य, विश्वसञ्चालक, सर्वज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयमूर्ति, विश्वेश्वर-प्रजापति का ही नाम 'मनु' है, जिस मनु का सर्वाग्रणी होने से 'अग्नि' नाम से, प्रजापालक होने से 'प्रजापति' नाम से, विराड्ज्योतिर्मय होने से 'इन्द्र' नाम से, सर्वविश्वक्रिया के सञ्चालक होने से 'प्राण' नाम से, एवं 'श्वोवसीयस्' नाम से प्रसीद्ध ईश्वरीय शाश्वत अव्ययमन से अभिन्न होने के कारण 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्राजापत्यशास्त्र में यशोगान हुआ है, जैसा कि-'एतमेके वदन्त्यग्निम०' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है।

लोष्ट पाषाणादि असञ्ज्ञ अचेतन जड धातुवर्ग, ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि-अन्तःसंज्ञ-अर्द्धचेतन मूलवर्ग, एवं कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भेद से चतुर्द्धा विभक्त ससंज्ञ-चेतन-प्राणिवर्ग, आदि आदि समस्त प्राकृत सृष्टिसर्ग के इन वर्गों के उक्थ-ब्रह्म-साम (उत्पत्ति-स्थिति-लय) स्थान विश्वकेन्द्रस्थित केन्द्र-लक्षण मनुप्रजापति ही माने गए हैं। केन्द्रस्वरूप मनु की अर्करूपा रश्मियों की आदानविसर्गात्मिका 'एति च प्रेति च' लक्षणा सहज क्रिया से ही उक्त समस्त वर्ग सञ्चालित हैं। इन वर्गों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व इसीलिए नहीं है कि, ये सब विश्वकेन्द्रीय मनु से ही आबद्ध हैं।

प्राकृतिक पारवश्य से परतन्त्र बने रहने वाले इन वर्गों में मनुरूप हृदयस्थ आत्मा उक्थरूप से सर्वथा अनभिव्यक्त है। सहजभाषा में-इन सब के पृथक्-पृथक् केन्द्र न होकर सबका एक ही (विश्वकेन्द्र ही) केन्द्र है। इस प्राथमिक दृष्टिकोण को आधार बना कर ही हमें पूर्वोक्त 'मानवोक्य०' इत्यादि अभिधा का समन्वय करना चाहिए। निष्कर्षतः कृमिकीटादि प्राणिवर्गों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व इसलिए नहीं है कि, ये मनुरूप स्वतन्त्र अवयवी न हो कर एक ही विश्वमनु के अवयव ही बने हुए हैं। विश्वकेन्द्र में उक्थरूप से-अवयवीरूप से-प्रद्ध ह

स्तब्धभाव से अवस्थित * केन्द्रीय मनुप्रजापति की अर्करूपा रश्मियों–अवयवों–से ही इन विश्वप्राणियों की स्वरूपसत्ता सुरक्षित है।

एक ओर जहाँ पूर्वप्रदर्शित प्राणियों में विश्वकेन्द्रस्थ इस मनुप्रजापति की रश्मिमात्र का ही आदान–प्रदान होता रहता है, वहाँ 'मानव' में मनुप्रजापति अपने स्वतन्त्र–अवयवी–केन्द्ररूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त रहते हैं। यही मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूला वह परिपूर्णता है, जिसके माध्यम से मानव विश्वमनु की भाँति एक स्वतन्त्र परिपूर्ण–विराट्–प्रजापति प्रमाणित हो रहा है। वह जैसे पूर्ण है, तथैव यह मानव भी अवश्य ही परिपूर्ण है ÷। इसलिए परिपूर्ण है कि, विश्वप्रजापति की विराट्संस्था में परिपूर्णतानुबन्धी जो भी भाव हैं, वे सब उसी क्रमसंस्थान रूप से मानव में भी ज्यों के त्यों अभिव्यक्त हैं। इसी आधार पर 'अहं ब्रह्मास्मि' लक्षण वेदान्त–सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अवयवी–उक्थ–रूप मनु–प्रजापति की स्वतन्त्राभिव्यक्ति ही मानव की स्वस्वरूपाभिव्यक्ति है, जिसका निष्कर्षार्थ है—'मनु मानव से अभिन्न हैं, मनु ही मानव हैं, किंवा मानव साक्षात मनु ही है ×।

---

* यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्–
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्ये–
कस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
——उपनिषत्

÷ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते॥
—— ईशोपनिषत्

×–अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥
—ऋक्संहिता २६।१।

७)—मानव की मानवता का मूलाधार—

शाश्वतब्रह्मलक्षण, अतएव अमृतभावापन्न मनुप्रजापति का श्रेष्ठतम मानव-त्र 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' रूप से अमृतपुत्र है, शाश्वतब्रह्मसमतुलित बनता आ अपनी आत्माभिव्यक्ति से परिपूर्ण है। ऐसे मानव के मूल उक्थभूत मनु ी यही रहस्यापूर्णा परिभाषा मनुतत्त्ववेत्ता, अतएव यशोनामानुबन्धिनी परम्परा के आधार पर 'मनु' नाम से ही प्रसिद्ध हो जाने वाले मानवधर्म्मप्रवर्त्तक एतद्देशीय संस्कृति-सभ्यताप्रवर्त्तक राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त की है कि—

आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥
आत्मा हि जनयत्येषां कर्म्मयोगं शरीरिणाम् ॥१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥२॥
एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके, परे प्राण, मपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥३॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभिः ॥
जन्म-वृद्धि क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥४॥
—मनुः १२ अ०।

मानव के स्वतन्त्र आत्मकेन्द्ररूप मनु को आधार बना कर ही हमें 'मानव' की परिपूर्णता का समन्वय करना है। क्योंकि एकमात्र मनुरूप इस उक्थ ही मानव को इतर प्राणिवर्ग से विभिन्न प्रमाणित करने की क्षमता रखता है। जिन तीन रूपों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, उनमें भी प्राकृतिक वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं, जो कि मानव में है। अन्तर केवल स्वप्नधीगम्य (स्वानुभवैकगम्य) रुक्माभ (स्वर्णतेजोमय) परपुरुष (अव्ययपुरुष) लक्षण उस इस मनुप्रजापति को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति में ही है, जिसने मानव को प्राकृत-सर्गवर्ग से पृथक् प्रमाणित कर रक्खा है। केन्द्रानुगत आत्माभिव्यक्तिरूपत्व ही मानव का वह मानवा-

(किंवा मानवता–मानवधर्म) है, जिसने मानव को परिपूर्ण बना दिया है। आत्ममनु के अतिरिक्त प्राकृतिक विश्वानुबन्धी बुद्धि–मनः–शरीर–इन तीन तन्त्रों के माध्यम से तो मानव, और तदितर प्राणिवर्ग में कोई भी विशेषता नहीं है। अतएव बुद्धिमानो मानव का विशेष स्वरूप नहीं है, मनस्विता विशेष स्वरूप नहीं है, एवं शारीरधर्म्मानुगति विशेष स्वरूप नहीं है। क्योंकि इन तीनों तन्त्रों में तो सभी समान हैं। अन्तर केवल आत्ममनु में है। मानवेतरों में जहाँ आत्ममनु का रश्मिरूप से अनुग्रह है, वहाँ मानव में आत्ममनु स्वानुगत पूर्ण उक्थरूप से अभिव्यक्त हैं। इस 'आत्ममनु' (आत्मा) को केन्द्रबिन्दु मान कर राजर्षि ने प्रजापति की प्रजा के जो श्रेणिविभाग किए हैं, उनसे भी यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि, शरीर, मन, बुद्धि, तीनों ही मानव की मानवता के मापदण्ड बनने में सर्वथा ही असमर्थ हैं। एकमात्र तुरीय आत्मा, किंवा आत्ममनु ही मानव की मानवता का मूलाधार बन सकता है, बन रहा है।

(८)–पशुसर्गनिबन्धना प्रकृति के प्रति मानव का व्यामोहन—

पशुसर्ग की अमुक प्राकृतिक विशेषताओं के व्यामोहन में व्यामुग्ध बन जाने वाले कतिपय प्राकृतिक मानव अपने मूल उक्थभूत आत्ममनुस्वरूप से अपरिचित रहते हुए 'बुद्धि' को ही मानव का मापदण्ड घोषित करने लगते हैं। उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना चाहिए मनु के द्वारा व्यवस्थित श्रेणिविभाग के माध्यम से अपने तथानुभूत व्यामोहन से इस चान्द्र प्राकृत मानव को। सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च को आरम्भ में जड़ और चेतन, इन दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। निरिन्द्रिय, अतएव निष्क्रिय, अतएव च अचेतन 'भूतवर्ग प्रथम जड़भूतवर्ग है। इसकी अपेक्षा सेन्द्रिय सक्रिय चेतन 'प्राणी' नामक वर्ग इसलिए श्रेष्ठ माना जायगा कि, इसमें भूतजड़-पदार्थों की भाँति केवल शरीर ही शरीर नहीं है। अपितु शरीर के साथ साथ चान्द्र 'मन' भी अभिव्यक्त है। कृमि–कीट–पक्षी–पशु–इन चार प्रकार के मनोजीवी प्राणियों में से कुछ एक विशेष प्राणी चारों वर्गों में ही (अश्व–गजादि) ऐसे भी हैं, जिनमें मन की अभिव्यक्ति के साथ साथ सौरी बुद्धि

माना जायगा, एवं इन्हें केवल मनोजीवी कृमिकीटादि प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा जायगा। और इसप्रकार शरीरमात्रोपजीवी जडभूतवर्ग से श्रेष्ठ प्रमाणित होने वाले प्राणियों में मनोजीवी प्राणी, बुद्धिजीवी प्राणी, ये अवान्तर दो वर्ग हो जायँगे। यहीं आकर प्राणीवर्ग विश्रान्त हो जायगा। एवं यहीं आकर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि,—

(६)-प्रजापति के चतुर्विध प्रजासर्ग—

क्या मानव 'प्राणी' नहीं है ?। प्रश्न का उत्तर होगा शरीर मनो-बुद्धि धर्म्मा-मात्र मानवों के लिए 'हाँ', एवं आत्मधर्म्मा मानवों के लिए-'ना'। क्योंकि राजर्षि मनु ने मानवों का स्थान बुद्धिजीवी प्राणी से श्रेष्ठ बतलाया है। बुद्धिमत्ता मानवता की व्यवस्थापिका नहीं है, अपितु आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिता ही मानव की मानवता है, यही तात्पर्य्य है। लक्ष्य बनाइए मनु की निम्नलिखित सूक्ति को, एवं तदाधारेण कीजिए वर्गचतुष्टयी का समन्वय—

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः—.................

—मनु

जडभूतवर्ग	-केवलशरीरजीवी-सामान्यवर्ग.	(भूतानि,-भूताना)
कृमिकीटपक्षिपशुवर्ग	-मनोजीवी	-पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ (प्राणिन श्रेष्ठा प्राणिनां)
अश्वगजादिवर्ग	-बुद्धिजीवी	-पूर्वापेक्षया श्रेष्ठः (बुद्धिजीविन -श्रेष्ठाः) बुद्धिमत्सु
मानववर्ग	-आत्मनिष्ठ	-पूर्वापेक्षया श्रेष्ठः (नराः श्रेष्ठा)

—:•:—

१–शारीरिकजीवा	—जडभूतानि—लोष्टादय	}-भूतानि		
२–मानसिकजीवा	—मनोजाविन –पश्वादय	} पशव	}-प्राजापत्यसर्गत्रयी	
३–बौद्धिकजीवा	—बुद्धिजीविन –पश्वादय			
४ आत्मिकजीवा	—आत्मनिष्ठा —मानवा	}-नरा		

—— ❀ ——

(१०)–बुद्धिजीवी पशु के माध्यम से मानव का बुद्धिनिभ्रम—

हाँ, तो बुद्धिमानी मानव स्वरूप की व्यवस्थापिका नहीं है। ऐसे बुद्धिशिरोम भी मानव पशुकोटि में ही अन्तर्भुक्त माने जायेंगे, जिनकी बुद्धि मानवीय स्वरू त्मक हृदयस्थ आत्ममनु के स्वरूपबोध में उपयुक्त न होकर केवल बुद्धिजीवी पशु की भांति अपने बुद्धि-मन-शरीर-भावों की तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि में हीं संलग्न ब रहती है। अतएव ऐसे बुद्धिपरपारगामी लोकतन्त्रा पन्न बुद्धिमात्रोपजीवी भी मान आत्मस्वरूपबोधशून्य बने रहते हुए आत्मानुगता शान्ति-स्वस्थता से पराङ्मु प्रमाणित होते हुए 'श्रेष्ठतमपशु' उपाधि को ही अभिव्यक्त करते रहेंगे, करते हैं। ठीक इसके विपरीत शिक्षा-स्वाध्यायादि की सुविधा से वञ्चित रहते बुद्धिविकास में असमर्थ भी जो मानव परशिक्षा-कुसङ्गादि आगन्तुक अमानव दोषों से उन्मुक्त बने रहने के कारण, एव स्वकेन्द्रस्था मनुपत्नी श्रद्धा के अनु से छल-कपट-दम्भ-मात्सर्य-ईर्ष्या-द्वेषादि आत्मस्वरूपविरोधी-आत्मस्वरूपापह पाप्माओं से असंसृष्ट रहने के कारण सहजरूप से ही आत्मानुगत मानवीय म केन्द्र को स्वप्रतिष्ठ बनाए रहते हैं, वैसे विद्या-अविद्याशून्य भी सहज मानव परविद्या-अविद्यादि-धर्मसमन्वित बुद्धिमानों के समतुलन में कहीं श्रेष्ठ ही म जायेंगे, माने गए हैं, माने जाते रहेंगे, जो बुद्धिमान् मानव अपने बुद्धिबल से अ आपको लोकतन्त्र में कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ मानते मनवाने का सार्वका दम्भ करते रहते हैं। निष्कर्षत मानव की बुद्धिमत्ता यही बुद्धिमत्ता है, जि लोकसमदृष्टरक्षणपूर्वक आत्मतन्त्र के स्वरूपसंरक्षण में ... होना—

अन्यथा तो क्रव्यादमांस को लक्ष्य बनाने वाले पिशुन-कदर्य्य शृगाल भी कम बुद्धिमान् नहीं हैं। सैषा श्रेणिविभागमीमांसा मानवमापदण्डात्मिका।

(११)-मनुनिष्ठ मानव की परिपूर्णता—

भूपिण्ड चन्द्रमा सूर्य्य त्रैलोक्य के इन प्राकृतिक पर्वों से अपनी अभिव्यक्ति करने वाले शरीर-मन-बुद्धि ये तीनों प्रकृतितन्त्र जबतक प्रकृतिस्थ बने रहते हैं, तबतक ही मानव का स्वरूप स्वस्थ बना रहता है। इस स्वस्थता के लिए मानव को परेन्द्रभूत लोकातीत आत्मतन्त्र को ही अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाना पड़ता है। बिना आत्मसाक्षी के मानव बुद्धिबलमात्र से शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक-परिग्रह-सम्भारों का निःसीममात्रा में अर्जन करता हुआ भी कदापि स्वस्थ नहीं बन सकता। यही नहीं, आत्मसाक्षीशून्य ऐसे सर्वपरिग्रहसम्पन्न भी मानव के शरीर-मनो-बुद्धितन्त्र सहज पुष्टि-तुष्टि-तृप्ति भावों से सर्वथा पृथक् ही बने रहते हैं। जो पुष्टि-तुष्टि आत्म-तत्त्वबोध-पराङ्मुख एक पशु को प्रकृत्या ही उपलब्ध होती रहती है, यह आत्म-विस्मृत मानव उस पशव्या पुष्टि तुष्टि का भी समतुलन नहीं कर पाता। ऐसा ही कुछ तो हो रहा है आज। प्रचण्डरूपेण अहोरात्र प्रयत्नशील बने रहते हुए भी आज के मानव की शारीरिक समस्या का समाधान जटिल है, मानसिक उद्वेग इसका सतत प्रक्रान्त है, बौद्धिक क्षोभ इसका प्रतिक्षण परिवर्द्धित है। एवं भूतात्मानुबन्धी परान्तिमाव अहोरात्र जागरूक है। चारों ही पर्व एकमात्र स्वमनु-स्वरूप की विस्मृति के कारण आज अव्यवस्थितवत्-शून्यवत्-आर्त्तवत्-अशान्तवत्-प्रमाणित हो रहे हैं, जबकि आत्मशून्य शेष प्राणिवर्ग आज के इस मानव के समतुलन में तुलना कहीं अधिक प्रकृतिस्थ हैं। पुरुषात्मा की उपेक्षा कर देने वाले, ठीक इसके विपरीत 'प्रकृति' को ही सर्वस्व मानने मनवाने की भयावह भ्रान्ति कर बैठने वाले इस लोकविशेषणालिप्सु मानव ने प्रकृतिविकास के व्यामोहन में आसक्त होकर, डारविनिक प्रगतिवाद का समर्थन कर आज अपनी प्रकृतिस्थता, एवं स्वस्थता, दोनों से ही अपने मानवीय तन्त्र को वञ्चित कर लिया है। इससे अधिक सर्वश्रेष्ठतम भी मानव का अधःपतन और क्या होगा ?।

मानव अपने शरीरमनोबुद्ध्यादि पर्वों से तभी प्रकृतिस्थ एवं स्वस्थ बन सकेगा, तभी इसकी परिपूर्ण 'मानव' अभिधा अन्वर्थ बन सकेगी, जब कि यह अपने

१–शारीरिकजीवा:—जडभूतानि—लोष्टादय. }–भूतानि
२–मानसिकजीवा —मनोजीविन –पश्वादय
३–बौद्धिकजीवा —बुद्धिजीविन –पश्वादय } –पशव
४–आत्मिकजीवा —आत्मनिष्ठा – मानवा }–नरा
} –प्राजापत्यसर्गत्रयी

——❀——

(१०)–बुद्धिजीवी पशु के माध्यम से मानव का बुद्धिविभ्रम—

हाँ, तो बुद्धिमानी मानव स्वरूप की व्यवस्थापिका नहीं है। ऐसे बुद्धि मी मानव पशुकोटि में ही अन्तर्भुक्त माने जायँगे, जिनकी बुद्धि मानवीय स्वरू त्मक हृदयस्थ आत्ममनु के स्वरूपबोध में उपयुक्त न होकर केवल बुद्धिजीवी पशुओं की भाँति अपने बुद्धि–मन –शरीर–भावों की तृप्ति–तुष्टि–पुष्टि में ही सलग्न बनी रहती है। अतएव ऐसे बुद्धिपरपारगामी लोकतन्त्राध्यक्ष बुद्धिमात्रोपजीवी भी मान आत्मस्वरूपबोधशून्य बने रहते हुए आत्मानुगता शान्ति–स्वस्थता से पराङ्मु प्रमाणित होते हुए 'श्रेष्ठतमपशु' उपाधि को ही अभिव्यक्त करते रहेंगे, करते हैं। ठीक इसके विपरीत शिक्षा–स्वाध्यायादि की सुविधा से वञ्चित रहते हु बुद्धिविकास में असमर्थ भी जो मानव परशिक्षा–कुसङ्गादि आगन्तुक अमानवी दोषों से उन्मुक्त बने रहने के कारण, एवं स्वकेन्द्रस्था मनुपत्नी श्रद्धा के अनु से छल–कपट–दम्भ–मात्सर्य–ईर्ष्या–द्वेषादि आत्मस्वरूपविरोधी–आत्मस्वरूपाव पाप्माओं से असंस्पृष्ट रहने के कारण सहजरूप से ही आत्मानुगत मानवीय म केन्द्र को स्वप्रतिष्ठ बनाए रहते हैं, वैसे विद्या–अविद्याशून्य भी सहज मानव परविद्या–अविद्यादि–धर्मसमन्वित बुद्धिमानों के समतुलना में कहीं श्रेष्ठ ही मा जायँगे, माने गए हैं, माने जाते रहेंगे, जो बुद्धिमान् मानव अपने बुद्धिबल से अ आपको लोकतन्त्र में कर्तुं अकर्तुं मन्यथाकर्तुं समर्थमानते मनवाने का तात्कालि दम्भ करते रहते हैं। निष्कर्ष मानव की बुद्धिमता वही बुद्धिमत्ता है, जिस लोकसमृद्धसंरक्षणपूर्वक आत्ममनु के स्वरूपसंरक्षण में ही उपयोग होता रहता है।

गम्य तत्त्वानुशीलन, (४)-ज्ञाततत्त्वाधारेण प्रवृत्त होने वाला आचरण, (५)-आचरणानन्तर पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाने वाली ब्राह्मी स्थिति, इन पाँच स्थितियों के कारण पञ्चधा विभक्त हो जाता है जिन इन पाँचों वर्गभेदों को लोकमान्य शब्दों में जहाँ मनुज मनुष्य मानुष, मानव, पुरुष' अभिधाओं से व्यवहृत किया गया है, वहाँ इन्हें ही प्राजापत्यशास्त्र-परिभाषा में 'ब्राह्मण विद्वान्-कृतबुद्धि कर्त्ता ब्रह्मवेदी इन नामों से समन्वित माना गया है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है इन मनु ब्राह्मण, मनुष्यविद्वान्, मानुषकृतबुद्धि मानवकर्त्ता, पुरुषब्रह्मवेदी इन पाँचों अवान्तर वर्गभेदों का स्वरूपसमन्वय, जो कि 'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध' में यथाप्रदर्शित हुआ है।

प्रकृत में यही आवेदन-निष्कर्ष है कि, जिन नरों में आभिजात्यसंस्कार पराशुद्धि के कारण सहजरूप से जन्मना ही अभिव्यक्त रहता है, अतएव जो नरश्रेष्ठ गर्भमानावस्था से ही एक विशिष्ट आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से अनुप्राणित है, वही मनुज' नामक (मनु का अभिव्यक्तपुत्र) 'ब्राह्मणवर्ग' है इस वर्ग में से जो ब्राह्मण अपने आभिजात्य संस्कारों के विकासानुरूप वातावरण साधन सुविधा से प्राजापत्यशब्दशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का अनुगामी बन जाता है, वही ब्राह्मण 'मनुष्य' नामक (मनु का शब्दात्मक तत्त्वानुगामी पुत्र) 'विद्वान्वर्ग' है इस वर्ग में से जो विद्वान् ब्राह्मण अधीत प्राजापत्यशास्त्र के तत्त्वार्थरूप में (विचारबुद्धि के द्वारा) सर्वथा परिचित हो जाता है, वही विद्वान् ब्राह्मण 'मानुष' नामक (मा दुष इति-मानुष -इत्यादि श्रौतनिर्वचनानुसार दोषदर्शन से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वदर्शन का ही अनुगामी तत्त्वद्रष्टा विद्वान्) 'कृतबुद्धिवर्ग' है। इस वर्ग में से जो कृतबुद्धि ब्राह्मण दृष्ट अनुभूत तत्त्वदर्शन के आधार पर तात्त्विक कर्त्तव्यकर्मात्मक आचरणों का अनुगामी बना रहता है, वही कर्त्तव्यकर्मनिष्ठ ब्राह्मण 'मानव' नामक (मनोरपत्य-मनु का साक्षात् प्रतिनिधि) 'कर्त्तृवर्ग' है। इस कर्त्तृवर्ग में से जो कर्त्ता ब्राह्मण अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा को पूर्णरूपेण सम्पादित करता हुआ अन्ततोगत्वा मनुप्रभवरूप प्रजापतिब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करता हुआ स्वयं ही कार्यकर्त्ता बन जाता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण 'पुरुष' नामक (स्वयं प्रजापतिपुरुषरूपात्मक पुरुष अन्तिम 'ब्रह्मवेदी

मौलिक-स्वरूपभूत हृदयस्थ आत्ममनु के साथ अपने शरीर-मनो-बुद्धि-तन्त्रों के सहजसिद्ध अन्तर्य्याम सम्बन्ध को प्राजापत्यशास्त्रानुप्राणित विद्याबुद्धि-रूप बुद्धियोग के माध्यम से अभिव्यक्त कर लेगा। इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही परिपूर्ण आत्म-मनु-(हृद्य प्रजापति) के अनुग्रह से परिगृहीत बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्र भी स्वा-त्मना प्रकृतिस्थ बन जाते हैं, जो प्रकृतिस्थता ही इन तीनों तन्त्रों की परिपूर्णता है फलस्वरूप अपने आत्मतन्त्र से परिपूर्ण, अतएव बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्रों से भी परिपूर्ण मानव ही 'मानव' अभिधा को चरितार्थ कर सकता है। निष्कर्ष 'मानव' अभिधा की परिपूर्णता का 'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-परिपूर्णत्वमेव मानवत्वम्' इस लक्षण पर ही पर्य्यवसान है।

(१२)-मानवस्वरूपानुबन्धी एक सामयिक प्रश्न, और तद्-समाधान---

जैसा कि स्पष्ट किया गया है, मनु ने प्रजापतिसर्ग के चार विभाग किये हैं, जिनमें अन्तिम श्रेष्ठतम विभाग 'मानव' ही है, जो 'बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः' इन शब्दों में 'नर' नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् बादरायण (कृष्णद्वैपायन व्यास) के द्वारा भी 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत) इत्यादि रूप से मानव का ही श्रेष्ठत्व स्वीकृत हुआ है। क्या स्वयं मानववर्ग में अवान्तर श्रेणिविभाग नहीं है?, यही वह एक सामयिक प्रश्न है, जिसका प्रासङ्गिक समाधान अनिवार्य्यकोटि में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व का मानवमात्र मनुसिद्धा आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के कारण समानरूप से श्रेष्ठ है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। अवश्य ही आत्माभिव्यक्तित्व से शून्य पश्वादि प्राणियों के समतुलन में मानव श्रेष्ठ है, 'आर्य्य' है। इसी सामान्य अनुबन्ध के माध्यम से प्राजापत्यशास्त्र का 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' यह उद्घोष व्यक्त भी हुआ है। किन्तु जहाँ तक प्राजापत्यशास्त्र का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो एतद्देशीय मानव में ही प्रकृतिसिद्ध कुछ वैसे सहज वर्गभेद हैं, जिनकी प्राकृतिक स्थिति की कोई भी प्रकृतिवादी उपेक्षा-अवहेलना नहीं कर सकता।

प्राजापत्यशास्त्रनिबन्धन वही एतद्देशीय वर्गभेद (१)-जन्मान्तरीय विद्या-संस्कारोपसम्बन्ध, (२)-प्राजापत्यशब्दशास्त्रस्वाध्याय, (३)-शब्दशास्त्रानुगत बुद्धि

णम तत्त्वानुशीलन, (४)–शास्त्रतत्त्वावारेण प्रवृत्त होने वाला आचरण, (५)–आचरणानन्तर पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाने वाली ब्राह्मी स्थिति, इन पाँच स्थितियों के कारण पञ्चधा विभक्त हो जाता है, जिन इन पाँचों वर्गभेदों को लोकमान्य शब्दों में जहाँ मनुज मनुष्य मानुष, मानव, पुरुष' अभिधाओं से व्यवहृत किया गया है, वहाँ इन्हें ही प्राजापत्यशास्त्र-परिभाषा में 'ब्राह्मण-विद्वान्-कृतबुद्धि-कर्त्ता ब्रह्मवेदी इन नामों से समन्वित माना गया है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है इन मनु ब्राह्मण, मनुष्यविद्वान्, मानुषकृतबुद्धि, मानवकर्त्ता, पुरुषब्रह्मवेदी इन पाँचों अवान्तर वर्गभेदों के स्वरूपसमन्वय, जो कि 'श्वेतकान्तिनिबन्ध' में साटोप उपवर्णित हुआ है।

प्रकृत में यही आवेदन-निष्कर्ष है कि, जिन नरों में आभिजात्य संस्कार पशशुद्धि के कारण सहजरूप से जन्मना ही अभिव्यक्त रहता है, अतएव जो नरश्रेष्ठ गर्भमानावस्था से ही एक विशिष्ट आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से अनुप्राणित है, वही मनुज' नामक (मनु का अभिव्यक्तपुत्र) 'ब्राह्मणवर्ग' है। इस वर्ग में से जो ब्राह्मण अपने आभिजात्य संस्कारों के विकासानुरूप वातावरण-साधन-सुविधा से प्राजापत्यशब्दशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का अनुगामी बन जाता है, वही ब्राह्मण 'मनुष्य' नामक (मनु का शब्दात्मक तत्त्वानुगामी पुत्र) 'विद्वान्वर्ग' है इस वर्ग में से जो विद्वान् ब्राह्मण अर्थात प्राजापत्यशास्त्र के तत्त्वार्थबोध से (विद्याबुद्धि के द्वारा) सर्वथा परिचित हो जाता है, वही विद्वान् ब्राह्मण 'मानुष' नामक (मा द्रुग इति-मानुष -इत्यादि श्रौतनिर्वचनानुसार दोषदर्शन से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वदर्शन का ही अनुगामी तत्त्वद्रष्टा विद्वान्) 'कृतबुद्धिवर्ग है। इस वर्ग में से जो कृतबुद्धि ब्राह्मण दृष्ट अनुभूत तत्त्वदर्शन के आधार पर सात्त्विक कर्त्तव्यकर्मात्मक आचरणों का अनुगामी बना रहता है, वही कर्त्तव्यकर्मनिष्ठ ब्राह्मण 'मानव' नामक (मनोरयं-मनु का साक्षात् प्रतिनिधि) 'कर्तृवर्ग' है। इस कर्तृवर्ग में से जो कर्त्ता ब्राह्मण अपनी कर्मनिष्ठा को परिपूर्णरूपेण सम्पादित करता हुआ अन्ततोगत्वा मनुतत्त्वरूप प्रजापतितत्त्व के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करता हुआ स्वयं ही कार्यसत्ता बन जाता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण 'पुरुष' नामक (साक्षात् प्रजापतिपुरुषरूपात्मक पुरुष अन्तिम 'ब्रह्मवेदी-

मौलिक-स्वरूपभूत हृदयस्थ आत्ममनु के साथ अपने शरीर-मनो-बुद्धि-तन्त्रों के सहजसिद्ध अन्तर्य्याम सम्बन्ध को प्राजापत्यशास्त्रानुप्राणित विद्याबुद्धि-रूप बुद्धियोग के माध्यम से अभिव्यक्त कर लेगा। इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही परिपूर्ण आत्म-मनु-(हृद्य प्रजापति) के अनुग्रह से परिगृहीत बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्र भी स्वा-त्मना प्रकृतिस्थ बन जाते हैं, जो प्रकृतिस्थता ही इन तीनों तन्त्रों की परिपूर्णता है फलस्वरूप अपने आत्मतन्त्र से परिपूर्ण, अतएव बुद्धि-मन-शरीर-तन्त्रों से भी परिपूर्ण मानव हीं 'मानव' अभिधा को चरितार्थ कर सकता है। निष्कर्ष 'मानव' अभिधा की परिपूर्णता का 'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-परिपूर्णत्वेन मानवत्त्वम्' इस लक्षण पर ही पर्य्यवसान है।

(१२)—मानवस्वरूपानुबन्धी एक सामायिक प्रश्न, और तद्-समाधान—

जैसा कि स्पष्ट किया गया है, मनु ने प्रजापतिसर्ग के चार विभाग किये हैं, जिनमें अन्तिम श्रेष्ठतम विभाग 'मानव' ही है, जो 'बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा' इन शब्दों में 'नर' नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् बादरायण (कृष्णद्वैपायन व्यास) के द्वारा भी 'गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि-नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्' (महाभारत) इत्यादि रूप से मानव का ही श्रेष्ठत्त्व स्वीकृत हुआ है। क्या स्व मानववर्ग में अवान्तर श्रेणिविभाग नहीं है!, यही वह एक सामयिक प्रश्न है जिसका प्रासङ्गिक समाधान अनिवार्य्यकोटि में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व मानवमात्र मनुसिद्धा आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के कारण समानरूप से श्रेष्ठ हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। अवश्य ही आत्माभिव्यक्तित्त्व से शून्य पश्वादि प्राणियों के समतुलन में मानव श्रेष्ठ है, 'आर्य्य' है। इसी सामान्य अनुबन्ध के माध्यम से प्राजापत्यशास्त्र का 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' यह उद्घोष व्यक्त भी हुआ है। किन्तु जहाँ तक प्राजापत्यशास्त्र का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो एतद्देशीय मानव में ही प्रकृतिसिद्ध कुछ वैसे सहज वर्णभेद हैं, जिनकी प्राकृतिक स्थिति की कोई भी प्रकृतिवादी उपेक्षा-अवहेलना नहीं कर सकता।

प्राजापत्यशास्त्रनिबन्धन वही एतद्देशीय वर्णभेद (१)—जन्मान्तरीय सिद्ध-संस्कारोत्पसम्बन्ध, (२)-प्राजापत्यशब्दशास्त्रस्वाध्याय, (३)-शब्दशास्त्रानुगत बुद्धि

गम्य तत्त्वानुशीलन, (४)—ज्ञाततत्त्वाधारेण प्रवृत्त होने वाला आचरण, (५)—आचरणान्तर पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाने वाली ब्राह्मी स्थिति, इन पाँच स्थितियों के कारण पञ्चधा विभक्त हो जाता है, जिन इन पाँचों वर्गभेदों को लोकमान्य शब्दों में जहाँ मनुज मनुष्य मानुष, मानव, पुरुष' अभिधाओं से व्यवहृत किया गया है, वहाँ इन्हें ही प्राजापत्यशास्त्र-परिभाषा में 'ब्राह्मण-विद्वान्-कृतबुद्धि-कर्त्ता ब्रह्मवेदी' इन नामों से समन्वित माना गया है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है इन मनु ब्राह्मण, मनुष्यविद्वान् ,मानुषकृतबुद्धि, मानवकर्त्ता, पुरुषब्रह्मवेदी इन पाँचों अवान्तर वर्गभेदों के स्वरूपसमन्वय, जो कि 'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध' में साटोप उपवर्णित हुआ है।

प्रश्न में यही आवेदन-निष्कर्ष है कि, जिन नरों में आभिजात्य-संस्कार यदाशुद्धि के कारण सहजरूप से जन्मना ही अभिव्यक्त रहता है, अतएव जो नाभेष्ट जायमानावस्था से ही एक विशिष्ट आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से अनुप्राणित है, वही मनुज' नामक (मनु का अभिव्यक्तपुत्र) 'ब्राह्मणवर्ग' है। इस वर्ग में से जो ब्राह्मण अपने आभिजात्य संस्कारों के विकासानुरूप वातावरण-साधन-सुविधा से प्राजापत्यशब्दशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का अनुगामी बन जाता है, वही ब्राह्मण 'मनुष्य' नामक (मनु का शब्दात्मक तत्त्वानुगामी पुत्र) 'विद्वान्वर्ग' है इस वर्ग में से जो विद्वान् ब्राह्मण अधीत प्राजापत्यशास्त्र के तत्त्वार्थबोध से (विद्याबुद्धि के द्वारा) सर्वथा परिचित हो जाता है, वही विद्वान् ब्राह्मण 'मानुष' नामक (मा दुष इति-मानुष -इत्यादि श्रौतनिर्वचनानुसार दोषदर्शन से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वदर्शन का ही अनुगामी तत्त्वद्रष्टा विद्वान्) 'कृतबुद्धिवर्ग' है। इस वर्ग में से जो कृतबुद्धि ब्राह्मण दृष्ट अनुभूत तत्त्वदर्शन के आधार पर शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्मात्मक आचरणों का अनुगामी बना रहता है, वही कर्त्तव्यकर्मनिष्ठ ब्राह्मण 'मानव' नामक (मनोरूप-मनु का साक्षात् प्रतिनिधि) 'कर्त्तृवर्ग' है। इस कर्तृवर्ग में से जो कर्त्ता ब्राह्मण अपनी कर्मनिष्ठा को परिपूर्णरूपेण सम्पादित करता हुआ अन्ततोगत्वा मनुरूप प्रजापतिब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करता हुआ स्वयं ही कार्यदेवता बन जाता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण 'पुरुष' नामक (साक्षात् प्रजापतिपुरुषरूप से पुरुष अन्तिम 'ब्रह्मवेदी-

मौलिक-स्वरूपभूत हृदयस्थ आत्ममनु के साथ अपने शरीर-मनो-बुद्धि-तन्त्रों के सहजसिद्ध अन्तर्य्याम सम्बन्ध को प्राजापत्यशास्त्रानुप्राणित विद्याबुद्धि-रूप बुद्धियोग के माध्यम से अभिव्यक्त कर लेगा। इस अभिव्यक्ति के द्वारा ही परिपूर्ण आत्म-मनु-(हृद्य प्रजापति) के अनुग्रह से परिगृहीत बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्र भी सर्वात्मना प्रकृतिस्थ बन जाते हैं, जो प्रकृतिस्थता ही इन तीनों तन्त्रों की परिपूर्णता है। फलस्वरूप अपने आत्मतन्त्र से परिपूर्ण, अतएव बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्रों से भी परिपूर्ण मानव ही 'मानव' अभिधा को चरितार्थ कर सकता है। निष्कर्षतः 'मानव' अभिधा की परिपूर्णता का 'आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-परिपूर्णत्वमेव मानवत्त्वम्' इस लक्षण पर ही पर्य्यवसान है।

(१२)-मानवस्वरूपानुबन्धी एक सामयिक प्रश्न, और तत्-समाधान---

जैसा कि स्पष्ट किया गया है, मनु ने प्रजापतिसर्ग के चार विभाग किये हैं, जिनमें अन्तिम श्रेष्ठतम विभाग 'मानव' ही है, जो 'बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः' इन शब्दों में 'नर' नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् बादरायण (कृष्णद्वैपायन व्यास) के द्वारा भी 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' (महाभारत) इत्यादि रूप से मानव का ही श्रेष्ठत्त्व स्वीकृत हुआ है। क्या सर्व मानववर्ग में अवान्तर श्रेणिविभाग नहीं है?, यही वह एक सामयिक प्रश्न है, जिसका प्रासङ्गिक समाधान अनिवार्य्यकोटि में प्रविष्ट हो रहा है। सम्पूर्ण विश्व के मानवमात्र मनुसिद्धा आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के कारण समानरूप से श्रेष्ठ हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। अवश्य ही आत्माभिव्यक्तित्त्व से शून्य पश्वादि प्राणियों के समतुलन में मानव श्रेष्ठ है, 'आर्य्य' है। इसी सामान्य अनुबन्ध के माध्यम से प्राजापत्यशास्त्र का 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' यह उद्घोष व्यक्त भी हुआ है। किन्तु जहाँ तक प्राजापत्यशास्त्र का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो एतद्देशीय मानव में ही प्रकृतिसिद्ध कुछ ऐसे सहज वर्णभेद हैं, जिनकी प्राकृतिक स्थिति की कोई भी प्रकृतिवादी उपेक्षा-अवहेलना नहीं कर सकता।

प्राजापत्यशास्त्रनिबन्धन यही एतद्देशीय वर्णभेद (१)-जन्मान्तरीय विद्या-संस्कारोपसम्बन्ध, (२)-प्राजापत्यछन्दशास्त्रस्वाध्याय, (३)-छन्दशास्त्रानुगत बुद्धि

गम्य तत्त्वानुशीलन, (४)–शास्त्रतत्त्वाधारेण प्रवृत्त होने वाला आचरण, (५)–आचरणान्त पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाने वाली ब्राह्मी स्थिति, इन पाँच स्थितियों के कारण पञ्चधा विभक्त हो जाता है जिन इन पाँचों वर्गभेदों को लोकमान्य शब्दों में जहाँ मनुज मनुष्य मानुष, मानव, पुरुष' अभिधाओं से व्यवहृत किया गया है, वहाँ इन्हें ही प्राजापत्यशास्त्र-परिभाषा में 'ब्राह्मण विद्वान-कृतबुद्धि-कर्त्ता ब्रह्मवेदी' इन नामों से समन्वित माना गया है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है इन मनु ब्राह्मण, मनुष्यविद्वान् ,मानुषकृतबुद्धि, मानवकर्त्ता, पुरुषब्रह्मवेदी इन पाँचों अवान्तर वर्गभेदों का स्वरूपसमन्वय, जो कि 'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध' में सविस्तार उपवर्णित हुआ है।

प्रकृत में यही आवेदन-निष्कर्ष है कि, जिन नरों में आभिजात्य-संस्कार पराशुद्धि के कारण सहजरूप से जन्मना ही अभिव्यक्त रहता है, फलतः जो नाभेष्ट जायमानावस्था से ही एक विशिष्ट आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से अनुप्राणित है, वही मनुज' नामक (मनु का अभिव्यक्तपुत्र) 'ब्राह्मणवर्ग' है। इस वर्ग में से जो ब्राह्मण अपने आभिजात्य संस्कारों के यथाशक्ति अनुरूप वातावरण-साधन-सुविधा से प्राजापत्यशब्दशास्त्र के अध्ययनाध्यापन का अनुगामी बन जाता है, वही ब्राह्मण 'मनुष्य' नामक (मनु का शब्दात्मक तत्त्वानुगामी पुत्र) 'विद्वान्वर्ग' है इस वर्ग में से जो विद्वान् ब्राह्मण अधीत प्राजापत्यशास्त्र के तत्त्वार्थबोध में (विद्याबुद्धि के द्वारा) सर्वथा परिचित हो जाता है, वही विद्वान् ब्राह्मण 'मानुष' नामक (मा द्रुष इति-मानुष –इत्यादि श्रौतनिर्वचनानुसार दोषदर्शन से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वदर्शन का ही अनुगामी तत्त्वद्रष्टा विद्वान्) 'कृतबुद्धिवर्ग' है। इस वर्ग में से जो कृतबुद्धि ब्राह्मण दृष्ट अनुभूत तत्त्वदर्शन के आधार पर तात्त्विक कर्त्तव्यकर्मात्मक आचरणों का अनुगामी बना रहता है, वही कर्मनिष्ठ ब्राह्मण 'मानव' नामक (मनोर्धर्म-मनु का साक्षात् प्रतिनिधि) 'कर्त्तृवर्ग' है। इस कर्तृवर्ग में से जो कर्त्ता ब्राह्मण अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा को परिपूर्णरूपेण सम्पादित करता हुआ अन्ततोगत्वा मनुप्रवर्त्य प्रजापतिब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करता हुआ स्वयं ही कार्यकर्त्ता बन जाता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण 'पुरुष' नामक (साक्षात् प्रजापतिपुरुषरूप मन का पुत्र अन्तिम 'ब्रह्मवेदी-

वर्ग' है। लक्ष्य बनाइए अवधानपूर्वक नीचे लिखी इस वर्गतालिका को, एवं अन्तर्मुखभावापन्ना निष्ठाबुद्धि से मुकुलितनयन बन कर समन्वय कीजिए प्राजापत्यनिष्ठामूलक इस वर्गपञ्चक का। अवश्य ही तद्द्वारा आप किसी महान् उद्बोधनक्षेत्र के अनुगामी बन सकेंगे, अपनी सहजसिद्धा सत्त्वप्रज्ञा के अनुग्रह से ही।

१–आभिजात्यजन्मसंस्कारयुक्तः	नर एव ब्राह्मण.	मनुजमानव	यथाजातब्राह्मण
२–प्राजापत्यशब्दशास्त्रसंस्कारयुक्तः	ब्राह्मण एव विद्वान्	मनुष्यमानव	विद्वान्ब्राह्मण
३–शब्दानुगततत्त्वसंस्कारयुक्त	विद्वानेव कृतबुद्धिः	मानुषमानव	कृतबुद्धिब्राह्मण
४–तत्त्वानुगतकर्त्तव्यनिष्ठायुक्तः	कृतबुद्धिरेव कर्त्ता	मानवमानव	कर्त्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण
५–कर्त्तव्यानुगतब्रह्मनिष्ठासमन्वित	कर्त्तैव ब्रह्मवेदी	पुरुषमानवः	ब्रह्मनिष्ठब्राह्मण

पूर्वप्रक्रान्तमनुवचनशेषः–नरेषु–ब्राह्मणाः स्मृताः।
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः, विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥

—मनु

इदित्थं–इस अवान्तर वर्गभेद की दृष्टि से अब हम परम्परासिद्ध प्राजापत्यसर्गनिबन्धन वर्णविभाग का सम्भूय नवधा वर्गीकरण मान सकते हैं, जिनमें आरम्भ के तीन वर्ग आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से पृथक् रहते हुए जहाँ यथाजात प्राकृतवर्ग हैं, वहाँ उत्तर के षड्वर्ग आत्माभिव्यक्तित्व के कारण स्वतन्त्र हृदयकेन्द्र से सम्बन्धित होते हुए परिपूर्ण हैं। तालिकामाध्यम से समन्वय कीजिए इस नवधावर्गभक्तिमीमांसा का, एवं तदाधार पर ही प्रक्रान्त 'मानव' अभिधा का समन्वय कीजिए—

सैषा प्राजापत्यनुगता नवसर्गतालिका

—'नवो नवो भवति जायमानः'—इत्याचार्य्या आहुः

सर्ग' है। लक्ष्य बनाइए अवधानपूर्वक नीचे लिखी इस वर्गतालिका को, ए अन्तर्मुखभावापन्ना निष्ठाबुद्धि से मुकुलितनयन बन कर समन्वय कीजिए प्राजापत्यनिष्ठामूलक इस वर्गपञ्चक का। अवश्य ही तद्द्वारा आप किसी महान उद्बोधनक्षेत्र के अनुगामी बन सकेंगे, अपनी सहजसिद्धा सत्वप्रज्ञा के अनुग्रह से ही

१–आभिजात्यजन्मसंस्कारयुक्तः	नर एव ब्राह्मणः	मनुजमानव	यथाजातब्राह्मण
२–प्राजापत्यशब्दशास्त्रसंस्कारयुक्तः	ब्राह्मण एव विद्वान्	मनुष्यमानव.	विद्वान्ब्राह्मण
३–शब्दानुगततत्त्वसंस्कारयुक्त'	विद्वानेव कृतबुद्धिः	मानुषमानव	कृतिबुद्धिब्राह्मण
४–तत्त्वानुगतकर्त्तव्यनिष्ठायुक्तः	कृतबुद्धिरेव कर्त्ता	मानवमानव	कर्त्तव्यनिष्ठ ब्राह्मण
५–कर्त्तव्यानुगतब्रह्मनिष्ठासमन्वित	कर्त्तैव	ब्रह्मवेदी पुरुषमानवः	ब्रह्मनिष्ठब्राह्मण

पूर्वप्रक्रान्तमनुवचनशेषः–नरेषु–ब्राह्मणाः स्मृताः।
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः, विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥

—मनु

तदित्थं–इस अवान्तर वर्गभेद की दृष्टि से अब हम परम्परासिद्ध प्राजापत्य-सर्गनिबन्धन वर्णविभाग का सम्भूय नवधा वर्गीकरण मान सकते हैं, जिनमें आरम्भ के तीन वर्ग आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से पृथक् रहते हुए जहाँ यथाजात प्राकृतवर्ग हैं, वहाँ उत्तर के षड्वर्ग आत्माभिव्यक्तित्व के कारण स्वतन्त्र उक्थकेन्द्र से सम्बन्धित होते हुए परिपूर्ण हैं। तालिकामाध्यम से समन्वय कीजिए इस नवधावर्गभक्तिमीमांसा का, एवं तदाधार पर ही प्रक्रान्त 'मानव' अभिधा का समन्वय कीजिए—

सैषा प्रजापत्यनुगता नवसर्गतालिका

—'नवो नवो भवति जायमानः'—इत्याचार्य्या आहुः

वर्ग			प्राकृतसर्गत्रिविध
१–शरीरमात्रोपजीवी-वर्ग	(३)–जडमावा	(३)–भूतानि, भूताना	
२–मनोजीवी-वर्ग	(२)–सामान्यपश्वादय	(२)–प्राणिन श्रेष्ठा	
३–बुद्धिजीवी-वर्ग	(१)–बुद्धिमन्त पश्वादय	(१)–प्राणिना बुद्धि–जीविन श्रेष्ठा	
४ श्रमजीवी-वर्ग (६)	—नर	(६)–बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा	आत्माभिमुखोत्सर्ग–षड्विध
५–आत्मानुगामी-वर्ग (५)	—मनुज	(५)–नरेषु ब्राह्मणा श्रेष्ठा	
६–आत्मश्रुत्यनुगामी-वर्ग	(४)–मनुष्य	(४)–ब्राह्मणेषु विद्वास श्रेष्ठा	
७–आत्मतत्त्वानुगामी वर्ग	(३)–मानुष	(३)–विद्वत्सु कृतबुद्धय श्रेष्ठा	
८–आत्मविकासानुगामी-वर्ग	(२)–मानव	(२)–कृतबुद्धिषु कर्त्तार श्रेष्ठा	
९–आत्मनिष्ठवर्ग	(१)—पुरुष	(१)–कर्तृषु ब्रह्मवेदिन श्रेष्ठा	

(१३)–मर्मसिद्ध 'उक्थ' अभिधा का स्वरूपदिग्दर्शन—

'मानवोक्थवैज्ञानिकब्रह्मोद्य' माव की प्रथमा 'मानव' अभिधा के स्वरूप–दिग्दर्शन के अनन्तर अब 'उक्थ' अभिधा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो रहा है। केन्द्रावच्छिन्न हृदयस्थ उस मूलकन्दल का ही नाम 'उक्थ' है, जहाँ से चारों ओर परिमण्डल बनाती हुई विविध शक्तिरूपा रश्मियाँ विनिर्गत होतीं रहतीं हैं। समस्त शक्तिपुञ्ज का मूलबिम्बात्मक मूलस्रोतरूप केन्द्रबिम्ब ही 'उक्थ' है, जो हृदय आत्मन् का ही अभिव्यक्त स्वरूप है। शरीर और मन से प्रकृतिस्थ बना रहता हुआ, एवं बुद्ध्या तथा भूतात्मना स्वस्थता को मूलप्रतिष्ठा मानता हुआ मानव यदि मानव के (अपने आपके) इस उक्थ को लक्ष्य बनाए रहता है,

तो इसकी प्रज्ञा सम्पूर्ण समस्या-विषमताओं का सम्यक् समन्वय कर डालने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। यदि मानव परदर्शन-परप्रभावानुगत परभावों का अनुगामी बन जाता है, तो इसका अपना उक्थकेन्द्र विच्युत हो जाता है। और उस दशा में अनेकचित्तविभ्रान्ता-मोहजालसमावृता अविद्याबुद्धि के कारण इसे पदे पदे लक्ष्यविहीन ही बन जाना पड़ता है। अव्ययात्मानुगृहीत संस्कारावच्छिन्न सांस्कारिक भूतात्मा (देही) ही मानव का 'उक्थ' है, यही इसका 'स्वरूप' है, जिस इस उक्थ ('आत्मस्वरूप') को न जानने कारण ही मानव पशुवत् अनुकरणप्रिय बन जाया करता है।

(१४)-'वैराजिक' अभिधा का दिग्दर्शन—

'उक्थ' का स्वस्वरूपावस्थितिरूप से स्वरूपसंरक्षण करने वाले अर्कमण्डल का ही नाम 'वैराजिक' मण्डल है। इस रश्मिरूप वैराजिक मण्डल में उक्थ से विरुद्ध 'अशीति' ठहर ही नहीं सकती। अतएव वैराजिकभावसमन्वित मानव का उक्थ कभी दूषित हो ही नहीं सकता। स्पष्ट है कि, रश्मिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल की शुचिता के लिए मानव को सदा ही उक्थपरिपोषक अशीति-भाव के परिग्रहण में ही जागरूक बना रहना चाहिए। क्योंकि अशीतियों से ही उक्थ का परिपोषण-आप्यायन हुआ करता है। उक्थ से विरुद्ध अशीतियाँ प्रथम वैराजिक रश्मिमण्डल को विकृत करती हैं। तद्द्वारा उक्थ विकृत हो जाता है। आगन्तुक उक्थ ही मानव के सहज उक्थ को उस सीमापर्यन्त परिव्याप्त कर लेते हैं जिनसे मानव अपने मानवीय मनु-आत्मनिबन्धन सहज उक्थ के अनुग्रह से वञ्चित हो जाता है, और यही मानव की स्वरूपविस्मृति, एवं तन्मूलक अधःपतन का मूलकारण है।

उक्थ-अर्क-अशीति, तीनों का सम-अनुरूप यज्ञात्मक समन्वय ही मानव का स्वरूप-संरक्षक माना गया है। उदाहरण के लिए दीपबिम्ब को लक्ष्य बनाइए। स्वयं दीपबिम्ब (लौ) उक्थ है, दीपप्रभामण्डल अर्कात्मक (रश्म्यात्मक) वैराजिक मण्डल है, तैल अशीति है। यदि निवात-वातावरण में अमुक प्रदेश में अवस्थित उक्थरूप दीपबिम्ब अपने वैराजिक प्रभामण्डल का वितान करता हुआ तैलरूप अनुरूप अशीति (अन्न) ग्रहण करता रहता है, तो दीपानुगत

उथ-अर्क अशीति-तीनों का ही समन्वय सुरक्षित रहता है फलस्वरूप स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। यदि तैनाशीत के स्थान में विजातीय विरुद्ध जनादि-वातादि अशीतियों का समावेश हो जाता है, तो दीपोक्थ स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है।

(१५)-ब्रह्मौदनस्वरूपपरिचय—

वैराजिक परिमण्डल के केन्द्र में कन्दल-रूप से अवस्थित उक्थ को आप्यायित करतीं रहने वाली उक्थानुरूपा उक्थस्वरूपसंरक्षिका अशीतियाँ ही 'ब्रह्मौदन' कहलाईं हैं। अनुरूपता में ही यह अशीति उक्थब्रह्म का अन्न (भोग्य) बनती हुई – ब्रह्मौदन कहलाती है। यही अशीतिरूप अन्न यदि उक्थब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर देता है, तो उस अवस्था में यह ब्रह्मौदन ब्रह्मौदन न रह कर ब्रह्मस्वरूपविघातक प्रवर्ग्य बन जाता है। उक्थरूप मूर्तिबिम्ब, वैराजिस्वरूप परिमण्डल, एवं पारमण्डलमुक्त ब्रह्मौदनरूप भोग्यपरिग्रह, तीनों का सामञ्जस्य ही उक्थवैराजिक-ब्रह्मौदनरूप मानव का स्वरूपरक्षक है। अतएव प्रत्येक मानव को स्वस्वरूपसंरक्षण-परिवर्द्धन-विकास के लिए अपने उक्थ वैराजिक ब्रह्मौदन-इन तीनों का अनिवार्य्यरूपेण स्वरूपबोध प्राप्त कर ही लेना चाहिए है। हम क्या हैं? प्रश्न का उत्तर उक्थस्वरूपबोध पर ही पर अवलम्बित है हमारा शक्ति-योगक्षेम किस सामापर्यन्त व्याप्त है ?, प्रश्न का उत्तर वैराजिक स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। एवं हम किन किन साधन-परिग्रह भोग्य भावों के द्वारा अपनी शक्तियाँ सुरक्षित रखते हुए अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं ?, प्रश्न का उत्तर ब्रह्मौदन स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। तीनों के स्वरूप-बोधाधार पर ही 'मानव' अभिधा अवलम्बित है। अन्यथा मानव और पशु में कोई भेद नहीं है। अतएव आरम्भ में ही हमें यह आवेदन कर देना पड़ा कि, 'मानव' की परिपूर्णता का गुप्त रहस्य मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदन -वाक्यसन्दर्भ के गर्भ में ही निहित है।

(१६)-स्वेतरान्तिमूलक-मानव, और मानवाश्रम—

जिस विनद गर्भीभूत-मौलिक-आधार की प्राजापत्या अभिधा-'मानवोक्थ-वैराजिकब्रह्मौदन' है उसी अभिधा की लाक्षणिक 'मानवाश्रम' है। उक्थ वैराजिक-

तो इसकी प्रज्ञा सम्पूर्ण समस्या-विषमताओं का सम्यक् समन्वय कर डालने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। यदि मानव परदर्शन-परप्रमाणानुगत परभावों का अनुगामी बन जाता है, तो इसका अपना उक्थकेन्द्र विच्युत हो जाता है। और उस दशा में अनेकचित्तविभ्रान्ता-मोहजालसमावृता अविद्याबुद्धि के कारण इसे पदे पदे लक्ष्यविहीन हो बन जाना पड़ता है। अध्यात्मानुगृहीत संस्कारावच्छिन्न सांस्कारिक भूतात्मा (देही) ही मानव का 'उक्थ' है, यही इसका 'स्वरूप' है, जिस इस उक्थ ('आत्मस्वरूप') को न जानने कारण ही मानव पशुवत् अनुकरणप्रिय बन जाया करता है।

(१४)-'वैराजिक' अभिधा का दिग्दर्शन—

'उक्थ' का स्वस्वरूपावस्थितिरूप से स्वरूपसंरक्षण करने वाले अर्कमण्डल का ही नाम 'वैराजिक' मण्डल है। इस रश्मिरूप वैराजिक मण्डल में उक्थ से विरुद्ध 'अशीति' ठहर ही नहीं सकती। अतएव वैराजिकभावसमन्वित मानव का उक्थ कभी दूषित हो ही नहीं सकता। स्पष्ट है कि, रश्मिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल की शुचिता के लिए मानव को सदा ही उक्थपरिपोषक अशीति-भाग के परिग्रहण में ही जागरूक बना रहना चाहिए। क्योंकि अशीतियों से ही उक्थ का परिपोषण-आप्यायन हुआ करता है। उक्थ से विरुद्ध अशीतियाँ प्रथम वैराजिक रश्मिमण्डल को विकृत करतीं हैं। तद्द्वारा उक्थ विकृत हो जाता है। आगन्तुक उक्थ ही मानव के सहज उक्थ को उस सीमापर्यन्त परिव्याप्त कर लेते हैं जिनमें मानव अपने मानवीय मनु-आत्मनिबन्धन सहज उक्थ के अनुग्रह से वञ्चित हो जाता है, और यही मानव की स्वरूपविस्मृति, एवं तन्मूलक अधःपतन का मूलकारण है।

उक्थ-अर्क-अशीति, तीनों का सम-अनुरूप वयात्मक समन्वय ही मानव का स्वरूप-संरक्षक माना गया है। उदाहरण के लिए दीपबिम्ब को लक्ष्य बनाइए। स्वयं दीपबिम्ब (लौ) उक्थ है, दीपप्रभामण्डल अर्कात्मक (रश्म्यात्मक) वैराजिक मण्डल है, तैल अशीति है। यदि निवात-वातावरण में अमुक प्रदेश में अवस्थित उक्थरूप दीपबिम्ब अपने वैराजिक प्रभामण्डल का वितान करता हुआ तैलरूप अनुरूप अशीति (अन्न) ग्रहण करता रह। है, तो दीपानुगत

उक्थ-अर्क अशीति-तीनों का ही समसमन्वय सुरक्षित रहता है फलस्वरूप दीपस्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है । यदि तैजाशीति के स्थान में विजातीय आर्यविरुद्ध जलादि-वल्लादि अशीतियों का समावेश हो जाता है, तो दीपोक्थ का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है ।

(१५)-ब्रह्मौदनस्वरूपपरिचय—

वैराजिक परिमण्डल के केन्द्र में कन्दल-रूप से अवस्थित उक्थ को आप्यायित करती रहने वाली उक्थानुरूपा-उक्थस्वरूपसंरक्षिका अशीतियाँ हीं 'ब्रह्मौदन' कहलाई हैं । अनुरूपता में ही यह अशीति उक्थब्रह्म का अन्न (भोग्य) बनती हुई- 'ब्रह्मौदन' कहलाती है । यही अशीतिरूप अन्न यदि उक्थब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर देता है, तो उस अवस्था में यह ब्रह्मौदन 'ब्रह्मौदन' न रह कर ब्रह्मस्वरूपविघातक 'प्रवर्ग्य' बन जाता है । उक्थरूप मूलबिम्ब, वैराजिकरूप परिमण्डल, एवं परिमण्डलभुक् ब्रह्मौदनरूप भाग्यपरिग्रह, तीनों का सामञ्जस्य ही उक्थवैराजिक-ब्रह्मौदनरूप मानव का स्वरूपसंरक्षक है । अतएव प्रत्येक मानव को स्वस्वरूपसंरक्षण-परिवर्द्धन-विकास के लिए अपने उक्थ वैराजिक ब्रह्मौदन-इन तीनों का अनिवार्य्यरूपेण स्वरूपबोध प्राप्त कर ही लेना चाहिए है । हम क्या हैं ?, प्रश्न का उत्तर उक्थस्वरूपबोध पर ही पर अवलम्बित है हमारा शक्ति-प्रयोगक्षेत्र किस सीमापर्य्यन्त व्याप्त है ?, प्रश्न का उत्तर वैराजिक स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है । एवं हम किन किन साधन परिग्रह भोग्य भावों के द्वारा अपनी शक्तियाँ सुरक्षित रखते हुए अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं ?, प्रश्न का उत्तर ब्रह्मौदन स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है । तीनों के स्वरूप-बोधाधार पर ही 'मानव' अभिधा अवलम्बित है । अन्यथा मानव और पशु में कोई भेद नहीं है । अतएव आरम्भ में ही हमें यह आवेदन कर देना पड़ा कि, 'मानव' की परिपूर्णता का गुप्त रहस्य 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौदन'-वाक्यसन्दर्भ के गर्भ में ही निरुद्ध है ।

(१६)-स्वैतक्रान्तिमूलक-मानव, और मानवाश्रम—

जिस निरूढ गर्भीभूत-मौलिक-आधार की प्राजापत्या अभिधा-'मानवोक्थ-वैराजिकब्रह्मौदन' है, उसी अभिधा की क्रमशः 'मानवाश्रम' है । उक्थ वैराजिक-

तो इसकी प्रज्ञा सम्पूर्ण समस्या-विषमताओं का सम्यक् समन्वय कर डालने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। यदि मानव परदर्शन-परप्रभावानुगत परभावों का अनुगामी बन जाता है, तो इसका अपना उक्थकेन्द्र विच्युत हो जाता है। और उस दशा में अनेकचित्तविभ्रान्ता-मोहजालसमावृता अविद्याबुद्धि के कारण इसे पदे पदे लक्ष्यविहीन ही बन जाना पड़ता है। अव्ययात्मानुगृहीत संसारावच्छिन्न सांस्कारिक भूतात्मा (देही) ही मानव का 'उक्थ' है, यही इसका 'स्वरूप' है, जिस इस उक्थ ('आत्मस्वरूप') को न जानने कारण ही मानव पशुवत् अनुकरणप्रिय बन जाया करता है।

(१४)-'वैराजिक' अभिधा का दिग्दर्शन—

'उक्थ' का स्वस्वरूपावस्थितिरूप से स्वरूपसंरक्षण करने वाले अर्कमण्डल का ही नाम 'वैराजिक' मण्डल है। इस रश्मिरूप वैराजिक मण्डल में उक्थ से विरुद्ध 'अशीति' ठहर ही नहीं सकती। अतएव वैराजिकभावसमन्वित मानव का उक्थ कभी दूषित हो ही नहीं सकता। स्पष्ट है कि, रश्मिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल की शुचिता के लिए मानव को सदा ही उक्थपरिपोषक अशीति-भाग के परिग्रहण में ही जागरूक बना रहना चाहिए। क्योंकि अशीतियों से ही उक्थ का परिपोषण-आप्यायन हुआ करता है। उक्थ से विरुद्धा अशीतियाँ प्रथम वैराजिक रश्मिमण्डल को विकृत करती हैं। तद्द्वारा उक्थ विकृत हो जाता है। आगन्तुक उक्थ ही मानव के सहज उक्थ को उस सीमापर्य्यन्त परिव्याप्त कर लेते हैं जिनसे मानव अपने मानवीय मनु-आत्मनिबन्धन सहज उक्थ के अनुग्रह से वञ्चित हो जाता है, और यही मानव की स्वरूपविस्मृति, एवं तन्मूलक अधःपतन का मूलकारण है।

उक्थ-अर्क-अशीति, तीनों का सम-अनुरूप यथात्मक समन्वय ही मानव का स्वरूप-संरक्षक माना गया है। उदाहरण के लिए दीपबिम्ब को लक्ष्य बनाइए। स्वयं दीपबिम्ब (लौ) उक्थ है, दीपप्रभामण्डल अर्कात्मक (रश्म्यात्मक) वैराजिक मण्डल है, तैल अशीति है। यदि निवात-वातावरण में अमुक प्रदेश में अवस्थित उक्थरूप दीपबिम्ब अपने वैराजिक प्रभामण्डल का वितान करता हुआ तैलरूप अनुरूप अशीति (अन्न) ग्रहण करता रहता है, तो दीपानुरूप

उक्थ-अर्क अशीति-तीनों का ही समसमन्वय सुरक्षित रहता है, फलस्वरूप स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। यदि तैनाशीत के स्थान में विजातीय विरुद्ध जलादि-वातादि अशीतियों का समावेश हो जाता है, तो दीपोक्थ का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है।

(१५)-महोग्रस्वरूपपरिचय—

वैराजिक परिमण्डल के केन्द्र में कन्दल-रूप से अवस्थित उक्थ को आप्यायित करती रहने वाली उक्थानुरूपा-उक्थस्वरूपसंरक्षिका अशीतियाँ ही 'महोग्र' कहलाई हैं। अनुरूपता में ही यह अशीति उक्थब्रह्म का अन्न (भोग्य) बनती हुई-'महोग्र' कहलाती है। यही अशीतिरूप अन्न यदि उक्थब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर देता है, तो उस अवस्था में यह महोग्र 'महोदल' न रह कर ब्रह्मस्वरूपविघातक 'प्रवर्ग्य' बन जाता है। उक्थरूप मूलबिम्ब, वैराजिकरूप परिमण्डल, एवं परिमण्डलभुक्त महोग्ररूप भोग्यपरिग्रह, तीनों का सामञ्जस्य ही उक्थवैराजिक-महोग्ररूप मानव का स्वरूपसंरक्षक है। अतएव प्रत्येक मानव को स्वरूपसंरक्षण-परिवर्द्धन-विकास के लिए अपने उक्थ वैराजिक महोग्र-इन तीनों का अनिवार्य्यरूपेण स्वरूपबोध प्राप्त कर ही लेना चाहिए है। हम क्या हैं ?, प्रश्न का उत्तर उक्थस्वरूपबोध पर ही पर अवलम्बित है। हमारा शक्ति-प्रयोगक्षेत्र किस सीमापर्य्यन्त व्याप्त है ?, प्रश्न का उत्तर वैराजिक स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। एवं हम किन किन साधन-परिग्रह-भोग्य-भावों के द्वारा अपनी शक्तियाँ सुरक्षित रखते हुए अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं ?, प्रश्न का उत्तर महोग्र स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। तीनों के स्वरूप-बोधाधार पर ही 'मानव' अभिधा अवलम्बित है। अन्यथा मानव और पशु में कोई भेद नहीं है। अतएव आरम्भ में ही हमें यह आवेदन कर देना पड़ा कि, 'मानव' की परिपूर्णता का गुप्त रहस्य मानवोक्थवैराजिकमहोग्र-वाक्यसन्दर्भ के गर्भ में ही निरुद्ध है।

(१६)-स्वेतकान्तिमूलक-मानव, और मानवाश्रम—

जिस निरुद्ध गर्भीभूत-मौलिक-आधार की प्राजापत्या अभिधा-'मानवोक्थ-वैराजिकमहोग्र' है, उसी अभिधा की संक्षिप्त 'मानवाश्रम' है। उक्थ वैराजिक-

तो इसकी प्रज्ञा सम्पूर्ण समस्या-विषमताओं का सम्यक् समन्वय कर डालने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। यदि मानव परदर्शन-परप्रभावानुगत परभावों का अनुगामी बन जाता है, तो इसका अपना उक्थकेन्द्र विच्युत हो जाता है। और उस दशा में अनेकचित्तविभ्रान्ता-मोहजालसमावृता अविद्याबुद्धि के कारण इसे पदे पदे लक्ष्यविहीन ही बन जाना पड़ता है। अव्ययात्मानुगृहीत सस्कारावच्छिन्न सास्कारिक भूतात्मा (देही) ही मानव का 'उक्थ' है, यही इसका 'स्वरूप है, जिस इस उक्थ ('आत्मस्वरूप') को न जानने कारण ही मानव पशुवत् अनुकरणप्रिय बन जाया करता है।

(१४)-'वैराजिक' अभिधा का दिग्दर्शन—

'उक्थ' का स्वस्वरूपावस्थितिरूप से स्वरूपसंरक्षण करने वाले अर्कमण्डल का ही नाम 'वैराजिक' मण्डल है। इस रश्मिरूप वैराजिक मण्डल में उक्थ से विरुद्ध 'अशीति' ठहर ही नहीं सकती। अतएव वैराजिकभावसमन्वित मानव का उक्थ कभी दूषित हो ही नहीं सकता। स्पष्ट है कि, रश्मिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल की शुचिता के लिए मानव को सदा ही उक्थपरिपोषक अशीति-भाव के परिग्रहण में ही जागरूक बना रहना चाहिए। क्योंकि अशीतियों से ही उक्थ का परिपोषण-आप्यायन हुआ करता है। उक्थ से विरुद्धा अशीतियाँ प्रथम वैराजिक रश्मिमण्डल को निहृत करती हैं। तद्द्वारा उक्थ विकृत हो जाता है। आगन्तुक उक्थ ही मानव के सहज उक्थ को उस सीमापर्यन्त परिव्याप्त कर लेते हैं जिनमें मानव अपने मानवीय मनु-आत्मनिबन्धन सहज उक्थ के अनुग्रह से वञ्चित हो जाता है, और यही मानव की स्वरूपविस्मृति, एवं तन्मूलक अध पतन का मूलकारण है।

उक्थ-अर्क-अशीति, तीनों का सम-अनुरूप यज्ञात्मक समन्वय ही मानव का स्वरूप-संरक्षक माना गया है। उदाहरण के लिए दीपबिम्ब को लक्ष्य बनाइए। स्वयं दीपबिम्ब (लौ) उक्थ है, दीपप्रभामण्डल अर्कात्मक (रश्म्यात्मक) वैराजिक मण्डल है, तैल अशीति है। यदि निर्वात-वातावरण में अमुक प्रदेश में अवस्थित उक्थरूप दीपबिम्ब अपने वैराजिक प्रभामण्डल का वितान करता हुआ तैलरूप अनुरूप अशीति (अन्न) ग्रहण करता रहता है, तो दीपाग्नि

तत्त्वदृष्टि के आधार पर 'परिश्रम' कहलाया है । ऐसे अध्ययनशील मानव ही 'परिश्रमी' कहलाए हैं । यही 'श्रमजीवी' शरीरमनोधर्म्मा मानव, एव 'परिश्रमजीवी' बुद्धिधर्म्मा मानव में महान् अन्तर है ।

बुद्ध्यनुगत परिश्रम की सीमा में उक्थरूप मूल आत्मा नही आ पाता । अतएव केवल बौद्धिक श्रमात्मक परिश्रम के बल पर ही उक्थ आत्मा की स्वरूपबोधात्मिका अभिव्यक्ति असम्भव है । इस आत्मस्वरूपबोधाभिव्यक्ति के लिए बौद्धिक परिश्रम को सर्वथा निष्ठारूप से उक्थ-आत्मा का ही अनुगामी बना देना अनिवार्य्य होगा, जिसके प्रकार एकमात्र प्राजापत्यशास्त्र में ही उपवर्णित है । प्राजापत्यनिष्ठासमन्वित, आत्मस्वरूपबोधपथिक, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य'-भेदेन चतुधा विभक्त, विद्याबुद्धिसमन्वित, उक्थात्मकेन्द्रानुगत वही लोकोत्तर परिपूर्ण लौकिक आत्मिक श्रम 'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी सीमा में शरीर-मन-बुद्धि-तीनों मानवीय प्राकृतिक पर्व प्रकृतिस्थ बने रहते हुए परिपूर्ण हैं । आसमन्तात् (सर्वत -सब ओर से-मण्डलात्मक वृत्त से) रूपेण व्याप्त होने वाला आत्मिक श्रम-ही 'आसमन्तात्-श्रम' निर्वचन से 'आश्रम' है । आत्मबोधोपयिक, अतएव आसमन्तात् व्याप्त रहने वाले सर्वत परिव्याप्त इस आश्रमात्मक आत्मिक श्रम में मानव का आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, चारों स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं । दूसरे शब्दों में-उक्थरूप आत्मा, वैतानिकरूपा बुद्धि, मनोमयरूप शरीरानुगत मन, तीनों मानवीय पर्व जिस आत्मोपयिक श्रम से स्वस्वरूप से स्वस्थ तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं, वही श्रम मानव का 'आश्रम' है, और यही 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य' लक्षण मानव के 'मानवाश्रम' का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है ।

इदमनावधेयं तालिकारूपेण—

(सैषा प्रजानदातश्रममूर्त्तिर्म्मानवस्य आश्रमस्वरूपव्याख्या)

१-शरीरानुगत —भूतप्रधान —मानसिकश्रम एव—श्रम (एकत्र श्रम;-श्रम)
२-मनगर्भित —प्राणप्रधान —बौद्धिकश्रम एव—परिश्रम (परित श्रम-परिश्रम)
३-परिश्रमगर्भित प्रज्ञानप्रधान —आत्मिकश्रम एव-आश्रम (आसमन्तात् श्रम-आश्रम)

——६——

एवं महोद, तीनों अभिधाओं के द्वारा क्रमशः भूतात्मा, बुद्धि, शरीरानुगत मन, ये तीन मानवीय पर्व ही सङ्केतित हैं। मानव का केन्द्रीभूत भूतात्मा ही मानव का 'उक्थ' है, मानव की सौरी बुद्धि ही मानव का 'वैराजिकमण्डल' (रश्मिरूप वितान-मण्डल) है, एवं मानव का शरीरानुगत चान्द्र मन हीं (अशीतिरूप वासना-भावना संस्काररूप आत्मभाव से) मानव का 'महोदनरूप महोद' है। 'मानव' शब्द मानव की मूल अभिधा है, एवं उक्थ-वैराजिक-महोद-ये तीन शब्द मानव शब्द की तूल अभिधाएँ हैं। दूसरे शब्दों में 'मानव' क्या है?, प्रश्न का समाधानव्याख्या ही 'उक्थ-वैराजिक महोद' है। उक्थरूप आत्मपर्व, बुद्धिरूप वैराजिकपर्व, एवं महोद रूप शरीरानुगत मन पर्व, ये जिस स्वरूप में परिपूर्ण रूपेण समसमन्वित रहते हों, वही 'मानव' है। एवंविधि परिपूर्ण मानव की परिपूर्णता का संरक्षण, दूसरे शब्दों में मानव के उक्थ-वैराजिक-महोदरूप पर्वों के सम-समन्वय श्रम-परिश्रम-गर्भिता 'आश्रमनिष्ठा' पर ही अवलम्बित है, जिस कि तात्त्विक स्वरूप की आज के युग में सर्वात्मना अभिभूति ही हो रही है।

शरीरानुगत मानसिक श्रम को ही 'श्रम' कहा गया है। मनोऽनुगत बौद्धिक श्रम को ही 'परिश्रम' माना गया है, एवं मानसिक श्रमगर्भित बौद्धिक परिश्रम का अनुगामी आत्मस्वरूपयोपायिक नैष्ठिक श्रम हीं 'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। शरीराङ्गभावों से समन्वित, इन्द्रियाध्यक्ष मन के द्वारा सञ्चालित रहने वाला श्रम एक प्रकार का शारीरिक श्रम ही है, जिसके आधार पर 'श्रमजीवी' शब्द प्रतिष्ठित है। इस श्रम का अहतात्मक ऐकैक-भावों से ही सम्बन्ध है। अशन-पान-गमन-धावन-भारवहन-आदि आदि एकाङ्गी श्रम ही 'श्रम' है। इसमें बुद्धि का व्यापार सर्वथा तटस्थ बना रहता है। मनोऽनुगत शरीर ही श्रमात्मक श्रम का आधार है। शरीरानुगत, अतएव सर्वथा एकाङ्गी ये मानसिक श्रम जब अपने परिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल में अर्पित हो जाते हैं, तो वैराजिकी बुद्धि का अध्यवसायात्मक श्रम जागरूक हो पड़ता है। यह बौद्धिक श्रम की व्याप्ति क्योंकि शरीर-मन-बुद्धि, तीनों प्रवृत्तियों में समन्वित रहती है। अतएव इस परितः व्याप्त बौद्धिक श्रम को 'परिश्रम' कह दिया गया है। अध्यवसायशील-तत्त्वचिन्तकों का बुद्धयनुगत श्रम [illegible]

उपदृष्टि के आधार पर 'परिश्रम' कहलाया है । ऐसे अध्ययनशील मानव ही 'परिश्रमी' कहलाए हैं । यही 'श्रमजीवी' शरीरमनोधर्म्मा मानव, एवं 'परिश्रमजीवी' बुद्धिधर्म्मा मानव में महान् अन्तर है ।

बुद्ध्यनुगत परिश्रम की सीमा में उक्थरूप मूल आत्मा नहीं आ पाता । अतएव केवल बौद्धिक श्रमात्मक परिश्रम के बल पर ही उक्थ आत्मा की स्वरूपबोधात्मिका अभिव्यक्ति असम्भव है । इस आत्मस्वरूपबोधाभिव्यक्ति के लिए बौद्धिक परिश्रम को सर्वथा निगरूप से उक्थ-आत्मा का ही अनुगामी बना देना अनिवार्य होगा, जिसके प्रकार एकमात्र प्राजापत्यशास्त्र में ही उपवर्णित हैं । प्राजापत्यनिष्ठासमन्वित, आत्मस्वरूपबोधयिक, 'धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य'-भेदेन चतुर्धा विभक्त, विद्याबुद्धिसमन्वित, उक्थात्मकेन्द्रानुगत वही सर्वेश्वर परिपूर्ण लौकिक आत्मिक श्रम 'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी सीमा में शरीर-मन-बुद्धि-तीनों मानवीय प्राकृतिक पर्व प्रकृतिस्थ बने रहते हुए परिपूर्ण हैं । आसमन्तात् (सर्वत -सब ओर से-मण्डलात्मक वृत्त से) सर्वत्र व्याप्त होने वाला आत्मिक श्रम-ही 'आसमन्तात्-श्रम' निर्वचन से 'आश्रम' है । आत्मबोधोपयिक, अतएव आसमन्तात् व्याप्त रहने वाले सर्वत परिव्याप्त इस आश्रमात्मक आत्मिक श्रम में मानव का आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, चारों स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं । दूसरे शब्दों में-उक्थरूप आत्मा, वैराग्निकरूपा बुद्धि, प्रज्ञोरूप शरीरानुगत मन, तीनों मानवीय पर्व जिस आत्मनैष्ठिक श्रम से स्वस्वरूप से स्वस्थ तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं, वही श्रम मानव का 'आश्रम' है, और यही 'मानवोऽक्थवैराग्निकप्रज्ञोग' लक्षण मानव के 'मानवाश्रम' का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है ।

इदमत्रावधेयं तालिकारूपेण—

(सेयं प्रजारदातश्रममूर्त्तिर्मानवस्य आश्रमस्वरूपव्याख्या)

१-शरीरानुगत —भूतप्रधान —मानसिकश्रम एव—श्रम (एकतः श्रमः-श्रम)
२-प्रज्ञानुगत —प्राणप्रधान —बौद्धिकश्रम एव—परिश्रम (परितः श्रम-परिश्रम
३-परिश्रमानुगत प्रज्ञाप्रधान —आत्मिकश्रम एव-आश्रम (आसमन्तात्-श्रम-आश्रम)

——ॐ——

एवं ब्रह्मौद्य, तीनों अभिधाओं के द्वारा क्रमशः भूतात्मा, बुद्धि, शरीरानुगत मन, ये तीन मानवीय पर्व ही सङ्केतित हैं। मानव का केन्द्रीभूत भूतात्मा ही मानव का 'उक्थ' है, मानव की सौरी बुद्धि ही मानव का 'वैराजिकमण्डल' (रश्मिरूप वितान-मण्डल) है, एवं मानव का शरीरानुगत चान्द्र मन ही (अशीतिरूप वासना-भावना संस्काररूप अन्नभाव से) मानव का 'ब्रह्मौदनरूप ब्रह्मौद्य' है। 'मानव' शब्द मानव की मूल अभिधा है, एवं उक्थ-वैराजिक-ब्रह्मौद्य-ये तीन शब्द मानव शब्द की तूल अभिधाएँ हैं। दूसरे शब्दों में 'मानव' क्या है ?, प्रश्न की समाधानव्याख्या ही 'उक्थ वैराजिक-ब्रह्मौद्य' है। उक्थरूप आत्मपर्व, बुद्धिरूप वैराजिकपर्व, एवं ब्रह्मौद्य रूप शरीरानुगत मन-पर्व, ये जिस स्वरूप में परिपूर्ण रूपेण समसमन्वित रहते हों, वही 'मानव' है। एवंविधि परिपूर्ण मानव की परिपूर्णता का संरक्षण, दूसरे शब्दों में मानव के उक्थ-वैराजिक-ब्रह्मौद्यरूप पर्वों का सम-समन्वय श्रम-परिश्रम-गर्भिता 'आश्रमनिष्ठा' पर ही अवलम्बित है, जिसके कि तात्त्विक स्वरूप की आज के युग में सर्वात्मना अभिभूति ही हो रही है।

शरीरानुगत मानसिक श्रम को ही 'श्रम' कहा गया है। मनोऽनुगत बौद्धिक श्रम को ही 'परिश्रम' माना गया है, एवं मानसिक श्रमगर्भित बौद्धिक परिश्रम का अनुगामी आत्मस्वरूपबोधापयिक नैष्ठिक श्रम हीं 'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। शरीराङ्गभावों से समन्वित, इन्द्रियाध्यक्ष मन के द्वारा सञ्चालित रहने वाला श्रम एक प्रकार का शारीरिक श्रम ही है, जिसके आधार पर 'श्रमजीवी' शब्द प्रतिष्ठित है। इस श्रम का अङ्गात्मक एकैक-भावों से ही सम्बन्ध है। अशन-पान-गमन-धावन-भारवहन-आदि आदि एकाङ्गी श्रम ही 'श्रम' है। इसमें बुद्धि का व्यापार सर्वथा तटस्थ बना रहता है। मनोऽनुगत शरीर ही इस श्रमात्मक श्रम का आधार है। शरीरानुगत, अतएव सर्वथा एकाङ्गी देश मानसिक श्रम जब अपने परिमण्डलात्मक वैराजिक मण्डल में अर्पित हो जाता है, तो वैराजिकी बुद्धि का अध्यवसायात्मक श्रम व्यापक हो पड़ता है। इस बौद्धिक श्रम की व्याप्ति क्योंकि शरीर-मन-बुद्धि, तीनों प्रकृतितत्त्वों में सर्वतः रहती है। अतएव इस परितः व्याप्त बौद्धिक श्रम को 'परिश्रम' कह दिया जाता है। अध्ययनशील-तत्त्वचिन्तकों का बुद्ध्यनुगत श्रम [illegible] कहलाता [illegible]

तत्वदृष्टि के आधार पर 'परिश्रम' कहलाया है । ऐसे अध्ययनशील मानव ही 'परिश्रमी' कहलाए हैं । यही 'श्रमजीवी' शरीरमनोधर्म्मा मानव, एव 'परिश्रमजीवी' बुद्धिधर्म्मा मानव में महान् अन्तर है ।

बुद्ध्यनुगत परिश्रम की सीमा में उक्थरूप मूल आत्मा नहीं आ पाता । अतएव केवल बौद्धिक श्रमात्मक परिश्रम के बल पर ही उक्थ आत्मा की स्वरूपबोधात्मिका अभिव्यक्ति असम्भव है । इस आत्मस्वरूपबोधाभिव्यक्ति के लिए बौद्धिक परिश्रम को सर्वथा निष्ठारूप से उक्थ-आत्मा का ही अनुगामी बना देना अनिवार्य्य होगा, जिसके प्रकार एकमात्र प्राजापत्यशास्त्र में ही उपवर्णित है । प्राजापत्यनिष्ठासमन्वित, आत्मस्वरूपबोधोपयिक, 'धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य'-भेदेन चतुर्धा विभक्त, विद्याबुद्धिसमन्वित, उक्थात्मकेन्द्रानुगत वही लोकोत्तर परिपूर्ण लौकिक आत्मिक श्रम 'आश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी सीमा में शरीर-मन-बुद्धि-तीनों मानवीय प्राकृतिक पर्व प्रकृतिस्थ बने रहते हुए परिपूर्ण हैं । आसमन्तात् (सर्वत -सब और से-मण्डलात्मक वृत्त से) रूपेण व्याप्त होने वाला आत्मिक श्रम-ही 'आसमन्तात्-श्रम' निर्वचन से 'आश्रम' है । आत्मबोधोपयिक, अतएव आसमन्तात् व्याप्त रहने वाले सर्वत परिव्याप्त इस आश्रमात्मक आत्मिक श्रम में मानव का आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, चारों स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं । दूसरे शब्दों में-उक्थरूप आत्मा, वैराजिकरूपा बुद्धि, प्रज्ञोदयरूप शरीरानुगत मन, तीनों मानवीय पर्व जिस आत्मोपयिक श्रम से स्वस्वरूप से स्वस्थ तथा प्रकृतिस्थ बने रहते हैं, वही श्रम मानव का 'आश्रम' है, और यही 'मानवोक्थवैराजिकप्रज्ञोदय' लक्षण मानव के 'मानवाश्रम' का तात्विक स्वरूपविश्लेषण है ।

इदमत्रावधेयं तालिकारूपेण—

(सैषा प्रज्ञानदातश्रममूर्त्तेर्म्मानवस्य आश्रमस्वरूपव्याख्या)

१-शरीरानुगतः—भूतप्रधान'—मानसिकश्रम एव—श्रम. (एकतः श्रम,-श्रम')
२-श्रमगर्भित'—प्राणप्रधानः—बौद्धिकश्रम एव—परिश्रम (परित. श्रमः-परिश्रमः)
३-परिश्रमगर्भित प्रज्ञाप्रधान'—आत्मिकश्रम एव-आश्रम'(आसमन्तात्श्रम -आश्रम.)

——❀——

१–प्रवर्ग्यानुगत श्रम (पार्थिव अपानप्राणानुगत–शारीरिश्रम श्रम
२–परिध्यनुगत श्रम (सौर——प्राणप्राणानुगत बौद्धिकश्रम —परिश्रम
३–केन्द्रानुगत श्रम (स्वायम्भुव–व्यानप्राणानुगत—आत्मिकश्रम – आश्रम

——※——

१–अङ्गश्रम –अवयवश्रम –अङ्गाना पुष्टिस्तु हेश्च मन शारीरनिबन्धना श्रमम्ना
*२–कृत्स्नश्रम पूर्णश्रम —एकस्य तृप्ते ——बुद्धिनिबन्धना —परिश्रम मू
३–सर्वश्रम —नैष्कश्रम —सर्वस्य शान्ति ——आत्मनिबन्धना—आश्रममूला

——※——

(१७)–आश्रमारूढ महामानव की महदुक्थनिष्ठा —

जिस मनुउक्थमूत आत्मकेन्द्रबिन्दु को स्वमूलप्रतिष्ठा बना कर मानव वि उक्थवैराजिकब्रह्मौदनसमन्वयलक्षण–शान्ति–तृप्ति तुष्टि पुष्टि–प्रवर्तिका प्राजाप तत्त्वनिष्ठा के माध्यम से आत्मोदयिक सर्वतोमावी श्रम करता है, वही मानव 'आश्रम' है। ऐसे आश्रम में सरूल बन जाने वाला मानवश्रेष्ठ ही 'प्रज्ञावदात श्रममूर्ति' कहलाया है। एवंविधा प्राजापत्या जो महदुक्थनिष्ठा चिरकाल से अन मूल बनी हुई थी, वह उसी मनुप्रजापति की अप्रज्ञाता अलक्षणा–अप्रतर्क्य अनिर्देश्या–सर्वत प्रसुप्ता इव केन्द्रानुगता मनोमयी प्रेरणा के अनुग्रह अनुमानत विगत एक शताब्दी के आरम्भ में एक वैसे ही आश्रमनिष्ठ–प्रज्ञा वदातश्रममूर्ति महामानव के अनवद्य हृदय में स्वयंशान्ति स्वरूप से प्रादुर्भू हो पड़ी, जिसका मूर्त्तस्वरूप एक शताब्दी के अवसानात्मक वर्तमान काल 'श्वेतक्रान्ति' के प्रस्तुत घोषणापत्र के द्वारा विश्वमानव के उद्बोधन के लि अभिव्यक्त होने जा रहा है। प्राजापत्य–महदुक्थ के इस पुनराविर्भाव से सार' उस अलौकिक घटना के लोकस्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में भी दिग्दर्श कराया जा सकता है।

※ एकस्य अरोपना–पूरणता, (परार्थ्यम् 'पूरा') अनेकेषामशेषत सर्वे (सार्व्यम्–'सर्व')

वैज्ञानिकत्रयीविभूतिलक्षण- नित्य- अमूर्त- अलौकिक-अपौरुषेय 'प्राजापत्यमहदुक्थशास्त्र (वेदशास्त्र) की मूर्त भावानुबन्धिनी लोकस्वरूपाभिव्यक्ति के लिए जिस वाङ्मय (शब्दमय) पौरुषेय प्राजापत्यवेदशास्त्र का अतीतानागतज्ञ, जितेन्द्रिय, अधिगतयाथातथ्य तपःपूत महामहर्षियों के हृदय अनवद्य अन्तःकरणों में स्वयम्भूप्रजापति की प्रेरणा से आविर्भाव हुआ था, वह विगत महाकालावधि के अन्तराल में मुक्त तथा प्रक्रान्त पूर्वोक्तवर्णित नवग्रहग्राहात्मक सीमित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण दुर्भाग्यवश अन्तर्मुख ही बन गया था।

प्राजापत्यशास्त्र के प्रथमद्रष्टा, तथा स्रष्टा वेदमूर्ति भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा के प्रभावगुण से समन्वित सुप्रसिद्ध पुष्करतीर्थ-क्षेत्र को अपनी संस्कृति का केन्द्र बनाए रखने वाले महामहिमान्वित महद्भाग्यशाली 'राजस्थान' के महत्सौभाग्य से सुप्रसिद्ध संस्कृतिभूमि विहारप्रान्त (मिथिला प्रान्तीय-गादाग्राम) में एक ऐसी प्रतिभा अभिव्यक्त हो पड़ी, जिसके प्रातिभ महदुक्थस्वरूप की अभिव्यक्ति का महान् गौरव उस भाग्यशाली सांस्कृतिक नगर को ही प्राप्त हुआ, जिस सुप्रसिद्ध जयरत्नाभिध जयनगर (जयपुर) से सभी भारतीय आज मानव सुपरिचित हैं, जिसके कि मूर्त भौतिक स्वरूप का आविर्भाव आज से अनुमानतः २०० वर्ष पूर्व स्व० श्रीजयसिंह नृपतिवर नामक उन वैसे महामानव के द्वारा हुआ था, जिन नृपतिवर की प्राजापत्यमहदुक्थानुगता निगमसम्मिद्धा 'अश्वमेधयज्ञगाथा आज भी भारतजनमानस का ध्यान बलात् अपनी ओर आकर्षित कर रही है, एवं जिसे कि गणतन्त्रशासनात्मक प्रक्रान्त प्रान्तीय शासन युग में राजस्थान की राजधानी बन जाने का गौरव प्राप्त है।

महान् निगमनिष्ठ धर्मपरायण उन नृपतिवर के द्वारा सम्पादित, भगवान् ब्रह्मा के वेदात्मक पुष्करक्षेत्र की निकटता में संप्रतिष्ठित राजस्थान के [illegible] जयनगर को ही तो प्राजापत्य महदुक्थ की प्रतिष्ठा-प्रसार का केन्द्र बनना था, यदि तो वह [illegible] बनना था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जैसा ही हुआ, वही हुआ। मिथिलान्तर्गत गादाग्राम में [illegible] [illegible] के प्रसाद, तथा [illegible] [illegible] वाली उन महामहिमान्वित मधुसूदन

१-मनोयानुगत श्रम (पार्थिव अपानप्राणानुगत शारीरिकश्रम श्रम
२-परिध्यनुगत श्रम (सौर——प्राणप्राणानुगत बौद्धिकश्रम —परिश्रम
३-केन्द्रानुगत श्रम (स्वायम्भुव-व्यानप्राणानुगत —आत्मिकश्रम — आश्रम

—— ❀ ——

१-अङ्गश्रम -अवयवश्रम -अङ्गाना पुष्टिस्तुष्टिश्च-मन शरीरनिबन्धना श्रमप्रा
*२-कृत्स्नश्रम -पूर्णश्रम — एकस्य तृप्ति ——बुद्धिनिबन्धना ——परिश्रम
३-सर्वश्रम —नैष्ठिकश्रम —सर्वस्य शान्ति ——आत्मनिबन्धना—आश्रमनु

—— ❀ ——

(१७)-आश्रमारूढ महामानव की महदुक्थनिष्ठा —

जिस मनुरुक्थमूर्त आत्मकेन्द्रबिन्दु को स्वमूलप्रतिष्ठा बना कर मानव टक्थवैराजिकब्रह्मोदनसमन्वयलक्षण-शान्ति-तृप्ति तुष्टि पुष्टि-प्रवर्त्तिका प्राजापत्य तत्त्वनिष्ठा के माध्यम से आमोदयिक सर्वतोभावी श्रम करता है, वही मानव 'आश्रम' है। ऐसे आश्रम में सफल बन जाने वाला मानवश्रेष्ठ ही 'ब्रह्मविदा श्रममूर्त्ति कहलाया है। एवंविधा प्राजापत्या जो महदुक्थनिष्ठा चिरकाल से अ सुप्त बनी हुई थी, वह उसी मनुप्रजापति का अप्रज्ञाता अलक्षणा-अप्रतर्क्य अनिर्देश्या-सर्वत प्रसुप्ता इव केन्द्रानुगता मनोमयी प्रेरणा के अनुग्रह अनुमानत विगत एक शताब्दी के आरम्भ में एक वैसे ही आश्रमनिष्ठ-प्रश वनातश्रममूर्त्ति महामानव के अनवद्य हृदय में स्वयम्भूयानि स्वरूप से प्रादुर्भू हो पड़ी, जिसका मूर्त्तस्वरूप एक शताब्दी के अवसानात्मक वर्त्तमान काल 'श्वेतक्रान्ति' के प्रस्तुत घोषणापत्र के द्वारा विश्वमानव के उद्बोधन के लि अभिव्यक्त होने जा रहा है। प्राजापत्य-महदुक्थ के इस पुनराविर्भाव से सम्ब उस अलौकिक घटना के लोकस्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में यों दिग्द कराया जा सकता है।

❀ एकस्य अशेषता-कृत्स्नता, (कार्त्स्न्यम् 'पूरा') । अनेकेषामशेषत सर्व (सार्व्यम्-'सब')

वैराग्निकविद्योविभूतिलक्षण--नित्य--अमूर्त--अलौकिक--अपौरुषेय 'प्राजापत्यमहदुक्थशास्त्र' (वेदशास्त्र) की मूर्तभावानुबन्धिनी लोकस्वरूपाभिव्यक्ति के लिए जिस वाङ्मय (शब्दमय) पौरुषेय प्राजापत्यवेदशास्त्र का अतीतानागतज्ञ, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य तप:पूत महामहर्षियों के हृदय अनवद्य अन्त:-करणों में स्वयम्भूप्रजापति की प्रेरणा से आविर्भाव हुआ था, वह विगत महा-कालावधि के अन्तराल से मुक्त तथा प्रक्रान्त पूर्वोपवर्णित नवग्रहग्राहात्मक सीमित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण दुर्भाग्यवश अन्तर्मुख ही बन गया था।

प्राजापत्यशास्त्र के प्रथमद्रष्टा, तथा स्रष्टा वेदमूर्ति भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा के प्रसादगुण से समन्वित सुप्रसिद्ध पुष्करतीर्थ-क्षेत्र को अपनी संस्कृति का केन्द्र बनाए रखने वाले महामहिमान्वित महद्भाग्यशाली 'राजस्थान' के महत्सौभाग्य से सुप्रसिद्ध सांस्कृतिकभूमि विहारप्रान्त (मिथिला प्रान्तीय-गाढाग्राम) में एक ऐसी प्रतिमा अभिव्यक्त हो पड़ी, जिसके प्रातिभ महदुक्थस्वरूप की अभिव्यक्ति का महान् गौरव उस भाग्यशाली सांस्कृतिक नगर को ही प्राप्त हुआ, जिस सुप्र-सिद्ध जयरत्नाभिध जयनगर (जयपुर) से सभी भारतीय आर्य मानव सुपरिचित हैं, जिसके कि मूर्त भौतिक स्वरूप का आविर्भाव आज से अनुमानत, २०० वर्ष पूर्व स्व० श्रीजयसिंह नृपतिवर नामक उन वैसे महामानव के द्वारा हुआ था, जिन नृपतिवर की प्राजापत्यमहदुक्थानुगता निगमससिद्धा 'अश्वमेधयज्ञगाथा' आज भी आर्यजनमानस का ध्यान बलात् अपनी ओर आकर्षित कर रही है, एवं जिसे कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मक प्रक्रान्त प्रान्तीय शासन युग में राजस्थान की राज-धानी बन जाने का गौरव प्राप्त है।

महान् निगमनिष्ठ वेदपथानुवर्ती उन नृपतिवर के द्वारा सम्थापित, भगवान् ब्रह्मा के वेदात्मक पुष्करक्षेत्र को निगमसंस्कृति से अनुप्राणित राजस्थान के मूर्धन्य जयनगर को ही तो प्राजापत्य महदुक्थ की प्रतिमा-प्रसार का केन्द्र बनना था, वही तो केन्द्र बन सकता था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वैसा ही हुआ, यही हुआ। मिथिलान्तर्गत गाढाग्राम में शरीरत: अभिव्यक्त, वाराणसी में मनन, तथा जयपुर अभिव्यक्त होने वाली उस महामहिमान्विता मधुसूदन-

विभूति ने अपनी स्वरूपानुगता आत्माभिव्यक्तित्वमूला प्राजापत्यमहदुक्थनिधि का तन्तुवितान वैराजिकमानसमतुलिता विराट्छन्द * से छन्दिता विराट्कालावधि में (चालीस वर्षों के नैष्ठिक अध्ययनसायात्मक आश्रमात्मक तपोऽनुष्ठान के द्वारा) इस नैगमिक–पावन–भूमि–जयपुरक्षेत्र में ही किया, जैसा कि निम्न लिखिता लोके-तिवृत्तात्मिका सूक्तियों से स्पष्ट है–

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः ॥
राज्ञा श्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदयः ।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरुवे नित्यं प्रणामोदयः ॥१॥
वेदग्रन्थविमन्थनप्रतिफलप्रज्ञावदाताश्रमः—
श्रीमान्यो मधुसूदनः समभवद् वेदार्थबोधक्षमः ॥
वेदार्थप्रतिपत्तिशून्यमनसां विज्ञानशिक्षाक्रम—
श्रद्धार्थं कृत एव संशयसमुद्धारोऽमुनाऽत्युत्तमः ॥२॥
यज्ञेतिहासस्तुतिभिः स वेदान् विज्ञानतश्च प्रविभज्य तेषु ॥
विज्ञानभेदान् दश देवलोके पुरा प्रसिद्धान् यततेऽभिनेतुम् ॥३॥
—संशयतदुच्छेदवादे
यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना–यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तय–स्तन्ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥

उक्तवैराजिकरहस्योद्घाटक वेदविद्यावतार वेदवाचस्पति समीक्षाचक्रवर्ती परम-श्रद्धेय स्व० श्री श्रीमधुसूदनआचार्य्यचरणाभिध स्वज्योति स्तम्भ उस महा-

* 'चत्वारिंशदक्षरा वै विराट्' (श्रुतिः)। विराट्छन्द ४० चालीस अक्षरों का होता है।

पुरुष ने ईश्वरप्रदत्त सहज प्रतिभा के बल पर महदुक्थस्वरूप, अतएव परिपूर्ण प्राजापत्यवेदशास्त्र का विराट्कालवधिपर्य्यन्त प्रशान्त रहने वाली आश्रमनिष्ठा से अन्तस्तलपर्य्यन्त निखनन * कर तद्द्वारा अद्भुत अश्रुतपूर्व लोकोत्तर उस पौराणिक तत्त्ववाद का पुनराविर्भाव कर ही तो डाला, जिसके माध्यम से उक्त महापुरुष के आविर्भावकाल से अनुमानतः एक शताब्दी के अव्यवहितोत्तरकाल में ही 'अग्निजागार' मूला प्राजापत्या आर्षनिष्ठा के उपोद्बलक विश्वमानवोद्बोधन के लिए श्वेतक्रान्ति का महान् सदेश समुपस्थित होनेवाला था, जिस 'श्वेतक्रान्ति-सदेश' का प्रथम बार पाँच सहस्रवर्ष पूर्व घटित होने वाली रक्तक्रान्ति के आरम्भ में भगवान् मधुसूदन वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा शङ्खध्वनिपूर्वक निनाद हुआ था, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥
—गीता

"सवर्ग-परिमर-पर्य्यङ्क-अभिप्लव-उद्गीथ-श्वेतनौधस-पृष्ठय-उक्थ-अर्क-अशीति-छन्दोमा-पारावत-वषट्कार-गायत्री-सावित्री-अदिति-दिति-सागराम्बरा-मही-विश्वव्यचा-प्रणव हिङ्कार-मह-स्तोम-उषा-निधन हिङ्कार-आम्भृणी इन्द्र वरुण-मातरिश्वा-नामानेदिष्ठ-वालखिल्य-वृषाकपि-मातरिश्वा एमूष अर्णव-सरवस्वान्"-आदि आदि सहस्रों शब्दों की रहस्यापूर्णा जो अर्थ-गरिमा, जो वैज्ञानिक समन्वय सहस्राब्दियों से परोक्ष था, वह उक्त महापुरुष के द्वारा गद्य-पद्यात्मिका संस्कृतभाषा में स्वतन्त्र मौलिक २८८ दोसौ अट्ठासी ग्रन्थों में उपनिबद्ध हुआ, जिस इस प्राजापत्या विज्ञाननिधि को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सर्वाधिक महत्त्वानुगता अमूल्यनिधि माना जा सकता है। यदि हमारे आज के

* ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो अद्य तद्विद्या यत्र निर्वपणं दधुः ॥
—श्रुतिः

विभूति ने अपनी स्वरूपानुगता आत्माभिव्यक्तित्वमूला प्राजापत्यमहद्ब्रह्मनिधि का तन्तुवितान वैराजिक भावसमतुलिता विराट्छन्द * से छन्दिता विराट्कालावधि में (चालीस वर्षों के नैष्ठिक अध्यवसायात्मक आश्रमात्मक तपोऽनुष्ठान के द्वारा) इस नैगमिक-पावन-भूमि-जयपुरक्षेत्र में ही किया, जैसा कि निम्न लिखित लोकेतिवृत्तात्मिका सूक्तियों से स्पष्ट है–

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः।
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः॥
राज्ञा श्रीत्युदयाद्भूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदयः।
विद्वस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥१॥
वेदग्रन्थविमन्थनप्रतिफलप्रज्ञावदाताश्रमः—
श्रीमान्यो मधुसूदनः समभवद् वेदार्थबोधक्षमः॥
वेदार्थप्रतिपत्तिशून्यमनसां विज्ञानशिक्षाक्रम—
श्रद्धार्थं कृत एष संशयसमुद्धारोऽमुनाऽत्युत्तमः ॥२॥
यज्ञेतिहासस्तुतिभिः स वेदान् विज्ञानतश्च प्रविभज्य तेषु ॥
विज्ञानभेदान् दश देवलोके पुरा प्रसिद्धान् यततेऽभिनेतुम् ॥३॥
—सशयतदुच्छेदवादे
यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना-यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तय-स्तज्ञ्ञानविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥

उक्तवैराजिकरहस्योद्घाटक वेदविद्यावतार वेदवाचस्पति समीक्षाचक्रवर्ती परम श्रद्धेय स्व० श्री श्रीमधुसूदन आचार्य्यचरणाभिध स्वज्योति स्वरूप उस महा-

---

* 'चत्वारिंशदक्षरा वै विराट्' (श्रुति)। विराट्छन्द ४० चालीस अक्षरों का होता है।

दुक्थसिद्धान्तानुसार हमारे मानवाश्रमनिबन्धन महदुक्थकेन्द्र को ही आप्यायित कर रहा है। भारतीय आर्षतत्त्ववाद के ज्ञान-विज्ञानात्मक स्वरूपविश्लेषण के लिए लोक-समहबुद्धि से मध्यस्थीकृत विविध मूलग्रन्थों के व्याज से अबतक जो साहित्य निर्मित हो चुका है, उसका विशद स्वरूपपरिचय अन्यत्र प्रकाशित है *। प्रकृत में उस राष्ट्रीय ग्रन्थमाला का तालिकामात्रमाध्यम से दिग्दर्शन ही करा दिया जाता है।

अद्यावधि विनिर्म्मित ग्रन्थ-तालिका—

ग्रन्थनाम	पृष्ठसंख्या
१—शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य	१८०००
२—ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्ड	५००
३— " द्वितीयखण्ड	५००
४—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड	५००
५—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड	५००
६— " तृतीयखण्ड	५००
७—केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य	५००
८—कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य	६००
९—प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य	५००
१०—मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य	५००
११—माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य	३०
१२—तैत्तिरीयोपनिषद्विज्ञानभाष्य	४०
१३—ऐतरेयोपनिषद्विज्ञानभाष्य	५०
१४—छान्दोग्योपनिषद्विज्ञानभाष्य	१००
१५—मैत्रायण्युपनिषद्विज्ञानभाष्य	४०
१६—कौषीतक्युपनिषद्विज्ञानभाष्य	४०

* देखिये—'प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थसूची, एवं तत्परिचय'।

राष्ट्रीय सत्ताप्राङ्गण में एक भी वैसा महाप्राण सास्कृतिक आर्य व्यक्ति होगा, जिसे कि कभी घुणाक्षरन्याय-से भी इस मूलनिधि का अशत भी परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा, तो अवश्य ही वह प्रकान्त समस्त आवश्यक योजनाओं में इसी योजना को प्रमुख स्थान दिलवाने के लिए बद्धपरिक हो जायगा, जिसके कि अन्वेषण में विगत वर्षों से हम प्रयत्नशील हैं।

(१८)-महामानव के अन्तेवासी-द्वारा महदुक्थविद्या का राष्ट्रीयकरण-

तथोपस्तुत-उपवर्णित-महामानव के पावन चरणों के अन्तेवासित्वरूप महद्भाग्य से अशीतिरूपेण आबद्ध इस भारतीय मुक्तककारमा के श्वेतक्रान्तिबीजसमन्वित मानस-क्षेत्र में अनुमानतः आज से २० वर्ष पूर्व यह आकूती जागरूक हो पड़ी कि,-'जबतक इस आर्ष-प्राजापत्य महदुक्थतत्त्व को राष्ट्रीय जन मानस के लोकानुगत अन्तस्तल से समन्वित नहीं कर दिया जायगा, तबतक राष्ट्र की इस नवजागरणवेला में राष्ट्रीय जनका का इस दिशा में उद्बोधन सम्भव न बन सकेगा। अतएव आवश्यक है कि, श्वेतक्रान्तिमूला स्वतन्त्रविचारधारा के माध्यम से उस प्राजापत्यसदेश का राष्ट्रभाषा हिन्दी (हिन्दुस्तानी' नाम से प्रसिद्ध सर्वथा भावुकतापूर्णा राष्ट्रभाषा में नहीं) में राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय'' । आकूतीपूर्ण तत्-मानस सकल्प को मूर्त्तरूप में परिणत कर देने की कामना से ही भविष्य के लिए सकल्पित श्वेतक्रान्ति के महान् सन्देश के शिलान्यास के रूप में तीस वर्ष पूर्व ही वह राष्ट्रीयकरण प्रकान्त बना, जो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' सिद्धान्तानुसार जरामर्य्यसत्रवत् अनवच्छिन्नरूप से अद्यावधि भी 'याथातथ्यतोऽर्थान्-व्यदधात्-शाश्वतीभ्य समाभ्य' रूपेण यथापूर्व प्रकान्त है।

श्वेतक्रान्तिमूला तथाकथिता नूतना, नहीं-नहीं-अतिपुरातना-परम्परासिद्धा उस प्रक्रान्ति के द्वारा राष्ट्रभाषा विशुद्धा हिन्दी में उपनिबद्ध यह स्वतन्त्र वाङ्मय राष्ट्रीय साहित्य अद्यावधि अनुमानतः अशीतिसहस्रपृष्ठात्मक (अस्सीसहस्रपृष्ठात्मक) भक्तकलेवर से समन्वित होता हुआ-'अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यते' इस मह-

४५—	,,	बुद्धियोगाविरोधिकर्म्मज्ञानोपादेयत्वोपनिषद्विज्ञान	४००
४६—	,,	बुद्धियोगस्योभयात्मकत्वप्रतिपादनत्वोपनिषद्विज्ञान	४००
४७—	,,	बुद्धियोगसाधनकर्म्मयोगोपादेयत्वोपनिषद्विज्ञान	४००
४८—	,,	कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान	४००
४९—	,,	प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
५०—	,	ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
५१—	,	ईश्वरस्वरूपविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
५२—	,,	ईश्वरीययोगविभूतिविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
५३—	,,	ईश्वरोपासनविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४०
५४—	,,	पञ्चविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४०
५५—	,,	त्रैगुण्यविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४०
५६—	,,	अश्वत्थविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४०
५७—	,,	देवासुरसम्पत्तियुक्तभूतसर्गोपनिषद्विज्ञान	४०
५८—	,,	गुणकर्म्मप्रचयोपनिषद्विज्ञान	४०
५९—	,,	श्रद्धात्रयकर्म्मोपनिषद्विज्ञान	४०
६०—	,	मन्त्रमूलविदेहोपनिषद्विज्ञान	४०
६१—	,	गीतानुगता राजर्षिविद्या	४०
६२—	,,	गीतानुगता सिद्धविद्या	४०
६३—	,,	गीतानुगता राजविद्या	४०
६४—	,,	गीतानुगता आर्षविद्या	४०
६५—	,	चातुर्विध्यसारोद्धारोपनिषद्विज्ञान	३०
६६—	,	गीताफलश्रुत्युपनिषद्विज्ञान	२०
६७—शैवदर्शनविद्यात्मिका		आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत् १ खण्ड	६०
६८—	,	शिवस्वरूपविज्ञानोपनिषत् २ खण्ड	६०
६९—	,,	सापेक्षत्वविज्ञानोपनिषत् ३ खण्ड ...	६०
७०—	,,	आत्मविज्ञानोपनिषत् ४ खण्ड	६
७१—पुराणरहस्य प्रथमखण्ड			५
७२—पुराणरहस्य द्वितीयखण्ड		...	५
			५

१७—श्वेताश्वतरोपनिषद्विज्ञानभाष्य ४००
१८—बृहज्जाबालोपनिषद्विज्ञानभाष्य ४००
१९—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षा–प्रथमखण्ड ... ६००
२०— ,, आत्मपरीक्षा १ खण्ड 'क' विभाग ... ५००
२१— ,, ब्रह्मकर्मपरीक्षा ,, 'ख' विभाग ... ६००
२२— ,, कार्म्मयोगपरीक्षा ,, 'ग' विभाग ... ६००
२३— ,, ज्ञानयोगपरीक्षा ,, 'घ' विभाग ... ५००
२४— ,, भक्तियोगपरीक्षा सर्वान्तिरतम्परीक्षात्मकपूर्वखण्ड 'क' ७००
२५— ,, ,, ,, उत्तरखण्ड 'ख' ७००
२६— ,, बुद्धियोगपरीक्षा ,, पूर्वखण्ड 'ग' ७००
२७— ,, ,, ,, उत्तरखण्ड 'घ' ७००
२८—गीताकृष्णरहस्य ४००
२९—परात्परकृष्णरहस्य ४००
३०—पुरुषकृष्णरहस्य ४००
३१—सत्यकृष्णरहस्य ४००
३२—ईश्वरकृष्णरहस्य ४००
३३—प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य ४००
३४—ज्योति.कृष्णरहस्य ४००
३५—परमेष्ठीकृष्णरहस्य ४००
३६—वैहायसकृष्णरहस्य ४००
३७—पार्थिककृष्णरहस्य ४००
३८—मानुषोत्तमकृष्णरहस्य ५००
३९—मूलभाष्यानुगत ऐतिहासिकगीता ३००
४०—मूलभाष्यानुगत कर्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान ... ४००
४१— ,, नित्यकर्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान ... ३००
४२— ,, बुद्धियोगविरोधिकर्मत्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान ३००
४३— ,, भगवन्मतसिद्धसनातनस्वोपनिषद्विज्ञान ... ३००
४४— ,, लोकस्वोपनिषद्विज्ञान ... ...

आगवाहिकरूपेण प्रशान्त रहने वाले, वितत होने वाले वैराजिक वितान (प्रचार) के परिणामस्वरूप सवमान्य जनमानस का ध्यान सो अपनी इस विस्मृतप्राया उभयनिधि' की ओर आकर्षित हुआ ही। इसके साथ साथ ही प्रतीच्यविचारानुगामी, तथा प्राच्यविचारानुगामी एतद्देशीय उभयविध मान्य विद्वानों ने भी इस आचार समन्वित नैष्ठिक वैराजिक तत्त्ववाद की अनिवार्य्य उपयोगिता, तथा इसकी स्वाध्याय-परम्परा की पुन. जागरूकता का अपने व्याख्यानप्रसङ्ग मे प्रबल समर्थन किया *।

सम्प्रदायवादाभिनिवेश से सर्वथा असंस्पृष्ट, विशुद्ध मानवीय धरातलपर वितत इस वैराजिक वितान में हमें प्रज्ञाशील विद्वानों के साथ साथ सभी मतवादों सम्प्रदायों, राजनैतिकों, तथा समाजसुधारकों का निर्व्याज सहयोग भी उपलब्ध होता रहा। सभी ने यह अनुभव किया कि, सचमुच भारतवर्ष का इसप्रकार का मूलसंस्कृति-निबन्धन सांस्कृतिक ऐक्य ही भारतवर्ष को अपने अतीत गौरव का अनुगामी बना सकता है, जिसमें मानवमात्र के निर्विरोध समन्वय के बीज सुरक्षित हैं। 'स्वस्वरूप-संरक्षणपूर्वक लोकसंग्रह' को लक्ष्य बनाने वाले इस वैराजिक-वितान के ही उदर्क-स्वरूप वैसे अनेक मानवश्रेष्ठों का उत्थकेन्द्र परिवर्तित हुआ, जो इससे पूर्व अपनी इस विराट् निधि के नाममात्र-श्रवण से भी उद्विग्न हो पड़ते थे। उस महारम्भ वितानकाल में हीं हमने यह अनुभव कर लिया कि, शताब्दियों से परचक्रों से चक्रम्यमाण रहती हुई भी एतद्देशीया मानवप्रजा अद्यावधि भी अपने केन्द्रीभूत मूल महदुक्थ से सर्वथा सुरक्षित ही बनी हुई है। आवश्यकता है इस सहज प्रज्ञा को वैराजिक-वितानात्मक-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष-अजस्र प्रचार के द्वारा समुत्तेजित करते रहने की। अवश्य ही महारम्भमाप्य इस महान् कर्त्तव्य का उत्तरदायित्व साधनसम्पन्न महाशालों से ही सम्बद्ध है, सर्वोपरि सम्बद्ध है उस सत्तातन्त्र से, जो अपनी उदात्त घोषणाओं के माध्यम से आज 'राष्ट्रीयस्वातन्त्र्य' के प्रगतिपथ पर आरूढ है।

---

* आज से अनुमानतः पन्द्रह वर्ष पूर्व कलिकाता के वितानसहयोगी सहज सौम्य श्रीवेणीशङ्करजी शर्म्मा, तथा श्री गङ्गाप्रसादजी भोतिका के प्रयास से उभयनिष्ठ विद्वानों का तत्समर्थन, एवं अन्य साम्यिक समर्थन विद्वानों की सम्मतियाँ नाम से कलकत्ता में ही सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था, जो स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित है।

---

(१६)–मुक्तरक्तद्वारा श्वेतक्रान्तिमूला उक्थविद्या का वैराजिक वितान–

आज से अनुमानतः २० वर्ष पूर्व उक्थवैराजिकप्राजापत्यतत्त्ववाद की ग्रन्थनिर्म्माणप्रक्रान्ति के साथ साथ ही राष्ट्रीय जनमानस का ध्यान इस 'राष्ट्रीकरण' की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से निरन्तर दस वर्ष पर्य्यन्त प्रचार-यात्राओं के माध्यम से उक्थविद्या का वैराजिक वितान हुआ । विद्याक्षेत्र वाराणसी, कालिकाक्षेत्र कलिकाता, वैष्णवीक्षेत्र (कमलाक्षेत्र) मोहमयी (मुम्बई), प्राच्यसंस्कृतिभावुकतासरक्षकक्षेत्र दक्षिणभारत, ब्रह्मक्षेत्र प्रयाग, एव ओङ्कारक्षेत्र मध्यप्रान्त, आदि आदि विविध क्षेत्रोपक्षेत्रो में अनेक मासपर्य्यन्त

✽—ग्रन्थ-कोड़पत्रात्मक साहित्य-प्रकान्त-अनेक सहस्र पृष्ठ मत्र

प्रावाहिकरूपेण प्रक्रान्त रहने वाले, वितत होने वाले वैराजिक वितान (प्रचार) के परिणामस्वरूप सर्वसामान्य जनमानस का ध्यान तो अपनी इस विस्मृतप्राय 'उभयनिधि' की ओर आकर्षित हुआ ही। इसके साथ साथ ही प्रतीच्यविचारानुगामी, तथा प्राच्यविचारानुगामी एतद्देशीय उभयविध मान्य विद्वानों ने भी इस आचार समन्वित नैष्ठिक वैराजिक तत्त्ववाद की अनिवार्य्य उपयोगिता, तथा इससे स्वाध्याय-परम्परा की पुनः जागरूकता का अपने व्याख्यानप्राण में प्रबल समर्थन किया * ।

सम्प्रदायवादाभिनिवेश से सर्वथा असंस्पृष्ट, विशुद्ध मानवीय धरातलपर वितत इस वैराजिक वितान में हमें प्रज्ञाशील विद्वानों के साथ साथ सभी मतवादों-सम्प्रदायों, राजनैतिकों, तथा समाजसुधारकों का निर्व्याज सहयोग भी उपलब्ध होता रहा। सभी ने यह अनुभव किया कि, सचमुच भारतवर्ष का इसप्रकार का मूलसंस्कृति-निबन्धन सांस्कृतिक ऐक्य ही भारतवर्ष को अपने अतीत गौरव का अनुगामी बना सकता है, जिसमें मानवमात्र के निर्विरोध समन्वय के बीज सुरक्षित हैं। 'स्वस्वरूप-संरक्षणपूर्वक लोकसंग्रह' को लक्ष्य बनाने वाले इस वैराजिक-वितान के ही उदर्क-स्वरूप वैसे अनेक मानवश्रेष्ठों का हृदयकेन्द्र परिवर्तित हुआ, जो इससे पूर्व अपनी इस विराट् निधि के नाममात्र-श्रवण से भी उद्विग्न हो पड़ते थे। उस महारम्भ वितानकाल में ही हमने यह अनुभव कर लिया कि, शताब्दियों से परचक्रों से चक्रम्यमाण रहती हुई भी एतद्देशीया मानवप्रज्ञा अद्यावधि भी अपने केन्द्रीभूत मूल सद्रूप से सर्वथा सुरक्षित ही बनी हुई है। आवश्यकता है इस सहज प्रज्ञा को वैराजिक-वितानात्मक-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष-अजस्र प्रचार के द्वारा समुत्तेजित करते रहने की। अवश्य ही महारम्भसाध्य इस महान् कर्त्तव्य का उत्तरदायित्व साधनसम्पन्न महाशयों से ही सम्बद्ध है, सर्वोपरि सम्बद्ध है उस प्रजातन्त्र से, जो अपनी उदात्त घोषणाओं के माध्यम से आज 'राष्ट्रीयस्वातन्त्र्य' के प्रगतिपथ पर आरूढ है।

* आज से अनुमानतः पन्द्रह वर्ष पूर्व कलिकाता के वितानसदस्य श्री सहृदयश्रेष्ठ श्रीवेणीशङ्करजी शर्म्मा, तथा श्री गङ्गाप्रसादजी भरतिया के प्रयास से उपस्थित विद्वानों का शुभसमर्थन, एवं अन्य सामयिक समर्थक विद्वानों की सम्मतियाँ' नाम से कलकत्ता में ही सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था, जो स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित है।

(२०)–वैराजिकवितानानुगत मानवीयाश्वत्थवैराजिकब्रह्मौदन का आतान–

(मानवाश्रम का अश्मावरणात्मक शिलान्यास)

आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर, इन चारों मानवीय स्वरूपपर्वों के समसमन्वय की आधारभूता मानवीयवैराजिकब्रह्मौदनमूला प्राजापत्यनिष्ठा के प्रतीकरूप पूर्वप्रदर्शित 'मानवाश्रम' के व्यावहारिक स्वरूप की अभिव्यक्ति-कामना से आज से अनुमानतः ६ वर्ष पूर्व मौतिक संस्थानात्मक एक वैसे मूर्त्त संस्थान का सङ्कल्प जागरूक हो पड़ा, जिसमें मानवीय आत्मा के उक्थस्वरूप-चिन्तन के साथ साथ बुद्ध्यनुगत वैराजिक तत्त्वाचार, शरीरानुगत मानसिक ब्रह्मौदन भूताचार, दोनों का भी सहसमन्वय प्रक्रान्त हो। सहजभावानुसार जिसमें मानवीय आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, चारों पर्वों की शान्ति-तृप्ति-पुष्टि के प्रवर्त्तक-प्रवर्द्धक तत्तत्सम्मत आचारात्मक कर्त्तव्य व्यवस्थित हों। इसी महान् सङ्कल्प को मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए आज से ६ वर्ष पूर्व अपने ब्रह्मौदनात्मक (पैत्रिक) समस्त साधनपरिग्रह के सर्वस्व-समर्पण-माध्यम से 'मानवाश्रम' नामक मौतिक संस्थान का शिलान्यास हुआ।

अपने ही ब्रह्मौदन की सर्वाहुति से मानवाश्रमरूप भौतिक 'उक्थ' तो आविर्भूत हो गया, किन्तु अनुरूप अशीतियों की अनुपलब्धि के कारण अद्यावधि भी सङ्कल्पानुसार इस उक्थ का आप्यायन न हो सका। यही नहीं, ब्रह्मौदन, तथा प्रवर्ग्य की रहस्यपूर्ण परिभाषा को विस्मृत कर देने वाले आज के अमुक युगमानवों ने इस 'मानवाश्रम-उक्थ' को आप्यायित करने के व्याज से इसे अपनी अशीति ही बनाने की आतुरता अभिव्यक्त की। यद्यपि हमारी जागरूकता से तादृश युगधर्माक्रान्त मानव अपने उस प्रयास में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके। तथापि स्वयं हमारी शारीरिक क्षति, तथा मानसिक क्षति अवश्य ही इस संघर्ष ने अशमर्मात्मवत् सुरक्षित बना डाली, जिसे अब हमने अपनी प्राजापत्यवेदसेवा का पुरस्कार ही मान लिया है।

व्यावसायिक-व्यावहारिक-लोकतान्त्रिक-भूतमौतिक-क्षेत्रात्मक संस्थानों के सम्बन्ध में लोकमानव किस प्रकार के सविधान अपेक्षित मानते हैं !, प्रश्न के समाधान से तो हम अपरिचित हैं, एवं अपरिचित ही रहना चाहते हैं। हाँ, जहाँ-

क 'सांस्कृतिक प्रज्ञाक्षेत्र' का सम्बन्ध है, वहां तक प्रशान्त रहने वाले संविधान ने सांस्कृतिक 'अर्द्धोदनोक्थवैराजिक' रूप प्राकृतिक विधानों को ही अपनी आधार-भूमि बनाते आए हैं आरम्भ से ही। इनके सम्बन्ध में लोकतान्त्रिकों की लोक-प्रज्ञा से अनुप्राणित लौकिक भौतिक विधिविधानों का प्रवेश तो सर्वथा निषिद्ध ही होता रहा है न्यूनतम इस संस्कृतिनिष्ठ भारतवर्षमें तो अवश्य ही।

विगत कतिपय शताब्दियों से एतद्देशीय सांस्कृतिक संस्थान जिस यातयामता के लक्ष्य बनते आ रहे हैं, उसी का यह दुष्परिणाम है कि, कमलाविलासमदोन्मत्त ऐश्वर्यशाली नृपतियों के द्वारा, तथा वित्तैषणानिमग्न अर्थलिप्सु लोकैषणामात्र-कामुक सम्पन्न श्रेष्ठियों के द्वारा क्रीतदासवत् समतुलित बने रहने वाले संस्कृतिनिष्ठों के दासभावानुगत परतन्त्र मस्तिष्कों से जिस संस्कृति, एवं साहित्यका सर्जन हुआ है, उसमें सर्वत्र हीनग्रन्थियां ही समाविष्ट रहीं हैं। परगुणश्लाघामात्र से वाचयमाः बने रहने वाले एतद्देशीय सांस्कृतिक विद्वानों से जो संस्कृति, जो साहित्य इस देश के जनमानस को दायादरूप में उपलब्ध हुआ है, उसने मानव की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रतामूला सहज आत्मनिष्ठा का उत्तरोत्तर अभिभव ही किया है। तत्परिणाम-स्वरूप ही इस राष्ट्र को परदेशीय आक्रान्ताओं की वैसी जघन्या आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-दासता का ही स्वागत कर लेना पड़ा है, जिस दासता से आज के इस सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र वातावरण में भी यहां का जनमानस अद्यावधि भी अपना परित्राण नहीं कर पाया है। यह और भी अधिक चिन्तनीय विषय है कि, आज की प्रक्रान्ता अभिनव-स्वतन्त्रता में यत्रतत्र संस्थापित सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थान परसंस्कृति-वर्त्ती यहां के राष्ट्रीय परमानस की उन परम्प्रणालियों से वैधानिक बनते हुए सर्वथैव मौलिक संस्कृति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते जा रहे हैं। सर्वाधिक शोचनीया अवस्था तो आज उस 'संस्कृति' शब्द की हो रही है जिस मानवीय उद्बोधना-त्मिका आत्मबुद्धिसमन्विता एतद्देशीया मूलसंस्कृति का चान्द्रग-धर्वाप्सराप्राणा-नुगत केवल चान्द्र-मन: शरीरानुगत-नृत्य-अभिनय-लोकगीतादि तान् कालिक, मन शरीरमात्रपरायण बालवृन्द के उपलालनभाव से अनुप्राणित, अमुक अनुरञ्ज-नात्मक प्रदर्शनों को ही आज हमारा राष्ट्रीय मानस संस्कृति, तथा 'सांस्कृतिक आयोजन' मानने मनवाने की भयानक भ्रान्ति करता हुआ अपने सर्वनाश का ही आमन्त्रण कर [illegible] है। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम!! महती विडम्बना!!!

आत्मानुगत नीतितन्त्र, बुद्ध्यनुगत अनुशासनतन्त्र, इन दो तन्त्रों को ही लक्ष्य बनाने वाली मूलसंस्कृति के साथ मनोऽनुगत गणतन्त्र, एवं शरीरानुगत प्रजातन्त्र का जब कि कोई समन्वय ही नहीं है, तो किस आधार पर आज यहाँ का राष्ट्रीय-जनमानस मन-शरीरानुबन्धी केवल अनुरञ्जनात्मक इन तात्कालिक प्रदर्शनों को बड़े गौरव से 'सांस्कृतिक आयोजन' अभिधा से उद्घोषित करते रहने की महती भ्रान्ति का अनुगामी बन बैठा ?, प्रश्न का समाधान उन संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रप्रेमियों से ही प्राप्त करना चाहिए। हम तो इस सम्बन्ध में इस से अधिक कुछ भी तो कहना अभीष्ट नहीं मान रहे कि, एतद्देशीय महामहिम मूलसांस्कृतिकभाव की विस्मृति ही इसप्रकार की काल्पनिक संस्कृतियों के सर्जन का कारण बनी हुई है। श्वेतक्रान्ति के माध्यम से मानवाश्रमसंस्थान इस विस्मृति को विस्मृत कर देनेके लिए ही कृतसंकल्प है, जिसकी कृतसंकल्पता मानवाश्रम के 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोदय' स्वरूपसंरक्षण के आधार पर ही अवलम्बित है।

अतएव श्वेतक्रान्ति के सन्देशप्रणेता मानवाश्रम के इस नवीन उद्भाव-प्रवर्त्तक का यह सर्वथा सर्वात्मना अनिवार्य्य कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह इस दिशा में प्रतिक्षण जागरूक रहता हुआ ही मानवाश्रमोक्थरूप महदुक्थ के आप्यायन से सम्बन्ध रखने वाली अशीतियों के लिए प्रयत्नशील बना रहे। क्योंकि लोकैषणा से सम्बन्ध रखने वाले वर्त्तमान तन्त्रों के संस्कृतिस्वरूपविरुद्ध सामान्य से भी विधि-विधान इस महदुक्थ को क्षणमात्र में अन्तर्मुख बना सकते हैं।

राष्ट्रीय संस्कृतिनिष्ठ मानवों के लिए यह विशेष तथ्य सर्वथा सर्वदा स्मरणी-करणीय है कि, प्राजापत्यतत्त्वनिबन्धन सांस्कृतिक संस्थान का संस्थापन, तत्संरक्षण, एवं तत्परिवर्द्धन तभी सम्भव है, जब कि इस का महदुक्थरूप मौलिक स्वरूप 'उक्थार्काशितिसिद्धान्त' के माध्यम से अन्नौदनभाग के साथ समन्वित रहता है, और जब कि इसकी आप्यायनकर्त्री अन्नौदनरूपा अशीति प्रवर्ग्यभाव से सर्वथैव असंस्पृष्टा रहती है। उक्थार्काशितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित, अन्नोर्क-

जब भी कभी प्रवर्ग्यरूप में परिणत हो जाता है, अथवा तो मर दिया जाता है, तभी महदुक्थात्मक सत्र का स्वरूप अन्तर्मुख बन जाता है। उक्थ और अशीति के इस तात्विक प्राकृतिक रहस्यज्ञान से अपरिचित रहने वाले जनमानस ने जब जब भी ब्रह्मौदनानुगत तथाविध सांस्कृतिक महदुक्थसंस्थान-केन्द्रों को लोकैषणा के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त होकर प्रवर्ग्यरूपात्मिका अशीति बनाने की महती भ्रान्ति कर डाली है, तब तब ही वह संस्थान केन्द्रविच्युत होता हुआ अन्ततोगत्वा केवल अशीतिरूप से ही शेष रह गया है, और उस अवस्था, किंवा दुरवस्था में संस्थानोक्थ अपने मौलिक उद्देश्य से सर्वथा ही वञ्चित हो गया है। क्यों नहीं इस देश की सांस्कृतिक मेधा आज राष्ट्र के लिए सम्प्रदायवादनिरपेक्ष सर्वथा विशुद्ध मौलिक तत्ववाद का जीवनीय-आचारात्मक सर्जन कर रही ?, प्रश्न का यही समाधान है।

सर्वस्वात्मक ब्रह्मौदन के सर्वार्पणमाध्यम से 'मानवाश्रम' नामक जिस प्राजापत्यसंस्थान का आज से ६ नववर्ष पूर्व शिलान्यास हुआ था, तन्मूर्त्तस्वरूप-निर्माणानुबन्धी भौतिकशरीर के आचारात्मक स्वरूपनिर्माण में इस मुक्तकण्ठ ने अपने जीवनीय-रसप्रदान-द्वारा संस्थान का मूर्त्तस्वरूप अभिव्यक्त करने का जो प्रयास अद्यावधि प्रक्रान्त बनाए रक्खा है, उसमें इसे अगणित दुःसह्य कष्ट-परम्पराओं का स्वागत इसीलिए करना पड़ा है, पड़ रहा है कि, कहीं यह संस्थान प्रावाहिक पद्धतियों के आक्रमण से अपने उक्थकेन्द्र से विच्युत न हो जाय। वैसी बड़ी से बड़ी भी अशीति को नमस्य मान लिया गया है, जिसके द्वारा संस्थान के सांस्कृतिक उक्थस्वरूप के अभिभव की आशङ्का भी थी। य मानवाश्रम का उक्थवैराजिकब्रह्मौदनलक्षण वह 'वैराजिक आतान' है, जिस तथापदर्शिता ब्रह्मौदनात्मिका अशीतिमहिमानिष्ठा की अक्षुण्णता ने आश्रम एकमात्र आश्रमी इस मुक्तकण्ठ को आज श्वेतक्रान्ति के महान् सन्देश के लि प्रेरित किया है। संस्थान की इसी सांस्कृतिक अक्षुण्णता के अनुग्रह से आश्रमी ने श्वेतक्रान्ति के आधार पर राष्ट्रचेतना के पावन चरणों में सम्प्रदायवादनिरपेक्ष मौलिक साहित्याञ्जलि समर्पित करने का महत् सौ प्राप्त किया है, जिसके द्वारा अवश्य ही कभी न कभी आज का नवग्रहग्राह

भारतराष्ट्र, तथा तन्माध्यम से विश्वमानव अपनी सुषुप्ति का परित्याग कर निश्चयेन उद्बोधन प्राप्त करेगा ।

अपनी यज्ञौदनपद्धति के कारण स्तोकथकेन्द्र से स्वस्वरूपेण अश्मावरणरूप से अक्षुण्ण बने रहने वाले इस *'मानवोक्थवैराजिकमहौघ'* नामक *'मानवाश्रम'* संस्थान का एकमात्र लक्ष्य यही है कि, *'मानव'* अभिधा के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से सुपरिचित जिज्ञासु नैष्ठिक मानव यहाँ आवें, और आकर आत्म–बुद्धि–मन -शरीर, इन चारों मानवीय पर्वों को स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ बनाए रखने के एकमात्र आधारभूत ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण–अतएव तत्त्वानुगत आचरण से समन्वित प्राजापत्यशास्त्र को आत्मसात् करने के लिए 'आसमन्तात् श्रम करें, एव तद्द्वारा अपने मानवीय पूर्वोक्त 'आश्रम' स्वरूप को अन्वर्थ प्रमाणित करें ।

मानव जहाँ आकर अपने शरीर से कृषि–गोरक्षात्मक आचार द्वारा "श्रम" करता हुआ अनुरूप शारीरिक 'पुष्टि' का अर्जन करे, मन से तत्त्वचर्चा–शिष्ट विनोद–ईश्वरोपासन–आदि द्वारा मानसिक 'तुष्टि' लाभ करे, बुद्धि से सूक्ष्मतत्त्वानुगत प्राकृतिक सर्गविज्ञान के स्वाध्याय द्वारा प्राकृतिक आचरणमाध्यम से बौद्धिक 'तृप्ति' की अनुभूति कर सर्वोपरि अपने भूतात्मा के मनुकेन्द्रानुगत उद्बोधन के द्वारा स्वात्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वनिष्ठा के माध्यम से सहज *'शान्ति'* से सायुज्यभाव प्राप्त करे, वही आश्रम 'मानवाश्रम' है, जिसके इस सर्वोदयिक श्वेतकान्तिरूप महान् सन्देश की घोषणा प्रस्तुत घोषणापत्र के द्वारा विश्वमानव के दिक्सोममय, अतएव पूततम श्रोत्रविवरों में अनिच्छयापि प्रविष्ट होने जारही है ।

इमत्रारवेयं–लक्षणरूपेण—

(१)–नैष्टिकमानव –यत्र– आगत्य–श्रम–परिश्रम द्वारा–

शरीरेण —पुष्टिमर्ज्जयति
मनसा—–तुष्टिमर्ज्जयति
बुद्ध्या—–तृप्तिमर्ज्जयति
भूतात्मना शान्तिमर्ज्जयति–सोऽयं मानवाना 'आश्रम'।
स एव मानवाश्रम –वैराजिक–आतानलक्षण —

(२)–आत्मस्वरूपेण अनभिव्यक्तो मानव –यत्र आगत्य प्राजापत्यश्रमद्वारा अभिव्यक्तो भवति, स एव मानवाश्रम ।

(३)–यत्र आगत्य मानव –नैष्ठिकश्रमद्वारा मानवत्वप्रतिबन्धक–अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश–लक्षण–अविद्याभावान्निवारयति, मानवत्वससाधक–विद्या–ऐश्वर्य्य–वैराग्य–धर्म्म–लक्षण—विद्याभावान्—समत्वभावेनार्ज्जयत, सोऽयं मानवाश्रम ।

(२१)–घोषणापत्र के माध्यम से अपेक्षित 'तानूनप्त्र'—

भूपिण्ड के अधिष्ठाता अर्थशक्तिघन अग्निदेवता, अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता क्रियाशक्तिघन वायुदेवता, एवं स्वर्गात्मक द्युलोक के अधिष्ठाता ज्ञानशक्तिघन आदित्यदेवता, इन तीनों त्रैलोक्यदेवताओं न सृष्टिसञ्चालन–कर्म्म से पूर्व ही परस्पर यह प्रतिज्ञा की थी कि, "त्रैलोक्यप्रजा के उत्पादन–सरक्षण–परिवर्द्धन के लिए हमें अपने तनुओं को परस्पर एक दूसरे के प्रति आश्रित ही रखना पड़ेगा। तभी हम इस महान् उत्तरदायित्व के निर्वाह में सफल हो सकेंगे। इस पारस्परिक समन्वय के माध्यम से ही हम अपने तनुभावों को निर्बलतालक्षण पतन से बचा सकेंगे"। ऐसा ही किया था उन प्राणदेवताओं नें। वही पारस्परिक समन्वय 'तानूनप्त्र' कहलाया था।

आज के इस प्रकान्त दुर्दान्त युग में भारतीय मानवों को भी उसी तानूनप्त्र का अनुगमन करना है। भारतराष्ट्र में पार्थिवाग्निमूलक अर्थभाव की भी न्यूनता नहीं है। आन्तरिक्ष्य वायुमूलक क्रियाभाव का भी अभाव नहीं है। एवं दिव्य आदित्यमूलक ज्ञानभाव का भी अभाव नहीं है। मानव के सर्वाङ्गीण अभ्युदय, तथा निःश्रेयस् के लिए अपेक्षित ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों ही यहाँ पर्य्याप्त हैं। इन तीनों महान् साधनों के विद्यमान रहते हुए भी क्यों नहीं भारतीय मानव अपनी मानवीया परिपूर्णता से समन्वित हो रहा ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान तानूनप्त्र की विस्मृति ही माना जायगा। निःसन्देह आज राष्ट्र की ज्ञान-कर्म्म-अर्थ, तीनों शक्तियाँ पारस्परिक समन्वय के अभाव से सर्वथा शून्य बन गई हैं। जिस मानववर्ग के प्रज्ञाकोष में कर्म्मशक्ति है, वह ज्ञान और अर्थ से वञ्चित है। जिसके तैजसकोष में कर्म्मशक्ति है, वह ज्ञान और अर्थ से असम्बद्ध है। एवं जिसके वैश्वानरकोष में अर्थशक्ति है, वह ज्ञान और कर्म्म से पराङ्मुख है।

सहजभाषा में-जो जानता है, वह न तो करता ही, न करने के अनुरूप उसके कोष में साधन ही। जो करता है, वह न तो जानता ही, न जानने के साधन ही उसके कोष में। एवमेव जो साधन-सम्पन्न है, वह न तो जानता ही, न करता ही। इसप्रकार ज्ञान-कर्म्म अर्थ, तीनों ही राष्ट्रशक्तियाँ आज विशकलित हो रही हैं। जो महानुभाव कुछ भी जानते नहीं, आज वे ही सर्वज्ञ बने हुए हैं, एवं अर्थबल के माध्यम से वे ही आज राष्ट्रकर्म्म के भाग्यविधाता बने हुए हैं। इसी असमन्वय का यह दुष्परिणाम है कि, आज राष्ट्र का सांस्कृतिक ज्ञानवैभव, प्राकृतिक व्यवस्थित कर्म्मकौशल, एवं 'सम विभजेरन्' मूलक अर्थविनिमय, तीनों ही क्षेत्र पारस्परिक सहयोगरूप तानूनप्त्र से पराङ्मुख बने हुए हैं। परिणाम इस पराङ्मुखता का जो हुआ, एवं हो रहा है, वह आबालवृद्धवनिता सब के सम्मुख है। इस भयावह सर्वविनाशक परिणाम, किंवा दुष्परिणाम के निरोध के लिए राष्ट्रीय मानवश्रेष्ठों के लिए यह अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित है कि, वे प्रत्येक जनमानस के अन्तराल में 'तानूनप्त्र' के बीज प्रतिष्ठित कर दें।

किसी से किसी प्रकार का भय न करते हुए, साथ ही अपनी ओर से किसी को भयत्रस्त न करते हुए हमें आपजन्य यह प्रतिज्ञा कर ही

लेनी है कि, हमें प्रत्येक सम्भव उपाय से राष्ट्र के ज्ञान-कर्म-अर्थ तीनों का समसमन्वय कर ही डालना है। और पुन समदर्शनानुगता नियमित-विभक्त-कर्मात्मिका श्वेतशान्तिमूला उस तानून'प्रघोषणा का अनुगामी बन ही जाना है, जो घोषणा निम्न-लिखित रूप से एकादशसूत्री के रूप में हमारे राष्ट्रीय महासङ्गीत के द्वारा उद्घोषित है।

सङ्गच्छध्वं-संवदध्वं-सं वो मनांसि जानताम् ॥
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥१॥
समानो मन्त्रः, समितिः समानी, समानं मनः, सह चित्तमेषाम् ॥
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः, 'समानेन वो हविषा जुहोमि' ॥२॥
समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ॥
समानमस्तु वो मनः, यथा वः सुसहासति ॥३॥

—ऋग्वेदसंहिता १०।१९१।२,३,४,।

(१)-हमारे राष्ट्र का 'गन्तव्यपथ' एक हो।	(सङ्गच्छध्वम्)।
(२)-हमारे राष्ट्र की 'भाषा' एक हो।	(संवदध्वम्) ।
(३)-हमारे राष्ट्र के 'विचार' एक हों।	(स वो मनांसि)।
(४)-हमारे राष्ट्र की 'मननशैली' एक हो।	(समानो मन्त्र)।
(५)-हमारे राष्ट्र की 'विधानसमिति' एक हो।	(समिति समानी)।
(६)-हमारे राष्ट्र के 'मनोभाव' एक हों।	(समान मन)।
(७)-हमारे राष्ट्र की 'प्रज्ञा' एक हो।	(सहचित्तमेषाम्)।
(८)-हमारे राष्ट्र की 'गुप्तमन्त्रणा' एक हो।	(समान मन्त्रमभि-मन्त्रये व)।
(९)-हमारे राष्ट्र के 'आभ्यन्तर संकल्प' एक हों।	(समानी व आकूति)
(१०)-हमारे राष्ट्र का 'केन्द्रबिन्दु' एक हो।	(समाना हृदयानि व)।
(११)-हमारे राष्ट्र का 'अन्तर्जगत्' अभिन्न हो।	(समानमस्तु वो मन)

उक्त 'एकादशसूत्री' की राष्ट्रीय-घोषणा के आधार पर अपने सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए हम सम्पूर्ण राष्ट्रीय-मानवों के लिए मन-शरीरनिबन्धना योग-क्षेमात्मिका 'हवि' (अन्न-वस्त्र) की समानरूप से व्यवस्था करते हुए आत्ममूलक 'साम्यवाद' पथ के अनुगामी बने रहें, जिस इत्थभूत 'आत्मसाम्य' का (भौतिक साम्यवाद का नहीं) सदेश हमें इस रूप से प्राप्त हुआ है कि—

'समानेन वो हविषा जुहोमि'

इसी समानाहुति के द्वारा हमारे राष्ट्र ने सहास्तित्वरूप विश्वबन्धुत्व का यह लोकोत्तर आदर्श स्थापित किया है कि—

'यथा वः सुसहासति'।

(२२)—श्वेतक्रान्ति का महान् उद्घोष—

राष्ट्रीय मानवो !

आपका राष्ट्र वह 'भारतराष्ट्र' है, जिसके मूल में समस्त विश्व को हव्य-कव्य-प्रदान करने वाले, अतएव 'भारत' नाम से ही प्रसिद्ध प्रज्वलित अग्निदेवता विराजमान हैं।

राष्ट्रीय मानवो !

कदम्बवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित नाकस्थ विष्णुदेवता के चारों ओर चतुर्विंशतिसंख्यायुक्त व्यासार्द्ध वृत्त से परिक्रममाण ध्रुव आज आपके भारतराष्ट्र के अभिमुख हो गया है। फलस्वरूप आज आपका राष्ट्रीय भारताग्नि जग पड़ा है। अतएव इस अग्निजागरणवेला में आपको अपनी दीर्घकालीना सुषुप्ति का परित्याग कर उस 'श्वेतक्रान्तिपथ' पर आरूढ हो ही जाना है, जिसकी एकादशसूत्री ही के इस ... राष्ट्र को अभ्युदय-निःश्रेयस् पथ का पथिक बना सकती है।

राष्ट्रीय मानवो !

आप लोगों को यह स्मरण रखना चाहिए कि–"दौष्यन्ति भरत के नाम से यह राष्ट्र 'भारत' कहलाया है," इस लोकयशोऽनुगता मान्यता का संरक्षण करते हुए भी हमें इस प्रामाण्य (वैदिक) तथ्य की ओर भारतीय आर्य मानव का ध्यान आकर्षित कर ही देना है कि, यह राष्ट्र वस्तुत 'अग्नि' के कारण ही 'भारतवर्ष' कहलाया है। 'अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण ! भारतेति' (यजु संहिता) इत्यादि मन्त्र के अनुसार ब्रह्मवर्चस्-प्रवर्त्तक अग्नि ही महान् है। इसी के द्वारा क्योंकि मानव-देव-पितर-पशु-आदि समस्त वर्गों के लिये ओषधि-हव्य-कव्य-उच्छिष्ट आदि से भरणपोषण होता रहता है, अतएव यह अग्नि हो 'भारत' कहलाए हैं। यद्यपि-'अग्निर्भूस्थान' (यास्कनिरुक्त) इत्यादि निरुक्त-सिद्धान्तानुसार यह भारत अग्नि अखिल भूपिण्ड का ही भरण पोषण करता है। अतएव इस दृष्टि से यद्यपि सम्पूर्ण भूमण्डल को ही 'भारत' कहना चाहिए था। तथापि विश्वद्-वृतीय रचना से अनुप्राणित इस आर्य्यावर्त्तीय भूभाग में ही क्योंकि भारत अग्नि-'अग्निर्जागार तमृच कामयन्ते' इत्यादि सिद्धान्तानुसार अपने वैश्यक्तिक पूर्ण स्वरूप से अभिव्यक्त रहते हैं। अतएव यही भू भाग 'भारतवर्ष' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। निष्कर्षत –जागरूक भारताग्नि की प्रधानता से ही हमारा यह आर्य्या-वर्त्तराष्ट्र 'भारतराष्ट्र' कहलाया है। निम्नलिखिता शातपथी श्रुति भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रही है—

"अग्नेमहाँऽअसि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्निः, तस्मादाह-'ब्राह्मणेति। भारतेति-एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति (पितृभ्यः कव्यं भरति, पशुभ्यश्च ओषधिवनस्पत्यन्न भरति), तस्मात्-'भरतोऽग्नि' रित्याहुः। एष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्त्ति, तस्मा-देवाह-भारतेति"।

—शतपथब्राह्मण १।४।२।२॥

राष्ट्रीय मानवो !

विगत कतिपय सहस्राब्दियों से प्रक्रान्त जिस नवग्रहग्राहमण्डल ने आपके आग्नेय भारतराष्ट्र की प्रचण्ड ज्वाला को अभिभूत बनाए रक्खा था, आज श्री इस अग्निजागरणवेला के उपक्रम में हीं आपको इस नवग्रहग्राहमण्डल के आमूल चूड उन्मूलन के लिए, साथ ही अग्निनिबन्धन केन्द्रात्मक मनु से अनुप्राणित अपने मानवस्वरूपाभि व्यक्तित्व को पुन. प्राप्त करने के लिए इसी क्षण से सज्जी-भूत होकर परस्पर तानूनप्त्र (शपथसन्धान) कर ही लेना है ।

राष्ट्रीय मानवो !

त्रैलोक्यसञ्चालक अर्थमय अग्नि, क्रियामय वायु, ज्ञानमय आदित्य, ये तीनों अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) प्राणदेवता क्योंकि एकमात्र शपथसन्धानात्मक तानूनप्त्र के बल पर ही त्रैलोक्य का सञ्चालन कर रहे हैं । अतएव देवप्राणात्मक आपको भी उसी प्राकृतिक सिद्धान्त के आधार पर इसी क्षण तानूनप्त्र कर ही लेना है, जिसकी अश्माखण्ड–शक्ति के साथ कोई भी प्रतिद्वन्द्वी आपके साथ प्रतिस्पर्द्धा करने की धृष्टता नहीं कर सकता ।

राष्ट्रीय मानवो !

आज भारतराष्ट्र 'श्वेतक्रान्ति' के उस महान् उद्घोष का अनुगामी बन चुका है, जिसकी घोषणा-'अग्निर्जागार–अग्निर्जागार–अग्निर्जागार' रूप से आपाता लात्–आ च लोकाऽलोकात् परिव्याप्त है । प्रचण्डवेग से परिभ्रममाण, एवं विभ्राट्रूपेण धोधूयमान महान् अलातचक्र में आसमन्तात् परिव्याप्ता श्वेतक्रान्ति की एकादशसूत्रान्विता पूर्वोक्ता घोषणा राष्ट्र के प्रत्येक राष्ट्रीय मानव के कर्णकुहरों में अविलम्ब पहुँच ही जानी चाहिए । 'नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय' ।

राष्ट्रीय मानवो !

श्वेतक्रान्तिमूला 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'–'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा' इत्यादि–श्रौती–स्मार्त्ती घोषणाओं के आधार पर आपका

यह भी अनन्य नैष्ठिक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, आप समस्त विश्व के जनमानस के प्रति निम्नलिखित एकादशसूत्री का घोषणापत्र दृढ़तम संस्काररूप से चर्चित करदें। और उद्घोषपूर्वक विश्वमानवों को यह सन्देश सुना दें कि—

(१)—विश्वमानवो! आप अपने आत्मानुगत 'चित्' स्वरूप को अभिव्यक्त करो!
(२)—विश्वमानवो! आप अपनी बुद्धयनुगता 'धिषणा' का वितान करो!
(३)—विश्वमानवो! आप अपनी मनोऽनुगता 'प्रज्ञा का' आतान करो!
(४)—विश्वमानवो! आप अपने शरीरानुगत 'भूत' का सन्तनन करो!
(५)—विश्वमानवो! आप अपनी 'मूलप्रकृति' को लक्ष्य बनाओ!
(६)—विश्वमानवो! आप अपने मानवस्वरूप के आधार पर 'समाज' को प्रतिष्ठित करो!
(७)—विश्वमानवो! आप छन्दा अनवद्या प्रज्ञा का 'तन्तुवितान' करो!
(८)—विश्वमानवो! रोदसी त्रैलोक्य के प्राकृतिक 'प्राण' का समन्वय प्राप्त करो!
(९)—विश्वमानवो! अभिदेश भारत को अपना आदर्श मानो!

और इसी आदर्श के आधार पर

(१०)—विश्वमानवो! पशुभाव से अपना आत्मत्राण करो!
(११)—विश्वमानवो! 'मानव' की महती अभिधा को लक्ष्य बनाओ!

राष्ट्रीय मानवो!

उक्त एकादश-सूत्री से अनुप्राणिता घोषणा के माध्यम से एक ओर जहाँ आपको 'विश्वमानव' को उद्बोधन प्रदान करते रहना है, वहाँ दूसरी ओर अपने ही राष्ट्र के सर्वोच्च सत्तापद-समासीन, अतएव सर्वसमर्थ अपने मान्य सत्ताधीशों की 'सत्तादृष्टि' के सम्मुख भी भारतराष्ट्र के उस सांस्कृतिक-महान् उद्देश्य को (उन सत्ताधीशों के इस ओर निरपेक्ष बने रहते हुए भी) निर्व्याजरूप से, निश्छलरूप से निर्भयरूप से-'दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारासेवित' लक्षणा निष्ठावृत्ति से निरन्तर सम्मानपूर्वक रखते ही जाना है, जिस राष्ट्रीय-संस्कृतिक-उद्देश्य की प्राणप्रतिष्ठा के बिना हमारे इन सत्ताधीशों के अनुकरणात्मक-गतानुगतिक-अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहनात्मक आजके प्रकान्त उद्देश्य कदापि भारतराष्ट्र की मौलिक-अपनी राष्ट्रीयता को तो स्वप्न में भी सुरक्षित नहीं रख सकते।

भारतीय धर्म्म, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, आचारपद्धति, लोकनीति, समाजनीति, राष्ट्रनीति (राजनीति) आदि आदि के प्रति एकान्ततः निरपेक्ष बन जाने वाले, साथ ही इन भारतीय मौलिकताओं के प्रति चिरन्तनकाल से अपनी आस्था-श्रद्धा-समर्पित करते रहने वाले भारतीय आस्तिक मानव, 'हिन्दूमानव' की 'हिन्दू' उपाधि का अपनी काल्पनिक राष्ट्रीयता के व्यामोहन में उपहास करते रहने वाले इन सत्ताधीशों को बलपूर्वक आज से पाँच सहस्र वर्ष के पूर्व के भारत में ले ही चलना है आपको, जहाँ पहुँच कर ही इन्हें वास्तविक उद्बोधन प्राप्त हो सकेगा। और उस अतीत के 'हिन्दू' का स्वरूप जानकर ही इन्हें इस नाम की विश्वविश्रुता गरिमा-महिमा का यत्किञ्चित् आभास हो सकेगा।

राष्ट्रीय मानवो !

विगत अनेक शताब्दियों से व्यक्ति-पद-प्रतिष्ठात्मक महान् व्यामोहन की साम्प्रदायिक-घातक-परम्पराओं ने पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के राष्ट्रीय-हिन्दू-मानव की 'विश्वमानवता' को सर्वथा उस सीमा पर्यन्त अभिभूत ही बना डाला है, जिस सीमा से सीमित आजका राष्ट्रीय-हिन्दू-मानव अपनी सांस्कृतिक-'आत्मनिष्ठा' को विस्मृत कर सभी क्षेत्रों में नितान्त 'भावुक' प्रमाणित होता हुआ सभी स्वार्थी-परवञ्चकों के उपहास का ही साधन बना रह गया है।

स्वस्वरूपदर्शन-विरोधिनी इसी भावुकता के कारण सर्वथा उदार-महामहिम-शाली-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष भी राष्ट्रीय-हिन्दूमानव आज इसके अपने ही दोष से 'साम्प्रदायिक' माना, और मनवाया जा रहा है उन स्वार्थियों की कृतघ्नता के कारण हीं, जिन स्वार्थियों के सम्पूर्ण-स्वार्थों का प्रधान केन्द्र आज भी यही राष्ट्रीय-हिन्दूमानव ही बना हुआ है।

अपनी सहज सांस्कृतिक उदारता से विश्वमानवतावादी जिस इस राष्ट्रीय हिन्दू ने जिन असंख्य वादों को आश्रय प्रदान किया, उनका भरण-पोषण किया, और आज भी करता जा रहा है बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के, आज वही राष्ट्रीय-हिन्दू-मानव अपने महान् दोष 'भावुकता' के कारण हीं उन सभी आश्रितों

से बदले में 'कृतघ्नता' ही प्राप्त करता आ रहा है। और यों अपनी सर्वोच्च 'हिन्दू' जैसी राष्ट्रीय-उपाधि को अपने सर्वस्व समर्पण से अक्षरशः चरितार्थ करता हुआ भी यह राष्ट्रीय-मानव (हिन्दू) आज उन राष्ट्रीय-मानवों[१] के द्वारा 'साम्प्रदायिक-मानव' माना जा रहा है, जो आजके राष्ट्रीय-मानव तत्वतः अपने व्यक्ति-पद-प्रतिष्ठा-मात्र के व्यामोहन से स्वय ही सम्प्रदायवादी बनते हुए अपने इस विशुद्ध साम्प्रदायिक-'कॉमेंसवाद' नामक सम्प्रदायवाद में चार आना मात्र देकर दीक्षित हो जाने वाले के अतिरिक्त किसी अन्य को मानव' कहने में भी अपने इस कल्पित वाद का अपमान घोषित करने लग पड़ते हैं।

राष्ट्रीय मानवो !

निरपेक्षदृष्टि से आज आपको इस तथ्य से राष्ट्र के भावुक मानवों को शीघ्र से शीघ्र उन्मुक्त कर ही देना है कि, आपको साम्प्रदायिक बतलाने वाले राष्ट्रीय मानव स्वय उस सीमित सम्प्रदायवाद के महान् पोषक बने हुए हैं, जिस सीमित वाद के मन्द्यभव्याज से'राष्ट्रीयता'के व्यामोहक जाल से उसी प्रकार राष्ट्रीय-हिन्दू-मानव की भावुकता से लाभ उठाते रहना चाहते हैं, जैसे कि इसकी इसी भावुकता से आज से पूर्व के युगों के शासकों, समाजसुधारकों, एव मतवादात्मक सम्प्रदायवादों ने कभी 'धर्म्म' के नाम से, कभी 'राजभक्ति' के नाम से, तो कभी 'समाजसुधार' नाम से छलपूर्वक इससे लाभ उठाते हुए अन्ततोगत्वा अपनी जघन्या कृतघ्नता का ही परिचय प्रदान किया है।

और अन्त में

सावधान राष्ट्रीय मानवो !

आपको किसी भी वाद-विशेष से अब कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना है, फिर चाहे ही यह वाद धार्मिक-दम्भ का प्रवर्तक हो, अथवा तो राष्ट्रीयता-दम्भ का

समर्थक । आपको स्वय अपनी चिरन्तन-निष्ठा से स्वय हीं अपनी मौलिक उस राष्ट्रीयता का अपने राष्ट्रीय-जीवन में अविलम्ब प्रतिष्ठापन कर हीं लेना है, जिसका मौलिक-ज्ञानविज्ञानात्मक समस्त सम्प्रदायवादनिरपेक्ष रहस्य उस 'प्राजापत्यशास्त्र' में हीं सुरक्षित-सुगुप्त है, जिसे विगत पाँच सहस्रवर्ष के सम्प्रदायवादो नें व्यक्त ही नहीं होने दिया है । एकमात्र उस चिरन्तन चिरनूतन-शाश्वत-सनातन सत्य के व्यक्तीभाव के लिए ही, इस सनातनसत्य से अनुप्राणिता अव्ययात्मनिबन्धना 'श्वेतक्रान्ति' के द्वारा अपनी सम्प्रदायवाद-निरपेक्षा 'राष्ट्रीय-मानवता' के महान् पद की पुन प्राप्ति के लिए ही प्रस्तुत 'श्वेतक्रान्ति के महान सन्देश' के बल पर ही आपको अपना कर्त्तव्यनिर्द्धारित कर लेना है । और इस कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ साथ ही भारतराष्ट्र की इस मङ्गलाशंशा को भी विस्मृत नहीं कर देना है कि—

त्रेधा लोकः कल्पितोऽयं यदासीत्—
इन्द्रः स्वर्गे पूर्वकाले तदासीत् ।
आसन्नस्मिन्-भारते तर्हि विद्याः—
शौर्य्य-लक्ष्म्यः-सिद्धयश्चानवद्याः ॥१॥
ब्रह्मवीर्य्यपरिशुद्धिहेतवः—
सूर्य्य-सोम--रस-यज्ञ-धेनवः ।
क्लेशसिन्धु-तरणाय सेतवः—
संहृता अथ निधिर्दधे नवः ॥२॥
क्षत्रिया य इह सोम-सूर्य्यजाः—
ब्राह्मणा य इह यज्ञयन्त्रिणः—
विड्व्रजा य इह धेनुपालका-
स्तेषु सन्ति निजयाः-धियः-श्रियः ॥३॥

.क्रस्थविष्णोः परितस्तु चेदृग्—
व्यासार्द्धजे सञ्चरति ध्रुवं ध्रुवः ।
वृत्ते ततः क्वापि पुरा युगे स हि—
प्राङ्मेरुपस्वस्तिकगोऽभिजित्यभूत् ॥४॥

प्राङ्मेरुस्थे हंसपृष्ठेऽभिजिद्भे—
ब्रह्मण्यामीत् स ध्रुवो यत्र काले ।
ब्रह्मादिष्टो वेदधर्म्मस्तदासीत्—
सर्वप्रीतो हृद्गतः प्रोन्नतश्च ॥५॥

तर्ह्यासीद्भारतेऽपि सूर्य्यो—
निशानेनोच्छ्रायथन् भारतीयान् ।
ास्तं यातो भारतस्यैप सूर्य्यो—
स्लिश्यन्त्यार्य्यास्तेन युद्धयन्धकारात् ॥६॥

प्राङ्मेरुपस्वस्तिकमेष हित्वो—
त्तरस्य स्वस्वस्तिकमर्णवस्य ॥
गतो ध्रुवः वर्षति वेदधर्म्मं—
विपर्य्य पैशाच विपर्य्यपस्थः ॥७॥

तारावशादपि फलं ध्रुव एप दत्ते—
तेनाभिजित्परिगतः स हि वैदिकानाम् ।
प्रागुन्नतिं बहु चकार स चाधुनैपां—
वेदद्विषां सततमुन्नतिमातनोति ॥८॥

कालेन केन च परिक्रममाण एष—
प्राचीमुपेत्य पुनरेष्यति दक्षिणाशाम् ।
तेन ध्रुवं ध्रुव इहाभिजिति प्रपन्नो—
भूयः करिष्यति स भारतधर्म्मवृद्धिम् ॥६॥

उक्त-उद्बोधनात्मक पद्यों का अर्थ स्पष्ट है। पुरातन देवयुगात्मक वैदिक-काल में-जबकि इसी भूमण्डल पर प्राकृतिक-आधिदैविक-नित्य-त्रिलोकी-व्यवस्था थी, जिसके कि-अग्नि-वायु-इन्द्रादि भौम-मानुषदेवता व्यवस्थापक थे, उस युग में अमरावतीपुरी की 'सुधर्म्मा' सभा के अधिपति 'वैकुण्ठ' नामक देवेन्द्र के शासनकाल में भारतवर्ष में वेदविद्या, प्रचण्ड पौरुष, एवं प्रभूत अर्थसम्पत्ति सर्वात्मना विकसित थी। इनके अतिरिक्त अणिमादि देवसिद्धियाँ भी तद्युग में मूर्त्तरूप से विद्यमान थीं ॥१॥

ब्रह्मवीर्य्य के ससाधक द्विचक्रात्मक 'अश्मापृश्नि' नामक सूर्य्य, सोमरस, तथा कामगवी (कामधेनु) नामक गौतत्त्व-उस युग के महान् आविष्कार थे। प्राग्-मध्यस्थिता ब्रह्मपुरी में निवास करने वाले भगवान् भौम ब्रह्मा ने क्लेशसिन्धुतरण-साधनभूत तथाकथित दिव्य आविष्कारों से लोकोत्तर अभ्युदय व्यवस्थित किया था उस देवयुग में ॥ २ ॥

पौरुषशाली क्षत्रिय यहाँ चन्द्र-सूर्य्य-अग्नि-वंशी थे। वेदनिष्ठ ब्राह्मण यहाँ वैध-यज्ञनिष्ठ बनते हुए तत्प्रतीकरूप यज्ञसूत्रों से पूत बने हुए थे। अर्थबलसरक्षक भलन्दनवंशज वैश्यमहाभाग यहाँ कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-कर्म्मों में निरत थे। और यों इन तीनों शक्तियों से भारतराष्ट्र विद्या-विजय-लक्ष्मी इन तीनों राष्ट्र-सम्पत्तियों से समन्वित बना हुआ था देवयुग में ॥ ३ ॥

त्रिषद्वृतीय-पृष्ठाकेन्द्रात्मक उत्तर ध्रुव क्रान्तिवृत्तीय-पृष्ठीकेन्द्रात्मक पारमेष्ठ्य नाकस्थ (स्वर्गस्थ) विष्णु के चारों ओर २४ अंशों के 'व्यासार्द्ध' से वृत्त बना कर परिभ्रममाण है। उस युग में यह ध्रुवबिन्दु उस 'अभिजित्' नामक

ब्रह्मनक्षत्र से समन्वित था, जिस नाक्षत्रिक अभिजित् के वेदप्राण से भारतराष्ट्र में वेदविद्या विकसित हुआ करती है ॥ ४ ॥

अवश्य ही उसी अभिजिदुपलक्षित प्रत्नकाल में भौम ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट वेदधर्म्म सर्वात्मना सुसमृद्ध था उस देवयुग में, जो काल आज से अनुमानतः १२॥ हजार वर्ष पूर्व माना जा सकता है ॥ ५ ॥

अवश्य ही उसी अभिजिद्युग में 'विज्ञानभवन' नामक 'सूय्यमन्त' में तत्त्वान्वेषण करने वाले वैज्ञानिक महर्षियों के तत्त्वान्वेषण-कर्म्म से समुद्भूत वैज्ञानिक तत्त्वों नें भारत-राष्ट्र को समृद्धि की चरम दशा में ला खड़ा किया था। कालान्तर में ध्रुव का सम्बन्ध ध्रुवपरिभ्रमण के कारण वेदप्राणात्मक अभिजित् से पृथक् बन गया। परिणामस्वरूप अस्त हो गया वह वेदसूर्य्यात्मक भारतभाग्यसूर्य्य। क्लेशसमुद्र में निमग्न हो गए भारतीय, एवं अनाना वक्षार ने अभिभूत कर लिया सर्वात्मना ॥ ६ ॥

सचमुच ही प्राङ्मेरु (पामीर) से सम्बन्धित स्वस्तिक' (केन्द्र) से विच्युत एवं उत्तरसमुद्रानुगत स्वस्तिक से समन्वित हो जाने वाले ध्रुव से आज वेदधर्म्म अभिभूत हो गया है। विपर्य्यस्थ ध्रुव आज विपर्य्ययरूप से ही भारतराष्ट्र के अधःपतन का कारण प्रमाणित हो रहा है ॥ ७ ॥

यह तथ्य है कि, खगोलीय नाक्षत्रिक ध्रुवादि परिवर्त्तनों के अनुदान से ही राष्ट्रों की स्थितियों में उच्चावच परिवर्त्तन हुआ करते हैं। जिस ध्रुव ने अभिजित्काल में भारतीय वेदनिष्ठ मानवों को अभ्युदय से समन्वित किया था, आज विपरीत पथानुगामी बनता हुआ वही ध्रुव वेदविद्रोही लौकिक मनुष्यों को उन्नति कर रहा है ॥ ८ ॥

किन्तु यह सर्वथा सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, अब ध्रुव १२॥ हजार वर्ष पूर्ण कर पूर्वबिन्दु का अनुगामी बनने जा रहा है। अतः अब निश्चयेन इस परिवर्त्तन से भारतीय वेदधर्म्म पुनः समृद्धिपथ का अनुगामी बनने वाला है, निश्चयेन बनने वाला है ॥९॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः–
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः–
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
—यजु सहिता

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! सैव श्वेतक्रान्तिः—

फाल्गुनकृष्ण–१३ त्रयोदशी
महाशिवरात्रि
वि० स० २०१३

सर्वात्मना-विधेय —
मुक्तरक्तशर्मा, श्वेतक्रान्तिसन्देशवाहकः
आङ्गिरसो भारद्वाज
वेदवीथीपथिक

श्री :

सांस्कृतिक-संघर्ष के लिये आमन्त्रण

एवं

तत्र विजय-श्री-लाभार्थ

'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'

उपरत

असि०, मणि०, कोडी०, सुभगा करनेवाली(विद्या), दुभगाकरी, गर्भ-करी, मोहन-करी अथर्व-वेदी, पाकशासनी(इन्द्रजालिक), द्रव्यहोम, क्षत्रिय विद्या, चन्द्र चरित,सूर्यगति, शुक्र-गति, वृहस्पति गति, उल्कापात, दिशा दाह, मृगचक्र, नौओकी पचायत, धूलि-वृष्टि, केश-वृष्टि, मास वृष्टि, रुधिर वृष्टि, (काष्टम चेतना पैदा करनेवाली) वेताली, चाण्डाली, शाम्बरी (मावरी), द्रविड देश वाली, कलिंगवाली, गौरी, गाधारदेशी, नीचे गिरानेकी ऊपर उठानेकी, जड बनानेवाली (जृम्भिणी), स्तम्भनी, श्लेषणी रोगकारणी, निरोगकारणी, भूत दूर करनेवाली, (प्रक्रामणी) अन्तर्धान करानेवाली वडी बनाने वाली, (आयामिनी),-इत्यादि विद्याओ (जादू टोनो) का अन्नकेलिय प्रयोग करते हैं, पान के०, वस्त्र०, लयन०, शयन०, और भी नाना प्रकारके काम-भोगोकेलिय प्रयोग करते हैं, उलटी विद्याओका सेवन करते हैं।

व अनय अमम पड कालके समय काल करके किसी एक आसुरी, किल्विष वाले स्थानोमे उत्पन्न होनेवाले होते हैं। वहाँ से भी छूटकर फिर भी अघे, गूग होनेके लिये, तमम अधा बननेकेलिय इस लोकमे लौटते हैं ॥३०॥

(६६६) जो उनमसे कोई अपनेलिये, ज्ञातिके लिये, शयनके लिये, आगारकलिये, परिवारके लिये, जातिवालो या सहवासीके निमित्त निम्न पाप करते हैं—पीछा करनेवाले (अनुगामिक) चोर, सेवा कर ठगनेवाले (उपचारक), बटमार, अथवा सेंध लगानेवाल, अथवा गिरहकट होते हैं। अथवा भेड-वधिक, सूकर०, जालशिकारी, चिडीमार, या मछुआ, गो घातक, ग्वाला, कुत्ता-पालक, कुत्तसे शिकार करनेवाला होता है।

कोई अनुगामी (ठग) का भेस ल, अनुगमन किये जानेवालेको मार कर, छिन्न भिन्न कर, लोप विलोप कर या भागकर आहार प्राप्त करता है। इसप्रकार वह भारी पाप कर्मोके साथ अपनेको प्रसिद्ध करता है। वह एक आदमी (उपचारक) सवकका रूप ले उमी उपचार (सेवा) किये जाते पुरुषको मारकर, टूक-टूक कर० आहार जमा करता है। इसप्रकार ०।

सो वह बटमार०, वह सेंध लगानेवाला०, गिरहकट०, भेड़ कमाई वन भेड़को या दूसरे जंगम प्राणीको मार०, अपनेको नामवर ख्यापित करता है ० । सूअर-कसाई०, जालशिकारी०, चिड़ीमार०, मछुआ०, गोघातक० । ग्वाला बनकर उसी गो के बछड़ेको चुनकर मार मार कर० प्रसिद्ध होता है । कुत्तापालक हो उसी कुत्ते या अन्य किसी जंगम प्राणी-को मार कर० । ० कुत्तोंके साथ शिकारी का भाव ले उसीमें मनुष्य या किसी जंगम प्राणीको मार कर आहार जमा करता है, ऐसे बहुतसे पाप कर्मोंसे अपनेको प्रसिद्ध करता है० ॥३१॥

(६६७) सो कोई पुरुष परिषद्से उठकर "मैं इसको मारूंगा" यह कह तीतरको, या बत्तकको, या लवेको कबूतरको, कपिंजल या किसी अन्य जंगम प्राणीको मारनेवाला प्रसिद्ध होता है । किसी बुरी चीजके देनेसे विरोधी बन, अथवा सड़ी चीज देनेसे, या सुरा स्थालकसे कुपित हो, उक्त गृहपति या गृहपतिके पुत्रोंकी खेतीको स्वयं जलाता है, या दूसरे के द्वारा०, या जलाते हुये अन्य पुरुषका अनुमोदन करता है। इस प्रकार भारी पापकर्मसे अपने को प्रसिद्ध करता है ।

सो कोई किसी बुरी चीजके देने ०, गृहपतिके ऊंटो, गाय-बैलो, घोड़े गदहाके अंग आदिको स्वयं ही काटता है, अन्य किसीसे कटवाता है, या काटते दूसरे पुरुष) का अनुमोदन करता है। इस प्रकार० ।

० कोई गृहपति० को, ऊंटसार को, गोसार को, घोड़सारको, गदह-सारको, काटेरी वीसर शाखाओंसे)रूंधकर स्वयं आगसे जलाता है,० ।

० गृहपतिके० कुण्डलको, या मणिको मोतीको स्वयं चुराता है,० ।

० श्रमणों-ब्राह्मणोंके छत्रोको, दण्डको, भाण्डको, पात्रको, लाठीको, सिवोनको, कपड़को, चादरको, चर्मासनको, छुरेको, या म्यानको, स्वयं चुराता है० ।

सो कोई बिना सोचे ही गृहपति०की फसलको स्वयं जलाता है० ।

अगि०, मणि०, कौडी०, सुभगा करनेवाली(विद्या), दुर्भगाकरी, गर्भकरी, मोहन-करी, अथर्व-वेदी, पाकशासनी(इन्द्रजालिक), द्रव्यहोम, क्षत्रिय-विद्या, चन्द्र-चरित,सूर्यगति, शुक्र-गति, वृहस्पति गति, उल्कापात, दिशा-दाह, मृगचक्र, कौओकी पचायत, धूलि-वृष्टि, केश-वृष्टि, मांस-वृष्टि, रुधिर वृष्टि, (काष्टम चेतना पैदा करनेवाली) वेताली, चाण्डाली, शाम्बरी (साबरी), द्रविड देश वाली, कलिंगवाली, गौरी, गाधारदेशी, नीचे गिरानेकी, ऊपर उठानेकी, जड बनानेवाली (जृम्भिणी), स्तम्भनी, श्लेषणी, रोगकारणी, निरोगकारणी, भूत दूर करनेवाली, (प्रक्रामणी) अन्तर्धान करानवाली, बडी बनाने वाली, (आयामिनी),-इत्यादि विद्याओं (जादू-टोनो) का अन्नकेलिये प्रयोग करते हैं, पान के०, वस्त्र०, लयन०, शयन०, और भी नाना प्रकारके काम-भोगोकेलिये प्रयोग करते हैं, उलटी विद्याओका सेवन करते हैं।

वे अन य अमम पडे कालके समय काल करके किसी एक आसुरी, किल्विष वाले स्थानोम उत्पन्न होनेवाले होते हैं। वहाँ स भी छूटकर फिर भी अधे, गू गे होनेके लिये, तमने अधा बननेकेलिय इस लोकमे लौटते हैं॥३०॥

(६६६) जो उनमसे कोई अपनेलिये, ज्ञातिके लिये, शयनके लिये, आगारकेलिये, परिवारके लिये, जातिवालो या सहवासीके निमित्त निम्न पाप करते हैं—पीछा करनेवाले (अनुगामिक) चोर, सेवा कर ठगनेवाले (उपचारक), वटमार, अथवा सेंध लगानेवाले, अथवा गिरहकट होते हैं। अथवा भेड-वधिक, शूकर०, जालशिकारी, चिडीमार, या मछुआ, गो-घातक, ग्वाला, कुत्ता-पालक, कुत्तेसे शिकार करनेवाला होता है।

कोई अनुगामी (ठग) का भेष से, अनुगमन किये जानेवालको मार कर, छिन्न-भिन्न कर, लोप-विलोप कर या भागकर आहार प्राप्त करता है। इसप्रकार वह भारी पाप कर्मोंके साथ अपनेको प्रसिद्ध करता है। वह एसा आदमी (उपचारक) सेवकका रूप ले उसी उपचार (सेवा) किये जाते पुरुषको मारकर, टूक-टूक कर० आहार जमा करता है। इसप्रकार ०।

करें ? क्या काम करें ? क्या है आपका हित-इष्ट (पदार्थ) ? आपके मुखारविंदको क्या स्वादिष्ट लगता है ?" उसको देखकर अनार्य (चापलूस) बोलत हैं—"यह पुरुष देवता हैं। यह पुरुष देवस्नातक हैं। यह पुरुष तो निश्चय देवजीवनवाले है। दूसरे भी इनके सहारे जीते हैं।" उसको देखकर आर्य (पुरुष) कह उठते हैं—"यह पुरुष क्रूरकर्मा है। यह पुरुष अतिधूर्त है। अतिस्वार्थी, दक्षिण (नरक) गामी नारकीय, काली करतूत वाला है, और भविष्यमें ज्ञानसे वचित होगा।

इस प्रकार मोक्षके लिये प्रव्रजित हो कर उठे भी कोई इस भोगी पुरुष जैसे स्थानको पाना चाहते है। न उठे (अप्रव्रजित) भी चाहते हैं अतिलोलुप भी चाहते हैं। यह स्थान (भोग) अनार्य है मोक्ष से हीन है, अपूर्ण, न्याय-रहित, अशुद्ध, दुःखशल्यके न काटनेका, सिद्धि-मार्ग विमुख, पूर्णतया मिथ्या और असाधु स्थान है,

अ-धर्म-पक्षके विभागका यह प्रथम स्थान है ॥३२॥

३ धर्म-पक्ष विभाग

(६६८) अब दूसरा धर्म-पक्षका विभाग ऐसे कहा जाता है।

यहा पूर्वमें, पश्चिममें, उत्तरमें, या दक्षिणमें कोई-कोई ऐसे मनुष्य होते हैं, जैसे कि—कोई आर्य, कोई अनार्य, कोई उच्च-गोत्र, कोई नीच-गोत्र, कोई अच्छी काया वाले,० (दुहराओ ६४४) पुण्डरीक सा,० सर्वगान्त, सर्व आरमासे परिनिर्वाण प्राप्त, उन्हें मैं कहता हूं।

यह स्थान है आर्य (श्रेष्ठ), केवल (ज्ञान) का०, सारे दुःखोंके नाशका एकान्त, ठीक, उत्तम (मार्ग) है।

द्वितीय धर्म-पक्षस्थानको इस प्रकार कहा गया ॥३३॥

अब तीसरे मिश्रक स्थानका विभाग ऐसे कहा जाता है।

४ पाप-पुण्य मिश्रित कर्म

(६६९) वे जो श्रमण आरण्यक होते हैं (दुहराओ ६४४)०वे वहां से छूट मरकर, फिर एप-मूडक, मूक-गन्धावले होनेके लिये, फिर अधे होनेके लिये,

० ऊटो, गायो, घोडो, गदहोके अंगोको स्वयं ही काटता है० ।

० ऊटसार, ० गदहसारको काटे की शाखाओंसे रूंधकर आगसे जलाता है० ।

० कुण्डलका, मोतीको स्वयं चुराता है० ।

० श्रमणो, ब्राह्मणोके छाते० चर्मखण्डको स्वयं चुराता है० ।

कोई श्रमण या ब्राह्मणको देखकर नाना प्रकारके पाप कर्मोंसे अपनेको प्रसिद्ध करता है, अथवा (उपहासार्थ) अच्छटा (चुटकी) बजानेवाला होता है, कठोर बोलता है। समय आने पर भी अन्न पान नही देता।

वे (लोग) श्रमणोके बारेमे कहते हैं—"जो नीच, भार ढोनेवाले (कुली), आलसी, वृषल (म्लेच्छ जातिक), कृपण, दीन हैं, वे श्रमण होते हैं, प्रव्रज्या लेते है। वे इस धिक्कार वाले जीवनको वहन करते हैं। वे परलोकके लिये कुछ भी नही करते। वे दुःख सहते, शोक करते, झुरते, पछताते, पीडित होते, पिटते, परिताप सहते हैं। वे दुःख-झूरन-पीडन-पिट्टन परितापन-वध-बधन रूपी क्लशोसे निरन्तर लिप्त होते हैं। वे भारी आरम्भ (हिंसा) से, भारी समारम्भसे, भारी आरम्भ-समारम्भसे, नाना प्रकारके पाप कर्म रूपी कृत्योसे बडे मानुषिक भोगोको भोगनेवाले होते हैं। (कौन से भोग ?) जैसे कि, भोजनके समय भोजन, पानके समय पान,० वस्त्र०, लयन०, शयन०। वे साय प्रात स्नान किये, शिरस न्हाये, कण्ठमें माला धारे, मणि-सुवर्ण पहने, फूलोंके मौर को धारे, करधनी, माला दामके समूहको लटकाये, नवीन धुले वस्त्र पहिने, चन्दन चर्चित शरीरवाले, भारी विशाल कोठरी दलानमें भारी विस्तृत सिंहासन पर स्त्री समूहसे घिरे बैठते हैं। सारी रात दीपकके जलते, बाजे बजाते, नाट्य-गीत-वाद्य-वीणा तल-ताल-त्रुटित-मृदगके पटु बजाते स्वरके साथ बड मानुष भोगोंको भोगने मौज करते हैं।

यह एक आज्ञा देने पर बिना बुलाये चार-पाच पुरुष उठ खडे होते हैं, और कहते हैं—कह देवतामोके प्रिय, क्या करें, क्या लावें, क्या भट

करें ? क्या काम करें ? क्या है आपका हित-इष्ट (पदार्थ) ? आपके मुखारविंदको क्या स्वादिष्ट लगता है ?" उसको देखकर अनार्य (चापलूस) बोलते हैं—"यह पुरुष देवता हैं। यह पुरुष देवस्नातक हैं। यह पुरुष तो निश्चय देवजीवनवाले हैं। दूसरे भी इनके सहारे जीते हैं।" उसको देखकर आर्य (पुरुष) कह उठते हैं—"यह पुरुष क्रूरकर्मा है। यह पुरुष अतिधूर्त है। अतिस्वार्थी, दक्षिण (नरक) गामी नारकीय, काली करतूत वाला है, और भविष्यमें ज्ञानसे वंचित होगा।

इस प्रकार मोक्षके लिये प्रव्रजित हो कर उठे भी कोई इस भोगी पुरुष जैसे स्थानको पाना चाहते हैं। न उठे (अप्रव्रजित) भी चाहते हैं अतिलोलुप भी चाहते हैं। यह स्थान (भोग) अनार्य है, मोक्ष से हीन है, अपूर्ण, न्याय-रहित, अशुद्ध, दुःखशल्यके न काटनेका, सिद्धि-मार्ग-विमुख, पूर्णतया मिथ्या और असाधु स्थान है,

अ-धर्म-पक्षके विभागका यह प्रथम स्थान है ॥३२॥

३ धर्म-पक्ष विभाग

(६६८) अब दूसरा धर्म-पक्षका विभाग ऐसे कहा जाता है।

यहां पूर्वमें, पश्चिममें, उत्तरमें, या दक्षिणमें कोई-कोई ऐसे मनुष्य होते हैं, जैसे कि—कोई आर्य, कोई अनार्य, कोई उच्च-गोत्र, कोई नीच-गोत्र, कोई अच्छी काया वाले,० (दुहराओ ६४४) पुण्डरीक मा,० सर्वगान्त, सर्व आत्मासे परिनिर्वाण प्राप्त, उन्हें मैं कहता हूं।

यह स्थान है आर्य (श्रेष्ठ), केवल (ज्ञान) का०, सारे दुःखोंके नाशका एकान्त, ठीक, उत्तम (मार्ग) है।

द्वितीय धर्म-पक्षस्थानको इस प्रकार कहा गया ॥३३॥

अब तीसरे मिश्रक स्थानका विभाग ऐसे कहा जाता है।

४ पाप-पुण्य मिश्रित कर्म

(६६९) वे जो श्रमण आरण्यक होते हैं (दुहराओ ६४४)०वे वहां से छूट मरकर, फिर एड-मूकक, गूंगे-बावले होनेके लिये, फिर अंधे होनेके लिये,

इस दुनियाम लौटते हैं। यह स्थान है अनार्य, अ-केवल० न-सब दु ख-मार्ग नाशका-मार्ग, बिल्कुल मिथ्या, बुरा।

तृतीय मिश्रक स्थानको इस तरह कहा गया ॥३४॥

५ अ-धर्म पक्ष विभंग

(६७०) अत्र प्रथम अधर्मपक्षस्थानका विभग कहा जाता है ॥

यहा पूर्वम० कोई मनुष्य गृहस्थ, महेच्छुक, महा-आरभ, महापरिग्रह, अधार्मिक, अ-धर्मानुगामी अधर्मिष्ट, अ धर्मवादी, अधर्मप्राय जीविकावाले, अधर्म देखनेवाले, अधमम लिप्त, अधर्मयुक्त शील (आचार) वाले, अधर्मसे ही जीविका करते विहरते हैं। मारो छेदो काटो, (कहते), जीवोके काटनेवाले खून रगे हाथ वाले, चण्ड, रौद्र, क्षुद्र दुस्साहसी, (होते हैं) घूस बचना ठगी-ढोग बटमारी कपट आदि के बहुत प्रयोग करनेवाले होते है। दुश्शील, दुर्व्रत होते हैं। सारी हिंसाओसे अविरत, जीवन भर सारे परिग्रहोमे अविरत, सारे क्रोधसे० मिथ्यादृष्टि (रूपी) शल्यसे अविरत नहाने, शरीर दबाने रग लेपन, शब्द रूप रस गध माला अलकार धारनेसे जीवन भर अविरत रहते। सारे गाडी रथ-यान-युग्य गिल्लि थिल्लि-स्पन्दन शयन-आसन वाहन भोग्यवस्तु बहु प्रकार के भोजनके विधानसे जीवन भर अविरत रहते। सब तरहके बेचने-खरीदने, मासे, आधेमाग, रुपयके व्यवहारस जीवन भर अविरत रहते। सब तरहके अशर्फी, सोने, धन धान्य, मणि-मोती, शख, शिल, मूगेसे जीवनभर अविरत रहते हैं। सब तरह के डडी मारने, बाट मारा गे जीवनभर अविरत होते। सब प्रकारके आरम्भ समारम्भ सब प्रकारके पकाने पकवानेसे जीवन भर अविरत। सब तरहके कूटने पीटने, तर्जन, ताडने, वध बधन, और कष्टदेनेसे जीवनभर अविरत होते हैं।

जैसे कि कोई-कोई पुरुष चावल, मसूर, तिल, मूग, उडद, निष्पाव, कुल्थी, चवला, परिमन्थक आदिको अत्यन्त क्रूर मिथ्यादण्ड (कष्ट) देते। ऐसे ही दूसरे प्रकारके पुरुष, तीतर, बटेर, कबूतर, कपिजल, मृग, भैंस, सूअर, मगर, गोह, कछुवे, सरकनेवाले जन्तु आदि पर अत्यन्त क्रूर

दण्ड देते हैं। उनकी वाहरी जमात होती है, जैसे कि, (क्रीत) दास, पठवनिये, नौकर, पत्तीदार, कमकर भोग समान पुरुष। छोटेस अपराध पर उनको स्वय ही भारी दण्ड देते हैं। जसे (कहते हैं) † इसे डडो, इसे मूँड दो, इसे तजना दो, इसे ताडना दो, इसकी मुमुक बाँधो इसे बेडी लगाओ, इस हाडीवधन करो इसे चारक बधन करो, इसे दो जजीरोम सिकोडकर जुडवा दो, इसे हथकटा करो इस पैरकटा करो इसे कनकटा करो, इस नाक ओठ सिर मु हकटा करा। इस उपाडे नयनोवाला करदो। इसे दाँत उपाडा बना दो। इस वहोश और अग छिन्न बनाओ। इस पलकक्टा बनाओ। इस अण्ड निकाला, जिह्वा निकाला बना लटका दो। इस धरती पर घसीटता पानीम डुबोया बनाओ मूलीपर चढाओ। सूलीसे छिन्न भिन्न बनाओ। नमक छिडका बनाओ। वध्य हुआ बनाओ। इस सिहपुच्छितक- बैल पुच्छितक बनाओ। जगनी आगम जला बनाओ। इस कौवेका खाया जानवाला मास बनाओ। इस भात पानी न दो। इसे जीवन भरका वध-वधन कर दो। इस बुरी मार स मार दो।

जो उसकी भीतरी (घरु) जमात होती है जैसे कि माता, पिता, भाई, वहन, भाया, पुत्र, पुत्री वहू। उनके छोटस अपराध पर स्वय भारी दण्ड देता है। विकट ठडे जलम फक देते हैं। जो दण्ड शत्रुओंके लिये कहे गय हैं, व दते हैं। वे परलोकम दु खित होते, शोक करते, क्रन्दते हैं, कष्ट पाते, पीडित होत, परितप्त होत है। वह दुखने० भ इने परितापन, वध-वधन परिक्लेशस अविरत होते हैं।

इसी प्रकार वे स्त्रीभोगम मूर्छित, लोभित, गृ ध, आसक्त, चार-पाँच छ दस वर्षोतक कम या वेशी काल तक भोगोको भोगकर, बहुत सारे

† राजदण्डोंको मिलाओ, मज्झिमनिकाय, (महादुक्खक्खन्धसुत्त १-२-३)

वैर समूह सचित कर, बहुतसे पाप कर्मोंका सचय कर पापके भारसे वैसे उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि, लोहेका गोला या पत्थरका गोला पानीमे फेंकने पर पानी पार कर धरतीके तल पर जाकर टिकता है। ऐसे ही ऐसा पुरुष बहुतसे पर्यायो तक दु:खोवाला, कष्टवाला, वैरोवाला, अविश्वासोवाला, दम्भोवाला, नियतोवाला, अपयशोवाला, त्रस-जगम प्राणियोका घातक, काल मा मर कर पृथिवी तल को छोड नरकतलमे जा के टिकता है ॥३५॥

६. नरक आदि गति

(६७१) वे नरक भीतरसे गोल बाहरसे चौकोने, नीचे छुरेके आकारसे अवस्थित हैं। वह नित्य ही घोर अधकारवाले, ग्रह-चन्द्र-सूर्य-तारों-तारापथोसे रहित हैं। चरबी-वसा-खून पीव समूहसे लिप्त लेपनके तलवालेहै। वे अशुचि, बिसानेवाले, परम दुर्गन्धवाले, काले, अग्निवाणके, ककश स्पर्शयुक्त, असह्य, बुरे हैं। नरक अशुभ हैं। नरकोम यातना अशुभ होती है। नरकोम नारकीय (पुरुष) नही सो सकते, न भाग सकते। वह शुचि, रति, धैर्य, या मतिको नही पा सकते। वे (नारकीय) वहाँ जलती, भारी, विपुल, कडवी, कर्कश, दु सभय, दुर्गम, तीव्र, दुस्सह पीडाको भोगते हैं। जैसे कोई पेड पर्वतके ऊपरी भाग पर उत्पन्न हो। उसकी जड कटी, ऊपरकी ओर भारी हो, निम्न या विषम, दुगम होनेके कारण वहा से वह गिर जाय। ऐसे ही वैसा पुरुष एक गर्भसे दूसरे गर्भ म जाता है, एक जन्मसे दूसरे जन्म मे, ० मरणमें, ० नरग,० दु खमे जाता है। दक्षिणकी ओर जानेवाला वह नारकीय पुरुष काले पक्षवाला हो समभनम दुष्कर भी होता है।

यह स्थान अनार्य, अ-केवल ० न-सर्वदु खनाशक मार्ग, बिल्कुल मिथ्या और बुरा है। प्रथम अधर्मपक्ष स्थानका विभग ऐसे कहा गया ॥३६॥

७ आर्य धर्मपक्ष स्थान

(६७२)अब अन्य द्वितीय धर्मपक्षस्थानका विभग ऐसे कहा जाता है।

यहा पूर्वम ० कोई कोई मनुष्य होते हैं, जो —आरम्भहीन, परिग्रह-हीन, धार्मिक, सुज, धर्मिष्ठ होते हैं। ० वे धर्मसे ही जीवन वृत्ति करते विहरते हैं। वे सुशील, व्रतयुक्त, आनन्दप्रवण, सुसाधु होते हैं। वह सब तरहसे जीवनभर हिंसा-विरत होते हैं, ०

जैसे आगारहीन (अर्हत्) भगवान् ईर्याकी समिति (सयम), वाणीकी समिति, एषणा०, आदान०, आवश्यक सामग्रीके ग्रहणमे वस्तुओकी मात्रा और निक्षेपकी समितिसे युक्त होते हैं। वे पेशाब-पाखाने-थूक-(नासिकामल) के डालनेमे समित, वचनमे समित, कायामे मनसे सयत, वचनसे सयत, कायसे गुप्त (सयत), गुप्त-इन्द्रिय, गुप्त ब्रह्मचर्य होते हैं। वे क्रोध, मान, माया, लोभसे हीन होते हैं। शान्त और निर्वाणप्राप्त होते हैं। आस्रव (चित्तमल) और मनकी गाठोसे हीन होते हैं। शोक दूर किये निर्लेप वैसे होते हैं, जैसे पानीसे खाली कासेकी कटोरी, बिना मलकी शख। वे जीवकी भाति अव्याहतगति, आकाश की भाति निरवलब, वायु की भाति अबद्ध, शरद्कालके जलकी भाति शुद्धहृदय, कमलपत्र की भाति निर्लेप होते हैं। वे कछुवेकी नाई गुप्त-इन्द्रिय, पक्षीकी नाई मुक्त, गैंडेके सीग की नाई अकेले, कुजरकी नाई निर्भय, साण्डकी नाई दृढ, सिंह-की नाई दुर्धर्ष, मदर (पर्वत) की नाई अकम्प्य, सागरकी नाई गम्भीर, चन्द्रमाकी नाई सोम्य प्रकृति, सूर्यकी नाई दीप्त तेजवाले, स्वभावसे सोने जैसे निर्मल, वसुन्धराकी नाई सब सहनेवाले होते हैं। अच्छे होमे अग्नि जैसे तेजसे जल प्रकाश रहते हैं।

उन भगवानोको कोई प्रतिबध (रुकावट) नहीं। वे प्रतिबंध चार प्रकारके कहे गये हैं। जैसे अंडज (पक्षी), पोतक (पशु बच्चे), अवग्रह (शयनासन आदि) और प्रग्रह (बिहार आदि)। जिस-जिस दिशामें जाते हैं, उस-उस दिशामे प्रतिबध रहित, शुचिभूत, हल्के रूपमें, गाठ हीन, सयम और तपसे भावना करते विहरते हैं।

उन भगवानोकी ऐसी जीवनयात्रा होती थी। जैसे एक दिनके बाद

वैर समूह सचित कर, बहुतसे पाप कर्मोंका सचय कर पापके भारसे वैसे उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि, लोहेका गोला या पत्थरका गोला पानीमें फेंकने पर पानी पार कर धरतीके तल पर जाकर टिकता है। ऐसे ही ऐसा पुरुष बहुतसे पापों तक दुःखोंवाला, कष्टवाला, वैरवाला, अविश्वासवाला, दम्भवाला, निवडीवाला, अपयशवाला, त्रस-स्थावर प्राणियोंका घातक, काल पा मर कर पृथिवी तल को छोड़ नरकतलमें जा के टिकता है ॥३५॥

६. नरक आदि गति

(६७१) वे नरक भीतरसे गोल बाहरसे चौकोन, नीचे छुरेके आकारमें अवस्थित हैं। वह नित्य ही घोर अंधकारवाले, ग्रह-चन्द्र-सूर्य तारों-ताराओंसे रहित है। चरबी-वसा-मांस-पीब-समूहसे लिप्त तलवाले हैं। वे अशुचि, विस्रावाले, परम दुर्गन्धवाले, काले, अग्निवाले, ककश स्पर्शयुक्त, असह्य, बुरे हैं। नरक अशुभ हैं। नरकोंमें यातना अशुभ होती है। नरकोंमें नारकीय (पुरुष) नहीं सो सकते, न भाग सकते। वह शुचि रति, धैर्य या मति नहीं पा सकते। वे (नारकीय) वहाँ जलती, भारी, विपुल, कड़वी ककश, दुःखमय, दुर्गम, तीव्र, दुःसह पीड़ाको भोगते हैं। जैसे कोई पेड़ पर्वतके ऊपरी भाग पर उत्पन्न हो। उसकी जड़ कटी ऊपरकी ओर भारी हो, निम्न या विषम, दुर्गम होनेके कारण वहा से वह गिर जाय। ऐसे ही वैसा पुरुष एक गर्भसे दूसरे गर्भ में जाता है, एक जन्मसे दूसरे जन्म में, ० मरणमें, ० नरक ० दुःखमें जाता है। दक्षिणकी ओर जानेवाला वह नारकीय पुरुष काले पक्षवाला हो समझमें दुष्कर आ होता है।

यह स्थान अनार्य, अ-केवल ० न-सर्वदुःखनाशक मार्ग, बिल्कुल मिथ्या और बुरा है। प्रथम अधर्मपक्ष स्थानका विभग ऐसे कहा गया ॥३६॥

७ आर्य धर्मपक्ष स्थान

(६७२)अब अन्य द्वितीय धर्मपक्षस्थानका विभग ऐसे कहा जाता है।

यहा पूर्वमे ० कोई कोई मनुष्य होते हैं, जो—आरम्भहीन, परिग्रह-हीन, धार्मिक, सुज्ञ, धर्मिष्ठ होते हैं। ० वे धर्मसे ही जीवन वृत्ति करते विहरते हैं। वे सुशील, व्रतयुक्त, आनन्दप्रवण, सुसाधु होते हैं। वह सब तरहसे जीवनभर हिंसा-विरत होते हैं, ०

जैसे आगारहीन (अर्हंत्) भगवान् ईर्याकी समिति (सयम), वाणीकी समिति, एषणा०, आदान०, आवश्यक सामग्रीके ग्रहणमे वस्तु-ओकी मात्रा और निक्षपकी समितिसे युक्त होते हैं। वे पेशाब-पाखाने-थूक-(नासिकामल) के डालनेमे समित, वचनमे समित, कायामे मनसे सयत, वचनसे सयत, कायसे गुप्त (संयत), गुप्त-इन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचर्य होते हैं। वे क्रोध, मान, माया, लोभसे हीन होते हैं। शान्त और निर्वाणप्राप्त होते हैं। आस्रव (चित्तमल) और मनकी गाठोसे हीन होते हैं। शोक दूर किये निर्लेप वैसे होते हैं, जैसे पानीसे खाली कासेकी कटोरी, बिना मलकी शंख। वे जीवकी भाति अव्याहतगति, आकाश की भाति निरवलंब, वायु की भाति अबद्ध, शरद्कालके जलकी भाति शुद्धहृदय, कमलपत्र की भाति निर्लेप होते हैं। वे कछुवेकी नाई गुप्त-इन्द्रिय, पक्षीकी नाई मुक्त, गेंडेके सीग की नाई अकेले, कुंजरकी नाई निर्भय, साण्डकी नाई दृढ, सिंह-की नाई दुर्धर्ष, मदर (पर्वत) की नाई अकम्प्य, सागरकी नाई गम्भीर, चन्द्रमाकी नाई सौम्य प्रकृति, सूर्यकी नाई दीप्त तेजवाले, स्वभावसे सोने जैसे निर्मल, वसुन्धराकी नाई सब सहनेवाले होते हैं। अच्छे होमे अग्नि जैसे तेजसे जल प्रकाश रहते हैं।

उन भगवानोको कोई प्रतिबंध (रुकावट) नहीं। वे प्रतिबंध चार प्रकारके कहे गये हैं। जैसे अंडज (पक्षी), पोतक (पशु बच्चे), अवग्रह (शयनासन आदि) और प्रग्रह (विहार आदि)। जिस-जिस दिशामे जाते हैं, उस-उस दिशामे प्रतिबंध रहित, शुचिभूत, हल्के रूपमे, गाठ हीन, सयम और तपसे भावना करते विहरते हैं।

उन भगवानोकी ऐसी जीवनयात्रा होती थी। जैसे एक दिनके बाद

वैर समूह सचित कर, बहुतसे पाप कर्मोका सचय कर पापके भारसे वैसे उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि, लोहेका गोला या पत्थरका गोला पानीमे फेंकने पर पानी पार कर धरतीके तल पर जाकर टिकता है। ऐसे ही ऐसा पुरुप बहुतसे पर्यायो तक दु खोवाला, कष्टवाला, वैरोवाला, अविश्वासोवाला, दम्भोवाला, नियतावाला, अपयशोवाला, त्रस-जगम प्राणियोका घातक, काल पा मर कर पृथिवी तल को छोड नरकतलमे जा के टिकता है ॥३५॥

६ नरक आदि गति

(६७१) वे नरक भीतरसे गोल बाहरसे चौकोने, नीचे खुरपेके आकारमे अवस्थित हैं। वह नित्य ही घोर अधकारवाले, ग्रह-चन्द्र-सूर्य-तारो तारापथोसे रहित है। चरबी-वसा-खून-पीव समूहसे लिप्त लेपनके तलवालेहै। वे अशुचि, बिसानेवाले, परम दुर्गन्धवाले, काले, अग्निवाणसे, कर्कश स्पर्शयुक्त, असह्य, बुरे हैं। नरक अशुभ हैं। नरकोमे यातना अशुभ होती है। नरकोमे नारकीय (पुरुष) नही सो सकते, न भाग सकते। वह शुचि, रति, धैर्य, या मतिको नही पा सकते। वे (नारकीय) वहाँ जलती, भारी, विपुल, कडवी, कर्कश, दु समय, दुर्गम, तीव्र, दुस्सह पीडाको भोगते है। जैसे कोई पेड पर्वतके ऊपरी भाग पर उत्पन्न हो। उसकी जड कटी, ऊपरकी ओर भारी हो, निम्न या विषम, दुगम होनेके कारण वहा से वह गिर जाये। ऐसे ही वैसा पुरुप एक गर्भसे दूसरे गर्भ मे जाता है, एक जन्मसे दूसरे जन्म मे, ० मरणमे, ० नरक,० दु खमे जाता है। दक्षिणकी ओर जानेवाला वह नारकीय पुरुप काले पक्षवाला हो समझनेमे दुष्कर भी होता है।

यह स्थान अनार्य, अ-केवल ० न-सर्वदु खनाशक मार्ग, बिलकुल मिथ्या और बुरा है। प्रथम अधर्मपक्ष स्थानका विभग ऐसे कहा गया ॥३६॥

७ आर्य धर्मपक्ष स्थान

(६७२)अब अन्य द्वितीय धर्मपक्षस्थानका विभग ऐसे कहा जाता है।

यहां पूर्वमें ० कोई कोई मनुष्य होते हैं, जो—आरम्भहीन, परिग्रह-हीन, धार्मिक, सुज्ञ, धर्मिष्ठ होते हैं। ० वे धर्मसे ही जीवन वृत्ति करते विहरते हैं। वे सुशील, व्रतयुक्त, आनन्दप्रवण, सुसाधु होते हैं। वह सब तरहसे जीवनभर हिंसा-विरत होते हैं, ०

जैसे आगारहीन (अर्हत्) भगवान् ईर्याकी समिति (संयम), वाणीकी समिति, एषणा०, आदान०, आवश्यक सामग्रीके ग्रहणमें वस्तुओंकी मात्रा और निक्षेपकी समितिसे युक्त होते हैं। वे पेशाब-पाखाने-थूक-(नासिकामल) के डालनेमें समित, वचनमें समित, कायामें मनसे संयत, वचनसे संयत, कायसे गुप्त (संयत), गुप्त-इन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचर्य होते हैं। वे क्रोध, मान, माया, लोभसे हीन होते हैं। शान्त और निर्वाणप्राप्त होते हैं। आस्रव (चित्तमल) और मनकी गाठोंसे हीन होते हैं। शोक दूर किये निर्लेप बने होते हैं, जैसे पानीसे खाली कांसेकी कटोरी, विना मलकी शंख। वे जीवकी भांति अव्याहतगति, आकाश की भांति निरवलंब, वायु की भांति अबद्ध, शरद्‌कालके जलकी भांति शुद्धहृदय, कमलपत्र की भांति निर्लेप होते हैं। वे कछुवेकी नाई गुप्त-इन्द्रिय, पक्षीकी नाई मुक्त, गेंडेके सींग की नाई अकेले, कुंजरकी नाईं निर्भय, साण्डकी नाई दृढ, सिंहकी नाई दुर्धर्ष, मंदर (पर्वत) की नाई अकम्प्य, सागरकी नाई गम्भीर, चन्द्रमाकी नाई सौम्य प्रकृति, सूर्यकी नाई दीप्त तेजवाले, स्वभावसे सोने जैसे निर्मल, वसुन्धराकी नाई सब सहनेवाले होते हैं। अच्छे होमे अग्नि जैसे तेजसे जल प्रकाश रहते हैं।

उन भगवानोंको कोई प्रतिबंध (रुकावट) नहीं। वे प्रतिबंध चार प्रकारके कहे गये हैं। जैसे अंडज (पक्षी), पोतक (पशु बच्चे), अवग्रह (शयनासन आदि) और प्रग्रह (विहार आदि)। जिस-जिस दिशामें जाते हैं, उस-उस दिशामें प्रतिबंध रहित, शुचिभूत, हल्के रूपमें, गांठ हीन, संयम और तपसे भावना करते विहरते हैं।

उन भगवानोंकी ऐसी जीवनयात्रा होती थी। जैसे एक दिनके बाद

वैर समूह संचित कर, बहुतसे पाप कर्मोंका संचय कर पापके भारसे वैसे उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि, लोहेका गोला या पत्थरका गोला पानीमे फेंकने पर पानी पार कर धरतीके तल पर जाकर टिकता है। ऐसे ही ऐसा पुरुष बहुतमे पर्यायो तक दुःखोवाला, कष्टवाला, वैरोवाला, अविश्वासोवाला, दम्भोवाला, नियतोवाला, अपयशोवाला, त्रस-जगम प्राणियोका घातक, काल पा मर कर पृथिवी तल को छोड नरकतलमे जा के टिकता है ॥३५॥

६ नरक आदि गति

(६७१) वे नरक भीतरसे गोल बाहरसे चौकोने, नीचे खुरपेके आकारमे अवस्थित हैं। वह नित्य ही घोर अधकारवाले, ग्रह-चन्द्र-सूर्य-तारो-तारापथोंसे रहित है। चरबी-वसा-खून-पीव-समूहसे लिप्त लेपनके तलयालेहै। वे अशुचि, बिसानेवाले, परम दुर्गन्धवाले, काले, अग्निवाएसे, कर्कश स्पर्शयुक्त, असह्य, बुरे हैं। नरक अशुभ हैं। नरकोमे यातना अशुभ होती है। नरकोंमे नारकीय (पुरुष) नही सो सकते, न भाग सकते। वह शुचि, रति, धैर्य, या मतिको नही पा सकते। वे (नारकीय) वहाँ जलती, भारी, विपुल, कडवी, कर्कश, दु खमय, दुर्गम, तीव्र, दुस्सह पीडाको भोगते हैं। जैसे कोई पेड पर्वतके ऊपरी भाग पर उत्पन्न हो। उसकी जड कटी, ऊपरकी ओर भारी हो, निम्न या विपम, दुर्गम होनेके कारण वहा से वह गिर जाये। ऐसे ही वैसा पुरुष एक गर्भसे दूसरे गर्भ म जाता है, एक जन्मसे दूसरे जन्म मे, ० मरणमे, ० नरक,० दु खमे जाता है। दक्षिणकी ओर जानेवाला वह नारकीय पुरुष काले पक्षवाला हो समझनेम दुष्कर भी होता है।

यह स्थान अनार्य, अ-केवल ० न-सर्वदु खनाशक मार्ग, बिल्कुल मिथ्या और बुरा है। प्रथम अधर्मपक्ष स्थानका विभग ऐसे कहा गया ॥३६॥

७ आर्य धर्मपक्ष स्थान

(६७२) अब अन्य द्वितीय धर्मपक्षस्थानका विभग ऐसे कहा जाता है।

यहा पूर्वमें ० कोई कोई मनुष्य होते हैं, जो—आरम्भहीन, परिग्रह-हीन, धार्मिक, सुज्ञ, धर्मिष्ठ होते हैं। ० वे धर्मसे ही जीवन वृत्ति करते विहरते हैं। वे सुशील, व्रतयुक्त, आनन्दप्रवण, सुसाधु होते हैं। वह सब तरहसे जीवनभर हिंसा-विरत होते हैं, ०

जैसे आगारहीन (अर्हत्) भगवान् ईर्याकी समिति (संयम), वाणीकी समिति, एषणा०, आदान०, आवश्यक सामग्रीके ग्रहणमें वस्तु-ओंकी मात्रा और निक्षेपकी समितिसे युक्त होते हैं। वे पेशाब-पाखाने-थूक-(नासिकामल) के डालनेम समित, वचनम समित, कायामें मनसे संयत, वचनसे संयत, कायसे गुप्त (संयत), गुप्त इन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचर्य होते हैं। वे क्रोध, मान, माया, लोभसे हीन होते हैं। शान्त और निर्वाणप्राप्त होते हैं। आस्रव (चित्तमल) और मनकी गाठोंसे हीन होते हैं। शोक दूर किये निर्लेप वैसे होते हैं, जैसे पानीसे खाली कासेकी कटोरी, बिना मलकी शख। वे जीवकी भाति अव्याहतगति, आकाश की भाति निरवलंब, वायु की भाति अबद्ध, शरद्कालके जलकी भाति शुद्धहृदय, कमलपत्र की भाति निर्लेप होते हैं। वे कछुवेकी नाई गुप्त-इन्द्रिय, पक्षीकी नाई मुक्त, गैंडेके सींग की नाई अकेले, कुंजरकी नाई निर्भय, साण्डकी नाई दृढ, सिंह-की नाई दुर्धर्ष, मदर (पर्वत) की नाई अकम्प्य, सागरकी नाई गम्भीर, चन्द्रमाकी नाई सौम्य प्रकृति, सूर्यकी नाई दीप्त तेजवाले, स्वभावसे सोने जैसे निर्मल, वसुन्धराकी नाई सब सहनेवाले होते हैं। अच्छे होमे अग्नि जैसे तेजसे जल प्रकाश रहते हैं।

उन भगवानोंको कोई प्रतिबंध (रुकावट) नहीं। वे प्रतिबंध चार प्रकारके कहे गये हैं। जैसे अंडज (पक्षी), पोतक (पशु बच्चे), अवग्रह (शयनासन आदि) और प्रग्रह (विहार आदि)। जिस-जिस दिशाम जाते हैं, उस-उस दिशामें प्रतिबंध रहित, शुचिभूत, हल्के रूपमे, गाठ हीन, संयम और तपसे भावना करते विहरते हैं।

उन भगवानोंकी ऐसी जीवनयात्रा होती थी। जैसे एक दिनके बाद

भोजन करनेवाले, दो०, तीन०, चार०, पाँच०, छ०, सात०, आठवें,० दसवें०, बारहवें०, चौदहवें०, अर्धमासिक, द्विमासिक,० त्रैमासिक०, चातुर्मासिक०, पंचमासिक०, छ मासिक भोजन ग्रहण करते। फिर कोई, भिक्षाको हाडीसे निकाले अन्नको लेते, कोई रखे को, निकाले-रक्खे दोनो को, प्रान्तम लेनवाले, प्रान्तमे न लेनेवाले, अन्तम लेनवाले, रूखाहारी, अनेक घर-आहारी, न भरे हाथ मिलके आहारी, उससे उत्पन्न सम्पर्कके आहारी, देखेके आहारी, न देखेके०, पूछके०, बिना पूछे०, (दे० अनुत्तरोपपातिक अग ६) शुद्ध भिक्षा०, अभिक्षा०, अज्ञात०, समीपस्थ०, सख्यासे दत्त०, परिमितप्रा०, होते हैं। वे होते हैं शुद्धाहार, अन्ताहार, प्रान्ताहार, अरसआहार०, विरस०, रुक्ष०, तुच्छ० । वे अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, होते। कोई आयबिल कोई दोपहर बाद पानेवाले, और कोई निर्विकृतिक-मीठे, चिकने आहारके त्यागी होते हैं। वे मद्य-मास कतई नही खाते। न बहुत स्वाद लेते,। वे कायोत्सर्गस्थ, प्रतिमा-स्थानसे युक्त, उकुडू-आसनवाले, । पालथी वाले, वीरासन वाले, दण्डवत् आसनसे, टेढे काटसे आसनवाले। वह बिना ढँके शरीर वाले, गतिहीन चित्तवाल होते है। वे न खुजलाते न थूकते। ० (औपपातिक सूत्रम आये प्रसंग अनुसार यहा भी पाठ)। केश दाढी-रोम नखको सजाते नही। सारे गात्रके सँवारने से मुक्त होते।

वे इस विहारसे विहरते बहुत वर्षों तक श्रमण सम्बन्धी दीक्षाका पालन करते। बाधा उत्पन्न होने या न होनेपर भी बहुतसे दैनिक आहार छोड देते। अन्न छोडकर बहुतसे भोजनोंका अनशनसे विच्छेद करते हैं। अनशनसे विच्छेद करके उस पदार्थको प्राप्त करते हैं, जिसके लिए जिन-कल्पभाव, स्थविरकल्पभाव होना, मुण्ड होने, स्नान त्याग, दतुवन छोडना, छत्ता छोडना, जूता छोडना, भूमिशय्या, तख्ते की या काठकी शय्या, केश लुचन, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ पर-घर-प्रवेश, मिलते न-मिलते मान-अपमान, अवहेलना, निन्दना, खुनसाना, गर्हणा तर्जना, ताडना, नाना प्रकारके ग्राम्य दुःखनक काटे, अप्रिय लगनेवाले, बाईस प्रकारके परिषह-

उपसर्ग-कष्ट-बाधायें सहे जाते हैं।

उस अर्थकी आराधना पूरा कर, अन्तिम मानस अनन्त, अनुपम, आघात-हीन, निरावरण, पूर्ण, सम्पूर्ण (परिपूर्ण), केवल वर ज्ञान दर्शनको उत्पादित करते हैं। उसके बाद सिद्ध बुद्ध मुक्त होते, परिनिर्वाण प्राप्त कर सारे दु:खोंका अन्त करते हैं।

कोई एक (जन्म) मे भयत्राता जिन हो जाते है। दूसरे पूर्व-कर्मके बचे रहनेसे समय पा मरकर किसी एक देवलोकमे देवता बन पैदा होते हैं। वे(देवता, जैसे…महा महा ऋद्धिक, महा-द्युतिक, महापराक्रमी, महायशस्वी, महाबल, महानुभाव, महासुख। व वहा महर्द्धिक ० होते है। व होते हैं ' हार-विराजित वक्षवाल, कंकण कयूर सहित भुजा वाले, अगद-कुण्डल स भ्राजते कपोल-कर्ण वाल, विचित्र-हस्त भूषण वाले, विचित्र माला मोर और मुकुट वाले, सुन्दर गंध उत्तम वस्त्र पहनने वाले, अच्छ श्रेष्ठ माला-लेपन धारी, चमकत शरीर वाले, लब लटकते वन माला धारी। वे दिव्य रूपसे, दिव्य वर्णसे, दिव्य गन्धसे, दिव्य स्पर्शसे, दिव्य संघातसे, दिव्य आकारसे, दिव्य ऋद्धिस, दिव्य द्युतिसे, दिव्य प्रभासे, दिव्य अर्चासे, दिव्य तेजसे, दिव्य लेश्याओं (अत्स्वभावो) से, युक्त हो दसो दिशाओंको उद्योतित, प्रभासित, करते विचरते हैं। वे गति मे कल्याण(सुन्दर), स्थितिम कल्याण, भविष्य म भद्र होंगे।

यह स्थान आर्य ० सर्व दु:ख नाशका मार्ग, पूर्णतया सम्यग् सुसाधु है।

द्वितीय धर्मपक्ष स्थानका विभग ऐसे कहा गया ॥३८॥

८ पाप-पुण्य-मिश्रित

(६७३) अब तीसरे मिश्रक स्थानका विभग कहा जाता है। यहा पूर्वमे कोई मनुष्य होते है ० साधु। वे स्थूल प्राणिहिंसास विरत होते हैं ०। और जो दूसरे उस तरहके सदोष न बोधिक कर्म-समारंभ पर

भोजन करनेवाले, दो०, तीन०, चार०, पाच०, छ०, सात०, आठवें,० दसवें०, बारहव०, चौदहव०, अधमासिक, द्विमासिक,० त्रैमासिक०, चातुर्मासिक०, पचमासिक०, छ मासिक भोजन ग्रहण करते। फिर कोई, भिक्षाको हाडीसे निकाले अन्नको लेते, कोई रखसे को, निकाले-रक्खे दोनो को, प्रा तम लनेवाल, प्रान्तम न लेनेवाल, अ तम लेनेवाले, रूक्षाहारी, अनेक घर-आहारी, न भरे हाथ मिलके आहारी, उससे उत्पन्न सम्पकके आहारी, देखके आहारी, न देखेके०, पूछके०, विना पूछे०, (दे० अनुत्तरोपपातिक अग ६) तुच्छ भिक्षा०, अभिक्षा०, अज्ञात०, समीपस्थ०, सख्यासे दत्त०, परिमितग्रा।०, होते हैं। व होते हैं शुद्धाहार, अन्ताहार, प्रान्ताहार, अरसआहार०, विरस०, रूक्ष०, तुच्छ०। वे अन्तजीवी, प्रा तजीवी, होते। कोई आयबिल कोई दोपहर बाद ानेवाले, और कोई निर्विकृतिक-मीठे चिकने आहा के त्यागी होते हैं। वे मद्य मास कतई नही खाते। न बहुत स्वाद लेते, । व कायोत्सगस्थ, प्रतिमा-स्थानस युक्त, उत्कुट्ठ आसनवान, । पालथी वाल, वीरासन वाल, दण्डवत् आसनसे, टड कटस आसनवान। वह विना ढँके शरीर वाल, गतिहीन चित्तवाल होते है। वे न खुजलाते न थूकते। ० (औपपातिक सूत्रम आये प्रसग अनुसार यहा भी पाठ)। केश द ढी-रोम नखको सजाते नही। सारे गात्रके सँवारने से मुक्त होते।

व इस विहारसे विहरते बहुत वर्षों तक श्रमण्य सम्बन्धी दीक्षाका पालन करते। बाधा उत्पन्न होने या न होनपर भी बहुतसे दैनिक आहार छोड देते। अन्न छोडकर बहुतसे भोजनोका अनशनस विच्छेद करत है। अनशनसे विच्छेद करके उस पदार्थको प्राप्त करत हैं जिसके लिये जिन कल्पभाव, स्थविरकल्पभाव होना, मुण्ड होने, स्नान त्याग, दतुवन छोडना, छता छोडना, जूता छोडना, भूमिशय्या, तख्ते की या काष्ठकी शय्या, केश लुचन, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ पर घर प्रवेश मिलते न मिलते मान-अपमान, अवहेलना, निन्दना, खुनसाना, गर्हणा तर्जना, ताडना, नाना प्रकारके ग्रामके दुर्वचनकटक, अप्रिय लगनेवाले, बाईस प्रकारके परिषह-

प्राणको परिताप किये जाते हैं, उनमें से भी किसी किसी से विरत नहीं होते हैं। जैसे कि जो श्रमणोंके उपासक होते हैं, वे जीव-अजीव-पुण्य-पाप आस्रव संवर निर्जरा क्रिया-अधिकरण-बंध मोक्षको जानते हैं। वे बिना किसीकी सहायतासे भी किसी देव-असुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष राक्षस-किन्नर किम्पुरुष-गरुड-गन्धर्व महाउरग-आदि देवगणों द्वारा, निर्ग्रन्थ धर्म वचनसे स्खलित नहीं किये जा सकते। इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन (जैन आगम) में शंका-रहित, कांक्षा-रहित, विचिकित्सा-रहित हैं, वह यथार्थको लाभ किये, ग्रहण किये हैं। निश्चितार्थ अवगत-अर्थ हैं। अस्थि मज्जाके प्रेममें भी अनुरक्त हैं। वह मानते हैं—आवुसो, यह जो निर्ग्रन्थ प्रवचन है, यह परमार्थ है बाकी बेकार है, वे स्फटिकसे शुद्ध मन वाले, खुले द्वार वाले, बिना सम्मतिके किसीके अन्त पुर(गृह) में प्रवेश करनेवाले नहीं होते। महीनेकी चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमामें परिपूर्ण उपोसथ(प्रौषध उपवास)को अच्छी तरह पालन करते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमणोंको अनुकूल वाछनीय-अन्न-पान-खाद्य-स्वाद्य-वस्त्र-परिग्रह -कंबल-पैरपोंछना औषध भेषज्य पीढा तख्ता-शय्या विस्तरेको प्राप्त कराते हैं। बहुतसे शीलव्रत गुणव्रत, त्याग-प्रत्याख्यान पौषध उपवास द्वारा ग्रहणकी रीतिके अनुसार तपकर्मोंसे आत्मा को शुद्ध करते विहरते हैं।

वे इसप्रकारके विहारसे विहरते बहुत वर्षोंतक श्रमणोपासक दीक्षाओं-को सेवन करते हैं। बहुतसे भोजनोंका प्रत्याख्यान त्यागकर अनशनसे साथ विच्छेद करते हैं। बहुतसे भोजनोंको अनशनसे विच्छिन्न कर आलो-चना और प्रतिक्रमण कर समाधि प्राप्त हो काल पा, मर कर किसी एक देवलोकमें देवता होकर पैदा होते हैं। जैसे महर्द्धिकोंमें ०।

यह मिश्रक-स्थानका विभंग ऐसे कहा गया।

६, अरति-विरति

(६७४) अ-रतिको लेकर बाल (मूढ) कहा जाता है, विरतिको लेकर पण्डित कहा जाता है। विरति अरति ले कर बाल-पण्डित कहा जाता

है। सो जो वहा अविरति है वह स्थान (वस्तु) आरम्भ (हिंसा) का स्थान है, अनार्य० सब दु:खके मार्गका नाश न करनेवाला बे-ठीक और असाधु (बुरा) है। जो वह सब प्रकारसे विरति प्राप्त है, यह स्थान है, न आरम्भका स्थान, आर्य० सब दु:ख नाशक मार्ग, बिल्कुल ठीक और भला।

वहा जो ये सब तरह विरति-अविरति हैं, यह स्थान आरम्भ और न आरम्भका स्थान है। यह स्थान आर्य० सब दु:खनाशक मार्ग, बिल्कुल ठीक और अच्छा है ॥३६॥

१० दूसरे मत

(६७५) ऐसे अनुगमन करते इन दोनो स्थानो मे सभी मार्ग आते हैं, जैसे धर्ममें या अधर्ममें, उपशान्तमे या न-उपशान्तमे। वहा जो प्रथम अधर्ममें-स्थानका विभंग ऐसे कहा गया, वहा तीनसौ तिरसठ प्रवादुक (मत-प्रवर्तक) होते हैं, यह कहा गया है, जैसे कि क्रिया-वादियोका, अक्रिया-वादियोका, अज्ञान-वादियोका, विनय-वादियोका। वे भी मोक्षकी बात करते हैं। वह भी श्रावकोंको उपदेशते हैं। वे भी वक्ता हो भाषण करते हैं ॥४०॥

११, प्रवादुक

(६७६) ये प्रावादुक धर्मोंके आदि कर्ता हैं। वे नाना प्रज्ञावाले, नानाछंद वाले, नाना शील०, नाना दृष्टि०, नाना रुचि०, नाना आरम्भ०, नाना अध्यवसानसे युक्त हैं। वे एक बडी मडली बाधकर सभी एक जगह बैठने हैं। सब एक पुरुष आगवाले अगारो की भरी हुई अंगीठीको लोहेकी सडासीसे पकड कर उन सारे प्रावादुकोके धर्मोंके आदिवारों को न.ना-प्रज्ञा०, से यह कहे—हे प्रवादुको०, नाना अध्यवसाययुक्तो, इस आग वाली० को एक-एक मुहूर्त सडासीके विना पकडें तो। न सण्डासीको पकडें न अग्निस्तम्भ करें, न साधर्मिक (वैयावृत्य) करें। सीधे मोक्षपरायण हो, बिना मायाके हाथ पसारें।

प्राणको परिताप किये जाते है, उनम से भी किसी किसी से विरत नहीं होते हैं। जैस कि जो श्रमणोके उपासक होते है, वे जीव-अजीव-पुण्य-पाप आस्रव-सवर निर्जरा क्रिया अधिकरण-बध मोक्षको जानते हैं। वे बिना किसीकी सहायतासे भी किसी दव असुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष राक्षस किन्नर किम्पुरुष-गरुड-गन्धव महाउरग आदि देवगणो द्वारा, निर्ग्रन्थ धर्म वचनसे स्खलित नही किये जा सकते। इस निग्रन्थ-प्रवचन (जैन-आगम) म शका-रहित, काक्षा रहित, विचिकित्सा-रहित है, वह यथार्थको लाभ किये, ग्रहण किये हैं। निश्चितार्थ अवगत अर्थ है। अस्थि मज्जाके प्रेममे भी अनुरक्त हैं। वह मानते हैं—आयुसो, यह जो निर्ग्रन्थ प्रवचन है, यह परमार्थ है बाकी बेकार है, वे स्फटिकसे शुद्ध मन वाले, खुले द्वार वाले, विना समतिके किसीके अन्त पुर(गृह) मे प्रवेश करनेवाले नही होते। महीनेकी चतुर्दसी, अष्टमी, पूर्णिमामे परिपूर्ण उपोसथ(प्रोपध उपवास)को अच्छी तरह पालन करते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमणोको अनुकूल वाछनीय अन्न पान-खाद्य-स्वाद्य वस्त्र-परिग्रह -कबल-पैरपोछना औषध भेपज्य पीढा तख्ता-शय्या विस्तरेको प्राप्त कराते हैं। बहुतसे शीलव्रत गुणव्रत त्याग प्रत्याख्यान पौषध उपवास द्वारा ग्रहणकी रीतिके अनुसार तपकर्मोंसे आत्मा को शुद्ध करते विहरते हैं।

वे इसप्रकारके विहारसे विहरते बहुत वर्षोंतक श्रमणोपासक दीक्षाओ-को सेवन करते है। बहुतसे भोजनोका प्रत्याख्यान त्यागकर अनशनसे स्वाद विच्छद करते हैं। बहुतसे भोजनोको अनशनसे विच्छिन्न कर आलो-चना और प्रतिक्रमण कर समाधि प्राप्त हो काल पा, मर कर किसी एक देवलोकमे देवता होकर पैदा होते हैं। जैसे महर्द्धिकोम ०।

यह मिश्रक-स्थानका विभग ऐसे कहा गया।

६, अरति-विरति

(६७४) अ-रतिको लेकर बाल (मूढ) कहा जाता है, विरतिको लेकर पण्डित कहा जाता है। विरति अरति ले कर बाल-पण्डित कहा जाता

है। सो जो वहा अविरति है वह स्थान (वस्तु) आरम्भ (हिंसा) का स्थान है, अनार्य० सब दुखके मार्गका नाश न करनेवाला बे-ठीक और अ-साधु (बुरा) है। जो वह सब प्रकारसे विरति प्राप्त है, यह स्थान है, न आरम्भका स्थान, आर्य ० सब दुख नाशक मार्ग, बिल्कुल ठीक और भला।

वहा जो ये सब तरह विरति-अविरति हैं, यह स्थान आरम्भ और न आरम्भका स्थान है। यह स्थान आर्य० सब दुखनाशक माग, बिल्कुल ठीक और अच्छा है ॥३६॥

१० दूसरे मत

(६७५) ऐसे अनुगमन करते इन दोनो स्थानों मे सभी मार्ग आते हैं, जैसे धर्ममें या अधर्मम, उपशान्तम या न-उपशान्तम। वहा जो प्रथम अधर्मम-स्थानका विभग ऐसे वहा गया, वहा तीनसौ तिरसठ प्रवादुक (मत प्रवर्तक) होते हैं, यह कहा गया है, जैसे कि क्रिया-वादियोका, अक्रिया-वादियोका, अज्ञान-वादियोका, विनय-वादियोका। वे भी मोक्षकी बात करते हैं। वह भी श्रावकोको उपदेशते हैं। वे भी वक्ता हो भाषण करते हैं ॥४०॥

११, प्रवादुक

(६७६) ये प्रावादुक धर्मोके आदि कर्ता हैं। वे नाना प्रज्ञावाले, नानाछंद वाले, नाना शील०, नाना दृष्टि०, नाना रुचि०, नाना आरम्भ०, नाना अध्यवसानसे युक्त हैं। वे एक बडी मडली बाधकर सभी एक जगह बैठे हैं। तब एक पुरुष आगवाले अगारों की भरी हुई अगीठीको लोहकी सडासीसे पकड कर उन सारे प्रावादुकोंके धर्मोके आदिकारो को नाना-प्रज्ञा०, से यह कहे—हे प्रवादुको०, नाना अध्यवसाययुक्तो, इस आग वाली० को एक-एक मुहूर्त सडासीके बिना पकडें तो। न सण्डासीको पकडें न अग्निस्तम्भ करें, न साधर्मिक (वैयावृत्य) करें। सीधे मोक्षपरायण हो, बिना मायाके हाथ पसारें।

प्राणको परिताप किये जाते है, उनम से भी किसी किसी से विरत नही होते हैं। जैसे कि जो श्रमणोके उपासक होते है, वे जीव-ग्रजीव-पुण्य-पाप ग्रास्रव सवर-निर्जरा-क्रिया-ग्रधिकरण-बध मोक्षको जानते हैं। वे बिना किसीकी सहायतासे भी किसी दव-ग्रसुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुरुष-गरुड-गन्धर्व-महाउरग-ग्रादि देवगणो द्वारा, निर्ग्रन्थ धर्म वचनसे स्खलित नही किये जा सकते। इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन (जैन-ग्रागम) म शंका-रहित, काक्षा-रहित, विचिकित्सा-रहित हैं, वह यथार्थको लाभ किये, ग्रहण किये है। निश्चितार्थ ग्रवगत ग्रर्थ हैं। ग्रस्थि मज्जाके प्रेममे भी ग्रनुरक्त हैं। वह मानते हैं—ग्रावुसो, यह जो निर्ग्रन्थ प्रवचन है, यह परमार्थ है बाकी बेकार है, वे स्फटिकसे शुद्ध मन वाले, खुले द्वार वाले, विना समतिके किसीके ग्रन्त पुर(गृह) मे प्रवेश करनेवाले नहीं होते। महीनेकी चतुर्दसी, ग्रष्टमी, पूर्णिमामे परिपूर्ण उपोसथ(प्रोपध-उपवास)को ग्रच्छी तरह पालन करते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमणोको ग्रनुकूल-वाछनीय-ग्रन्न-पान-खाद्य-स्वाद्य-वस्त्र-परिग्रह-कबल-पैरपोछना ग्रौपध-भैपज्य-पीढा तख्ता-शय्या-बिस्तरेको प्राप्त कराते हैं। बहुतसे शीलव्रत-गुणव्रत, त्याग-प्रत्याख्यान-पौपघ-उपवास द्वारा ग्रहणकी रीतिके ग्रनुसार तपकर्मोसे ग्रात्मा को शुद्ध करते विहरते हैं।

वे इसप्रकारके विहारसे विहरते बहुत वर्षोंतक श्रमणोपासक दीक्षाग्रो-को सेवन करते हैं। बहुतसे भोजनोका प्रत्याख्यान-त्यागकर ग्रनशनसे खाद्य-विच्छेद करते है। बहुतसे भोजनोको ग्रनशनसे विच्छिन्न कर ग्रा ो-चना ग्रौर प्रतिक्रमण कर समाधि प्राप्त हो का त पा, मर कर किसी एक देवलोकमे देवता होकर पैदा होते हैं। जैसे महर्द्धिकोम ०।

यह मिश्रक-स्थानका विभग ऐसे कहा गया।

६, ग्ररति-विरति

(६७४) ग्र-रतिको लेकर बाल (मूढ) कहा जाता है, विरतिको लकर पण्डित कहा जाता है। विरति-ग्ररति ने कर बाल-पण्डित कहा जाता

रण वाली योनियोंमें उत्पन्न न होंगे। गर्भवास और संसार के अनेक ादिके दुःखोंके पात्र न होंगे। वे बहुतसे दण्ड-मुण्डनो और दुःख दौर्मन-स्यसे छूटेंगे ॥४१॥

(६७७) इन उपरोक्त बारह क्रिया-स्थानमे वर्तमान, न सिद्ध हुये, न मुक्त हुये, न परिनिर्वाण प्राप्त हुये, न सब दुःखोका अन्त किये न करते हैं, न करेंगे। इस तेरहवें क्रिया-स्थानमे वर्तमानम जीव सिद्ध हुये, बुद्ध हुये० सर दुःखोंका अन्त किये, करते हैं और करेंगे।

इसप्रकार वह भिक्षु आत्मगुप्त, आत्म-योग, आत्म, पराक्रम आत्म-अनुकम्प, आत्म-निस्सारक, (अपने) को ही पापकर्मों से रोके यह मैं कहता हू ॥४२॥

॥ दूसरा अध्ययन समाप्त ॥

अध्ययन ३

आहार शुद्धि

(६८०) आवुस, मैंने सुना, उन भगवान् (महावीर) ने ऐसा कहा।

आहार-शुद्धि (०परिज्ञान) अध्ययन है, जिसका यह अर्थ है: यहां कोई पूर्वमें ०। सर्वत सर्वत्र लोकमे चार बीज-समूह (० काय) ऐसे कहे जाते हैं, जैसे कि, (१), अग्रबीज (आम आदि पेड उपरिभागम अपने बीज रखने वाले) (२), मूलबीज, (अदरक), (३), पर्व बीज (गन्ना आदि) (४) स्कन्ध बीज (कलम) से होने वाले। उनसे यथायोग्य अवकाश मिलनेपर बहुतसे प्राणी पृथिवी योनिके, पृथ्वीसे उत्पन्न पृथ्वीसे उगे। कर्मके वश, कर्मके कारण वहां उगें, नाना प्रकारकी योनिवालो पृथ्वी पर पेडके तौर पर (पैदा) होते हैं। वे जीव नाना योनि वाली पृथिवियोका रस पीते हैं। वह जीव वनस्पति, पृथिवी शरीर

यह कहकर वह पुरुष उस अगारोंसे० भरी पात्रीको० सडासोसे पकडकर उनके हाथोंमे गिरा दे। तब वे प्रावादुक० हाथ समेटते हैं। तब वह पुरुष० कहता है—हे प्रावादुको,० क्यों तुम हाथ को समेट रहे हो?

—हाथ हमारा जल जायगा।

—जलने से क्या होगा? दु:ख मानकर हाथ समेटते हो। यह तो तुला है, यह प्राण है, यह समवसरण है। प्रत्यककी तुला० प्राण० समवसरण (समुच्चय)।

वहा जो श्रमण ब्राह्मण ऐसा कहते हैं० निरूपण करते हैं सारे प्राणी० सारे सत्त्व मारने चाहिये। आज्ञापित० परिगृहीत, परितापित, क्लेशित, उपद्रवित, करने चाहिये। वे आगेके छेदन, आगेके भेदन, ० आगेके जाति मरण यानि जन्म सार पुनर्जन्म-गर्भवास ससार प्रपच म कष्ट भागी होगे। वे बहुतसे दण्डो, बहुतसे मुण्डनो० पानीमे डूबने, माता वधा-के, मातृमरणोके, पिता० भ्राता० भगिनी०० बहुके मरणोके भागी होगे। दारिद्र्यके दुर्भागोके, अप्रियोके सहवासोके, प्रियवियोगोके, बहुतसे सन्ताप और दौमनस्यको भोगगे। वे अनन्त ससार रूपी वनमे वे-अन्त घूमगे। वे सिद्धि और बोध न पायगे। न दु:खोका नाश ही कर सकगे।

यह सबके लिये तुल्य (न्याय) है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी निश्चित है कि, दूसरोको तकलीफ देने वाले घोर-व्यभिचारी प्राणी के आगे दण्ड भोगते हैं। आगमका सार भी ऐसा ही है। सबका नियम न्याय बराबर है,

पर जो सन्त महात्मा यह कहते देखे जाते हैं—सब प्राण भूत जीव और सत्त्वोको कभी न मारे, न मरवाव, ना मारने की अनुज्ञा करे। जबरदस्ती उन्हें गुलाम न बनावे, न दु:ख दे, न उनपर जुल्म कर न कोई उपद्रव करे। वे लोग आगे अगच्छेद आदिका दु:ख न पायगे। जन्मपरा

रण वाली योनियोंमें उत्पन्न न होंगे। गर्भवास और संसारके अनेक जातिके दुःखोंके पात्र न होंगे। वे बहुतसे दण्ड-मुण्डनो और दुःख दौर्मन-स्यसे छूटेंगे ॥४१॥

(६७७) इन उपरोक्त बारह क्रिया-स्थानमें वर्तमान, न सिद्ध हुये, न मुक्त हुये, न परिनिर्वाण प्राप्त हुये, न सब दुःखोंका अन्त किये न करते हैं, न करेंगे। इस तेरहवें क्रिया-स्थानमें वर्तमान जीव सिद्ध हुये, बुद्ध हुये० सब दुःखोंका अन्त किये, करते हैं और करेंगे।

इसप्रकार वह भिक्षु आत्मगुप्त, आत्म-योग, आत्म, पराक्रम आत्म-अनुकम्प, आत्म-निस्सारव, (अपने) को ही पापकर्मों से रोके यह मैं कहता हू ॥४२॥

॥ दूसरा अध्ययन समाप्त ॥

अध्ययन ३

आहार शुद्धि

(६८०) आवुस, मैंने सुना, उन भगवान् (महावीर) ने ऐसा कहा। आहार-शुद्धि (०परिज्ञान) अध्ययन है, जिसका यह अर्थ है: यहा कोई पूर्वम ०। सर्वतः सर्वत्र लोकमे चार बीज-समूह (० काय) ऐसे कहे जाते हैं, जैसे कि, (१), अग्रबीज (आम आदि पेड उपरिभागम अपने बीज रखने वाले) (२), मूलबीज, (अदरक), (३), पर्व बीज (गन्ना आदि) (४) स्कन्ध बीज (कलम) से होने वाले। उनसे यथायोग्य अवकाश मिलनेपर बहुतसे प्राणी पृथिवी योनिके, पृथ्वीसे उत्पन्न पृथ्वीसे उगे। कर्मके वश, कर्मके कारण वहां उगे, नाना प्रकारकी योनिवाली पृथ्वी पर पेड़के तौर पर (पैदा) होते हैं। वे जीव नाना योनि वाली पृथिवियोका रस पीते हैं। वह जीव वनस्पति, पृथिवी शरीर

जल शरीर, अग्निशरीर, वायु-शरीर, वनस्पति-शरीरका आहार करते हैं· नाना-प्रकारके जगम-स्थावर प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं। वह ध्वस्त शरीर पूर्व खाया, छाल निकाला, स्वरूपसे विकृत किया (गया) होता है। और भी उन पृथ्वीयोनिक वृक्षोके शरीर नानारग-नानागन्ध-नानारस-नानास्पर्श-नाना आकृतिवाले, नाना प्रकारके शरीर-ग्रशसे विकसित (होते) हैं। वे (वनस्पति जैसे) जीव, कर्मके आधीन (ऐसे) होते हैं, यह कहा गया ॥१॥

(६८१) पहले कहा गया। यहा कोई-कोई सत्व वृक्षयोनिक० पेडके तौर पर (पैदा) होते है। वे ० त्रस स्थावर प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं ०। नाना विधि शरीर-ग्रशको विकारी करते हैं।

वे जीव कर्मके आधीन होते हैं। यह कहा गया ॥२॥

(६८२) अब और एक वाक्य पहले कहा गया .

यहा कोई-कोई सत्व ० पेडके तौर पर पैदा होते हैं। ० प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं। यह ध्वस्त शरीर ० विपरिणत हो रूप-सात् कर लिये जाते है। उन पृथिवी योनिके पेडोके शरीर नाना रगके ० होते है।

वे जीव कर्मके आधीन होते हैं। यह कहा गया ॥३।

(६८३) एक और पहले कहा गया :

यहा कोई सत्व ० पेडोम मूलके रूपमे, कन्द०, स्कन्ध०, छाल०, सार०, अकुर०, पत्र०, पुष्प०, फल०, बीजके रूपमे परिणत होते हैं। वे जीव० रस पीते हैं०, प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं। वह ध्वस्त शरीर० रूपमे विलीन कर लिये जाते हैं। ० उन वृक्षयोनिकोके मूल० बीजोके शरीर नाना रंग ० शरीराश विकसित होते हैं।

व जीव कर्मके आधीन पैदा होते हैं। यह कहा गया ॥४॥

(६८४। ० और भी पहले कहा गया।

कोई-कोई सत्व (प्राणी) वृक्षयोनिक० रस पीते है। शरीरको ०

रूप में विलीन करते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षोंपर अध्यारूढ* (अनशायी) के तौर पर होते हैं। व जीव ० रस पीते हैं। रूपमे विलीन ०। उन वृक्षोपर अध्यारूढ वृक्षयोनिक अध्यारूढक शरीर नाना रंग ० के होते हैं। यह कहा गया ॥४॥

(६८५) ० पहले कहा गया। यहा कोई प्राणी अध्यारूढ (वदा) योनिक अध्यारूढसे पैदा ० कर्मके कारण वहा पहुच वृक्षयोनिक अध्यारूढा पर अध्यारूढके तौर पर पैदा होते हैं। व जीव ० रूपमे विलीन ०। उन अध्यारूढ योनिक अध्यारूढोंके शरीर नाना शरीर वर्ण० के होते हैं। यह कहा गया ॥६॥

(६८६) ० पहले कहे गये

कोई प्राणी अध्यारुह योनिक, अध्यारुहमे उत्पन्न ० कर्मके कारण वहा अध्यारुहयोनिकोंमे कर्म के कारण उगे। अध्यारुहके तौर पर पैदा हुय० रस पीते हैं। ० शरीरको० रूपमे विलीन ०। अध्यारुहोंके शरीर नाना वर्णके होते हैं। ० ७॥

(६८७) यहा कोई प्राणी अध्यारुह योनिक अध्यारुहमे उत्पन्न ० कर्मके कारण वहा उगे ० मूलके तौर पर बीजके तौर पर पैदा होते हैं। वे ० रस पीते हैं। ० उनके ० बीजाके शरीर नाना वर्ण होते हैं।० कहे गये ॥८॥

(६८८) ० । ० पृथ्वीयोनिक ० नानाविध योनियोवाली पृथिविया का रस ०। व जीव उन नाना विध योनिवाली पृथिवियापर तृणके तौर पर पैदा होते हैं। व ० पृथिवियोके रस को पीते हैं। वे जीव कर्मके वश पैदा होते हैं ० ॥९॥

(६८९) इस प्रकार तृणयोनिक तृणोमे तृणके तौर पर पैदा होते, तृण-शरीरका भी आहार करते हैं०। इस प्रकार तृणयोनिक तृणोमे मूलके तौर

---

* वृक्षोंपर दूसरी जातिके उगनेवाले पौधे बदा, Orchid आदि।

जल शरीर, अग्निशरीर, वायु-शरीर, वनस्पति-शरीरका आहार करते हैं नाना-प्रकारके जगम-स्थावर प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं। वह ध्वस्त शरीर पूर्व खाया, छाल निकाला, स्वरूपसे विकृत किया (गया) होता है। और भी उन पृथ्वीयोनिक वृक्षोके शरीर नानारग-नानागन्ध-नानारस-नानास्पर्श-नाना आकृतिवाले, नाना प्रकारके शरीर अशसे विकसित (होते) हैं। वे (वनस्पति जैसे) जीव, कर्मके आधीन (ऐसे) होते हैं, यह कहा गया ॥१॥

(६८१) पहले कहा गया। यहा कोई-कोई सत्व वृक्षयोनिक० पेडके तौर पर (पैदा) होते है। वे ० त्रस स्थावर प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते है ०। नाना विधि शरीर-अशको विकारी करते हैं।

वे जीव कर्मके आधीन होते हैं। यह कहा गया ॥२॥

(६८२) अब और एक वाक्य पहले कहा गया

यहा कोई-कोई सत्व ० पेडके तौर पर पैदा होते हैं। ० प्राणियोके शरीरको निर्जीव करते हैं। यह ध्वस्त शरीर ० विपरिणत हो रूप सात् कर लिय जाते है। उन पृथिवी योनिके पेडोके शरीर नाना रगके ० होते हैं।

वे जीव कर्मके आधीन होते हैं। यह कहा गया ॥३।

(६८३) एक और पहले कहा गया :

यहां कोई सत्व ० पेडोमे मूलके रूपमे, कन्द०, स्कन्ध०, छाल०, सार०, अकुर०, पत्र०, पुष्प०, फल०, बीजके रूपमे परिणत होते हैं। वे जीव० रस पीते हैं०, प्राणियोंके शरीरको निर्जीव करते हैं। वह ध्वस्त शरीर० रूपम विलीन कर लिये जाते हैं। ० उन वृक्षयोनिकोके मूल० बीजोके शरीर नाना रंग ० शरीराश विकासित होत हैं।

वे जीव कर्मके आधीन पैदा होते हैं। यह कहा गया ॥४॥

(६८४। ० और भी पहले कहा गया।

कोई-कोई सत्व (प्राणी) वृक्षयोनिक० रस पीते है। शरीरको ०

तृणोंमें, तृणयोनिक मूलोंमें, ० बीजोंमें। ऐसे ही औषधियोंमें भी तीन भेद, पृथिवीयोनिक आर्योंमें ० कूरोंमें, उदकयोनिक वृक्षोंमें, वृक्षयोनिक वृनोंमें, वृक्षयोनिक मूलोम, ० बीजोम, ऐसे ही अध्यारुहोम तीन भेद, तृणोंमें भी तीन भेद। हरितोमे भी तीन, उदकयोनिक मे भी, अवकोंमे भी ०, पुष्करोंमें, जगम प्राणिके तौर पर पैदा होते हैं। वे जीव उन पृथिवीयोनिक, उदकयोनिक, वृक्षयोनिक, अध्यारुहयोनिक, तृण ०, औषधि ०, हरित ०, अध्यारुहवृक्षो, तृण, औषधि, हरित, मूल ० बीजो, आर्यों, ० पुष्कराक्षोंके रसको पीते हैं। वे जीव पृथिवी शरीरका आहार करते हैं, और भी उन वृक्षयोनिक ०, बीजयोनिक ०, पुष्कराक्षयोनिक त्रगम प्राणियोके नाना वर्ण ० ॥१२॥

(६६२) ० पहले कहा गया :

नानाविध मनुष्यो ' आर्यो, म्लेच्छो, जैसे कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक, अन्तरद्वीपवासियो, आर्यों, म्लेच्छो, उनके यहा बीजके अनुसार, अवकाशके अनुसार, स्त्री और पुरुषका कर्मसे बनी योनिमे मैथुन-सबधी सयोग से उत्पन्न होता है। वे होनेवाले जीव दोनोके स्नेहका आहार करते हैं। वहा जीव पुरुष, स्त्री या नपु सकके तौर पर पैदा होता है। वे जीव माताके रज, पिताके वीर्य, दोनोके मिश्रित कलुष किल्विष(मल)का आहार करते हैं। उसके बाद वह माता नाना प्रकारके सरस आहार खाती है। उसके उससे एक अशसे (गर्भस्थ) जीव ओज ग्रहण करते हैं। क्रमश. बढकर, परिपाकको प्राप्त हो उस शरीरसे निकलते। कोई स्त्री-भावको पैदा करते, कोई पुरुषभावको, कोई नपु सकभावको। वे बाल जीव माताके क्षीर घी का आहार करते हैं। क्रमशः बढ भात, दाल और फिर त्रस-स्थावर प्राणियोको खाते हैं। पृथिवीशरीरको ० रूपमे परिणत करते हैं। और भी उन ० आर्यों, म्लेच्छोके शरीर नानावर्णके होते हैं ० ॥१३॥

(६६३) ० । नानाविध जलचरोका'''जैसे, मछलिया, सासो ०, '' उनके बीजके अनुसार, अवकाशके अनुसार, पुरुषका कर्मकृत ० । ०

पर, ० बीजके तौर पर पैदा होते हैं० । वे जीव ० । ऐसे ही औषधियोंमे भी चार ही कथनीय हैं । हरितोंमे भी चार कथनीय हैं ॥१०॥

(६६०) ० । यहा कोई प्राणी, पृथिवियोनिक, पृथिवीसम्भव० कर्मके कारण वहा उत्पन्न नानाविधि योनिवाली पृथिवियोंमे आर्य (वनस्पति नाम) के तौर पर वाय०, काव०, कूहण०, कदुक०, उपनिहीक०, निर्वेहणिक०, सच्छत्र०, गुच्छी०, वासाणि०, कूर०, पैदा होते हैं । वे रस पीते हैं । वे भी जीव पृथिवीशरीरका आहार करते हैं । और भी उन पृथिवीयोनिक आर्य० कूरोंके शरीर नाना वर्ण ० । एक ही यहा कथनीय है, बाकी तीन नही । और भी पहले कहा गया ।:

० कोई प्राणी उदक(जल)योनिक, उदकसम्भव० कर्मके कारण वहा उत्पन्न नानाविध योनिवाले उदकोंमे वृक्षोका रस पीते हैं । वे जीव पृथिवीशरीरका आहार करते । ० ० उन ० वृक्षोके शरीर नाना वर्ण ० । जैसे पृथिवीयोनिकोके चार भेद, वैसे ही अध्यारहोंके भी, तृणो औषधी हरितोके भी चार भेद कहे गय हैं ।

० । कोई प्राणी उदकयोनिक ० उदकोंमे उदकके तौर पर अवक ०, पनक ०, सेवार ०, कलंबुक ०, हड ० कसेरु ०, कच्छभाणि ०, उत्पल ०, पद्म ०, कुमुद ०, नलिन ०, सुभग ०, सुगंधिक ०, पुण्डरीक ०, महापुण्डरीक ०, शतपत्र ०, सहस्रपत्र ०*, ऐसे ही कल्हार-कोकनदके तौर पर, अरविंद ०, तामरस ०, भिस भिसमृणाल ०, पुष्कर ०, पुष्कराक्ष के तौर पर पैदा होते । वे जीव पृथिवीका शरीर आहार करते ० । उनके ० नाना वर्णके ० यहा एक ही आलाप कथनीय है ॥११॥

(६६१) ० । कोई प्राणी पृथिवीयोनिक वृक्षो मे वृक्षयोनिक वृक्षोंमे, वृक्षयोनिक मूलोंमे, ० बीजोंमे, वृक्षयोनिक अध्यारुहोंमे, अध्यारुहयोनिक अध्यारुहोंमे, अध्यारुहयोनिक मूलोंमे ० बीजोंमे, पृथिवीयोनिक तृणोंमे,

* कमलकी जातियां ।

वृणोंमे, तृणयोनिक मूलोंमे, ० बीजोंमे । ऐसे ही ग्रौषधियोंमे भी तीन भेद, पृथिवीयोनिक ग्रार्योमे ० कूरोंमे, उदकयोनिक वृक्षोंमे, वृक्षयोनिक वृक्षोंमे, वृक्षयोनिक मूलोमे, ० बीजोमे, ऐसे ही ग्रघ्यारुहोमे तीन भेद, तृणोंमे भी तीन भेद । हरितोमे भी तीन, उदकयोनिक मे भी, ग्रवकोंमे भी ०, पुष्करोंमे, जगम प्राणिके तौर पर पैदा होते हैं । वे जीव उन पृथिवीयोनिक, उदकयोनिक, वृक्षयोनिक, ग्रघ्यारुहयोनिक, तृण ०, ग्रौषधि ०, हरित ०, ग्रघ्यारुहवृक्षो, तृण, ग्रौषधि, हरित, मूल ० बीजो, ग्रार्यों, ० पुष्कराक्षोके रसको पीते हैं । वे जीव पृथिवी शरीरका ग्राहार करते हैं, ग्रौर भी उन वृक्षयोनिक ०, बीजयोनिक ०, पुष्कराक्षयोनिक जगम प्राणियोंके नाना वर्ण ० ॥१२॥

(६६२) ० पहले कहा गया :

नानाविध मनुष्यो · ग्रार्यो, म्लेच्छो, जैसे कर्मभूमिक, ग्रकर्मभूमिक, ग्रन्तरद्वीपवासियो, ग्रार्यों, म्लेच्छो, उनके यहा बीजके ग्रनुसार, ग्रवकाशके ग्रनुसार, स्त्री ग्रौर पुरुषका कर्मसे बनी योनिमे मैथुन-सबंधी सयोग से उत्पन्न होता है । वे होनेवाले जीव दोनोके स्नेहका ग्राहार करते हैं । वहा जीव पुरुष, स्त्री या नपु सकके तौर पर पैदा होता है । वे जीव माताके रज, पिताके वीर्य, दोनोंके मिश्रित कलुष किल्विष(मल)का ग्राहार करते हैं । उसके बाद वह माता नाना प्रकारके सरस ग्राहार खाती है । उसके उससे एक ग्रशसे (गर्भस्थ) जीव ग्रोज ग्रहण करते हैं । क्रमश. बढकर, परिपाकको प्राप्त हो उस शरीरसे निकलते । कोई स्त्रीभावको पैदा करते, कोई पुरुषभावको, कोई नपु सकभावको । वे बाल जीव माताके क्षीर-घी का ग्राहार करते हैं । क्रमशः बढ भात, दाल ग्रौर फिर जगम-स्थावर प्राणियोको खाते हैं । पृथिवीशरीरको ० रूपमे परिणत करते हैं । ग्रौर भी उन ० ग्रार्यो, म्लेच्छोके शरीर नानावर्णके होते हैं ० ॥१३॥

(६६३) ० । नानाविध जलचरोका…जैसे, मछलिया, सोसो ०, …उनके बीजके ग्रनुसार, ग्रवकाशके ग्रनुसार, पुरुषका कर्मकृत ० । ०

भोजका आहार करते हैं। क्रमशः बढ ० कायासे निकल कोई अडेके, कोई पोतके रूपमे जनमते हैं। उस अण्डेके फूटनेपर कोई स्त्री पैदा करते, कोई पुरुष और कोई नपुंसक। वे जीव(शिशु) होते जलके रसको पीते हैं। क्रमशः बढ वनस्पतियोंको, जगम-स्थावर प्राणियोंको खाते हैं। ० और भी नानाविध जलचर, पचेन्द्रिय,तिर्यग्योनिक० । मछली सोसोंके शरीर नानावर्ण ० ॥१४॥

(६६४) ० । नानाविध चौपाय, स्थलचर, पचेन्द्रिय, तिर्यग्योनिक... जैसे, एक खुर वाले, दो खुर वाले, कोई गंडेसे पैर वाले, नख युक्त पैर वाले, उनमें बीजके अनुसार पेटमें अवकाशके अनुसार स्त्री और पुरुषके कर्मसे किये मैथुन सम्बन्धसे सयोग होता। जन्मने वाले (प्राणी) दोनो रसको लेते हैं। वहा जीव स्त्री या पुरुषके तौर पर पैदा होते हैं। वे जीव माताके रज और पिताके वीर्यको लेते हैं, जैसे मनुष्योंमे कोई पुरुष जन्मते हैं, कोई स्त्री, कोई नपुसक। वे जीव शिशु हो माताके क्षीर-घी का आहार करते। ० वे पृथिवी शरीर आहार करते ०। और भी उन नानाविध चौपाय ० नख सहित पैर वालोके नानाविध शरीर ० ॥१५॥

(६६५) नानाविध छातीसे सरकनेवाले उरःपुर स्थलचर, पचन्द्रिय, तिर्यग्योनिक-जैसे कि, साँप, अजगर, आशालिक, महोरग, ' उनके बीजानुसार ० स्त्री और पुरुष ० मैथुन ० कोई अण्डे जनते, कोई पोत (शिशु)। अण्डेके टूटनपर कोई स्त्री ० वे जीव छोटे रहते वायुकायको खाते, क्रमश. बढ़ वनस्पति, जगम-स्थावरको० । ० उन नानाविध ० महोरगोंके शरीर नानावर्ण, नाना गन्ध ० ॥१६॥

(६६६) नाना भुजपर सरकते थलचर, पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, जैसे ' गोह, नेवले, सिहुण, सरट, सल्लक, सरप, सरकोइनी, सिगम्भर, चूहे, मगुस,पदललित,बिल्ला,जोध और चौपाये—इनके बीजके अनुसार०, स्त्री-पुरुष ०, मैथुन ०। उन नानाविध ० गोहोंके ० शरीर नानावर्ण ० ॥१७॥

(६६७) ० नानाविध आकाशचारी, पचेन्द्रिय, तिर्यग्योनिक, जैसे • रोमपक्षी, चर्मपक्षी, समुद्गपक्षी, विततपक्षी,···, उनके बीजके नुसार ० । ये जीव छोटे रहते माताके शरीरके रसको खाते हैं । ० । ० उनके ० शरीर नानावर्ण । ० । ० ॥१८॥

(६६८) ० । यहा कोई प्राणी नानाविध योनिवाले, नानाविध सम्भव, नानाविध पैदा हुये हैं । वे उस योनिवाले, उस योनिसे उद्भूत, उससे जनमे, कर्मवश, कर्मके कारण, वहा पैदा हुय । नानाविध जगम-स्थावर पुद्गलोंके शरीरोंमे, सजीव या अजीव शरीरोंमे गुथेसे रहते हैं । वे जीव उन नानाविध त्रस स्थावर प्राणियोंके रसको पीते हैं । ० उनके० शरीर नानावर्ण ० । इस प्रकार कुरूप जन्मनेवालेके तौर मे चर्मके कीटोंके रूपमे ० ॥१६॥

(६६९) ० । ० कोई प्राणी नानाविध योनिवाले ० कर्मके कारण० उत्पन्न ० । नानाविध जगम-स्थावर प्राणियोंके सजीव निर्जीव शरीरोंम (पैदा होते) वह शरीर वायु रचित, वायु-सगृहीत तथा वायु-परिग्‍ या ऊपर वायुमे ऊपर जानेवाला, निचली वायुम नीचे जानेवाला, तिरछी वायुम तिर्छे जानेवाला होता है । जैसे कि, श्वास, बर्फ, कुहरा, श्रोला, हर तनुक, शुद्धजल···, वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियाके रसको खाते हैं । वे जीव पृथिवी शरीर को खाते हैं ० । उनके शरीर नाना-वर्ण ० ॥२०॥

० । कोई प्राणी उदकयोनिक ० कमके कारण, उत्पन्न जगम-स्थावर योनिक उदकमे उदकके तौर पर पैदा होते । व जीव उन ० उदकोंके रसको पीते हैं । उनके नाना शरीर नानावर्ण ० ।

कोई प्राणी उदकयोनिक ० कर्मके कारण, उदक योनियाम उदक (जल) के तौर पर पैदा होते । वे जीव उन उदकयोनिकोंके उदकोंके रसको पीते हैं । व जीव पृथिवीशरीरको खाते हैं ० । ० शरीर

नानावर्ण । ० । कोई प्राणी ० उदकयोनिक उदकाम जगम प्राणीके रुपमे पैदा होते । ० उदकोका रस पीते । वे जीव पृथिवी शरीरको खाते हैं ० । उन उदकयोनिक जगम प्राणियोके शरीर नानावर्ण ० ॥२१॥

(७००) ० । कोई प्राणी नानाविध ० योनिक ० के कारण वहा उत्पन्न, नानाविध जगम-स्थावर प्राणियोके सजीव या निर्जीव शरीरोमे अग्निकायके तौर पर पैदा होते । वे जीव उन नानाविध जगम स्थावर प्राणियोके रसको पीते, वे जीव पृथिवीकाय शरीरको खाते हैं । ० उनके नानावर्ण ० ।

(बाकी तीन भेद उदक जैसे यहा भी ०) ।

० । ० । कर्मके कारण यहा पैदा हुये ० नानाविध जगम-स्थावरोके, शरीरमे सजीव, निर्जीव शरीरमे वायुशरीरवाले हो पैदा होते । ० (अग्निकी तरह चार भेद कहने चाहिये) ॥२२॥

(७०१) ० । कोई प्राणी ० कर्मके कारण वहा पैदा होते, नानाविध जगम स्थावर प्राणियोके सजीव, निर्जीव शरीरोमे, पृथिवीके तौर पर ककडी या बालुकाके तौर पर पैदा होते ।

(यह गाथायें) " पृथिवी, और ककडी, बालू, पत्थर, शिला, और लवण । लोहा, रागा, तावा, सीसा, रूपा, सोना और हीरा ॥१॥

हरताल, हिंगुलु, मैनसिल, शशक, सुरमा, मू गा । अबरक पत्र और अबरक चूर्ण, बादरकाय और मणिविधान ॥२॥

गोमेदक, रजत, अक, स्फटिक, और लोहित नामक रत्न । पन्ना, मसारगल्ल, भुजमोचक, और इन्द्रनील (नीलम) ॥३॥

चन्दन, गरू, हसगर्भ, पुलक, सौगधिक, जानने चाहिये । चन्द्रप्रभ, वैदूर्य, हीरा, जलकान्त और सूर्यकान्त (भी) ॥४॥

इनके बारेमें ये गाथायें कहनी चाहियें। ० सूर्यकान्त होते। वे जीव उन नाना जगम-स्थावर प्राणियोंके रसको पीते हैं। वे पृथिवी शरीरको खाते हैं। ० उन जगम-स्थावर योनिक पृथिवियों ० सूर्यकान्तके शरीर नानावर्ण ०। (बाकी तीन भेद उदकों जैसा यहां भी) ॥२३॥

(७०२) ०। सारे प्राणी सारे भूत, सारे जीव, सारे सत्व नानाविध योनिवाले, नानाविध उत्पन्न, शरीरयोनिक, शरीरसम्भव, शरीरोत्पन्न, कर्मवश, कर्मके कारण, कर्मगतिवाले, कर्मस्थितिक, कर्मके द्वारा ही (आवागमनके) चक्करमें पड़ते हैं।

(७०३) सो इसे जानो। जानकर आहारसे रक्षित, सहित, समता-सहित हो सदा प्रयत्न करते रहो, यह कहता हूँ ॥२४॥

॥ तीसरा अध्ययन समाप्त ॥

—

अध्ययन ४

प्रत्याख्यान

(७०४) भावुसो मैंने सुना उन भगवानने यो कहा।

यहाँ प्रत्याख्यान नामक अध्ययन है जिसका अर्थ बतलाया है जीव आत्मा अप्रत्याख्यानी (न दुष्कमत्यागी) भी होता आत्मा दुष्कर्म कुशल भी होता आत्मा भ्रूठम अवस्थित भी होता आत्मा पूर्ण मूढ मिथ्यात्वी भी होता पूर्ण सुप्त (अज्ञानी) भी होता आत्मा विचारहीन मानसिक-वचन वाला भी होता, विचारहीन कायिक वचनवाला भी होता आत्मा विना रोक विना त्याग के पाप कर्मोंका करने वाला होता (पापम) सक्रिय असयत पूर्ण पापकर्मा पूर्णतया बाल, एकान्त सुप्त हो, वह बाल विना विचारे मन-वचन कायवाला हो स्वप्न देखनेकी क्षमता भी न रखते पापकम करता है ॥१॥

(७०५) इस पर शिष्य प्रश्न (आचाय) को कहता है

पापी मनके न रहते पापी वाणीके न रहते पापी कायके न रहते न मारते न मनन करते विचार रहित मन वचन-कायवाले स्वप्नको भी न देख सकने वाले से पापकम नहीं किया जा सकता।

किस कारण ऐसा ?

शिष्य कहता है • पापी मनके विना मन-सम्बन्धी पापकर्म किया जाये पापी वचनके विना वचन सम्बन्धी पापकम किया जाय, पापिनी कायाके विना काय-सम्बन्धी पापकर्म किया जाये (यह नहीं हो सकता)।

(आचाय)मनसे युक्त विचार-सहित मन-वचन-काया सम्बन्धी

वचनवालेका स्वप्न देखनेवाले के द्वारा, ऐसे गुणस्वभावको पाप-कर्म किया जा सकता है ।

फिर शिष्य कहता है कि वहा जो ऐसा कहते हैं···पापी मनके न होनेपर ० स्वप्न भी न देखनेवालेमे पाप कर्म किया जाता है । जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या बोलते हैं ॥२॥

(७०६) वहा (आचार्यने) प्रेरकसे पूछा कि,

···वह ठीक है, जो कि मैंने पहले कहा—पापी मनके न रहते ० स्वप्न भी न देखते पापकर्म किया जाता है।

···सो किस कारण ?

आचार्यने कहा···भगवानने छ जीवनिकाय(जीवसमूह)हेतु बतलाये हैं, जैसे कि, पृथिवीकाय से लगाकर त्रस(जंगम)कायिक तक । इन छ जीव निकायो द्वारा आत्मा अ-प्रतिहत पाप कर्मको प्रत्याख्यान किये बिना सदा प्रतिशठ, व्यापाद(हिंसा)युक्त चित्तक्रिया वाला (होता है), जैसे कि हिंसा, ०,परिग्रह,क्रोध ०,मिथ्यात्वदर्शन(रूपी)शल्यमें (लगा) ॥३॥

(७०७) आचार्यने कहा—

···भगवानने बधिक(वधक)का दृष्टान्त दिया, जैसे कि, कोई बधिक(मोचता) है : गृहपति या गृहपति-पुत्र, राजा या राजपुरुषको, मौका पा घरमे घुसूंगा, मौका पा मार दूगा । ऐसा वह बधिक उस गृहपति ० को मारूगा, यह सोचता दिन या रात, सोता या जागता, शत्रुसा बना मिथ्यामे अव-स्थित सदा शठ, व्यापादयुक्त चित्तवाला क्या होता है ?

ऐसा कहे जाने पर समझकर शिष्यने कहा—हा (वह) बधिक है । आचार्यने कहा : जैसे यह बधिक उस गृहपति ० दिन-रात सदा शठ,

व्यापादचित्त क्रियावाला है, जैसे कि, हिंसामे ०, मिथ्यादृष्टि शल्यम० इस प्रकार भगवानने कहा। असंयमी, अविरत, अप्रतिहत प्रत्याख्यान पापकर्मवाला, पापसे सक्रिय, असंवर युक्त, पक्का क्रियावान्, पक्का मूढ विचारहीन मन-वचन-कायवाला स्वप्न भी न देखता(है, पर उसके द्वारा) पाप कर्म किया जाता है। जैसे वह बधिक सदा शठ, व्यापादचित्तयुक्त क्रियावाला होता है, वैसे ही मूढ सारे प्राणियो ० सारे सत्वोंमे से प्रत्येक को चित्तम ने रात दिन, सोता जागता ० व्यापादचित्त क्रियावाला होता है ॥४॥

(७०८) यह ठीक नहीं है, बहुतसे प्राणी हैं, जिन्हें शरीरके आकारमे उस आदमीने नहीं देखा, न सुना, न माना, न जाना। उनमें प्रत्येकको चित्तमे ले दिन रात, सोता या जागता शत्रु हो ० नित्य शठ, व्यापाद-चित्तयुक्त क्रियावाला हो, जैसे कि हिंसामे ० मिथ्यादृष्टि (रूपी) शल्यमे।

(आचार्य कहता है) वहाँ भगवान्ने दो दृष्टान्त बतलाये हैं, सज्ञी (होश रखनेवाले) का दृष्टान्त, अ-सज्ञीका दृष्टान्त। सज्ञी दृष्टान्त क्या है ? जो ये सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त(जीव) है। इनके छ जीव निकाय समूहको ले, जैसे पृथिवीकाय ० जगमकायको लेकर, कोई पृथिवीकाय द्वारा काम करता, कराता भी है। उसको ऐसा होता है। इस प्रकार मैं पृथिवीकाय द्वारा काम करता हू, कराता भी हू। उसको ऐसा नहीं होता अमुक अमुक द्वारा वह इस पृथिवीकायसे काम करता है, कराता भी है। वह उस पृथिवीकाय द्वारा अ संयमी, अ-विरत, अप्रतिहत अप्रत्याख्यान पापकर्मवाला भी होता है, ऐसे ० जगम कायमे भी कहना होगा। मा कोई छ जीवनिकायों द्वारा काम करता भी, कराता भी, उसको ऐसा नहीं होता अमुक-अमुकके द्वारा वह उन छ जीवनिकायोसे अ-संयत, अविरत, अप्रतिहत, अप्रत्याख्यान, पापकर्मवाला, जैसे कि हिंसामे ० मिथ्यादर्शनशल्यमे ॥५॥

(७०९) यह भगवानने कहा—असयत, अविरत०स्वप्न भी न देखता पाप करता है। सो संज्ञी दृष्टान्त है।

कौन है असज्ञी दृष्टान्त? जो ये अ-सज्ञी (न होश रखनेवाले) प्राणी हैं, जैसे कि—पृथिवीकायिक ० छठे (वनस्पतिकायके बाद असज्ञी) त्रस काय वाले (जगम) प्राणी हैं, जिनके पास न तर्क (शक्ति) है, न सज्ञा (होश) है, न सज्ञा-प्रज्ञा-वाणी है। न ही वे स्वय कर सकते, न अन्यसे करा सकते, न करतेका अनुमोदन कर सकते। वे मूढ सारे प्राणों• सारे सत्वोंके दिन-रात, सोते जागते शत्रु, से हो मिथ्यामें अवस्थित ० मिथ्यादर्शन रूपी शल्य में हैं।

इस प्रकार ० नही मन, नही वाणी, प्राणियो० सत्वोंको दुखनेके तौर पर, शोक करने ०, झीकने० तेपने०, पिट्टन० परितापनके तौरपर वे दुखना ० परितापन, बध-बधन, परिक्लेशोंसे न विरत होते हैं। इस प्रकार वे अ-सज्ञी सत्व भी रात-दिन हिंसाम (रत) कहे जाते हैं ० रात-दिन परिग्रहमे० मिथ्यादर्शन शल्यम रत कहे जाते।

ऐसे ही सत्यवादी-सर्वयोनिक सत्व अ-सज्ञी होते हैं। अ-सज्ञी हो (दूसरे जन्मम) सज्ञी होते हैं। सज्ञी या अ-सज्ञी होकर, वहा वे विना विवेक किये, विना हटाय, विना उच्छिन्न किये, विना अनुपात किये, अ-सज्ञी से सज्ञी योनिम सक्रमण करते हैं, सज्ञी से असज्ञीकायमे ०, अ-सज्ञिसे अ-सज्ञिककायम ०। जो ये सज्ञी हैं, या असज्ञी हैं, वे सारे मिथ्या आचरणवाले हैं। नित्य शठ-व्यापादक्रिया वाले, जैसेकि, हिंसाम ० मिथ्यादृष्टिशल्यम।

इस प्रकार भगवान्‌ने कहा—असयत, अ-विरत ० पूर्णमूढ ।० सो मूढ ० स्वप्न भी नहीं देखता, फिर भी पाप कर्म करता है ॥६॥

(७१०) (शिष्य ने पूछा) वह क्या करते, क्या कराते, कैसे सयत, विरत, पापकर्म त्यागी होता है?

(आचार्य ने कहा)—यहा भगवानने छ जीव निकाय० योनि (हेतु)

बतलाये है जैसे कि, पृथिवीकाय ० जगम कायिक, । जैसे कि मेरे लिए अरुचिकर होता है, (यदि) डण्डेसे, हड्डीसे, मुक्केसे, ढले से, खोपडीसे पीडित करते ०, भगाते०, रोम उखाडने भर की भी हिंसासे किये दु ख-भयको मैं सवेदित (महसूस) करता हूँ । इसी तरह जानो, कि सारे प्राणी खोपडीसे कोचे जाते, हने जाते, ताडित होते, ० तर्जित होते, हिंसाके दु खको सवेदन करते हैं । ऐसा जानकर सारे प्राणियोको न हनन करना चाहिये । यह धर्म ध्रुव नित्य-शाश्वत है । लोकका (आधार) समझकर खेदज्ञ (तीर्थंकरो) ने इसे बतलाया ।

इस प्रकार वह भिक्षु हिंसासे विरत ० मिथ्यादृष्टिसे विरत होये । वह भिक्षु न दतवनसे दात धोये, न अजन, न वमन न धूपन करे । वह भिक्षु अक्रिय न हिंसक, न क्रोधी, ० न लोभी, उपशात (पापसे निवृत्त) निर्वाण प्राप्त रहे ।

यह भगवान्ने कहा—सयत, विरत, प्रतिहत, पापकर्मका त्यागी, अक्रिय-सवर (सयम) युक्त पूर्ण पण्डित(भिक्षु) है। यह मे कहता हू ॥७॥

॥ चौथा अध्ययन समाप्त ॥

— —

अध्ययन ५

अन्-आगार (साधु)

(७११) आशुप्रज्ञ (पुरुष) इस वचन और ब्रह्मचर्य को लेकर, कभी इस धर्ममें अनाचार न करे ॥१॥

(७१२) इस (जगत्) को अनादि और अनन्त समझ, एकान्त नित्य या अनित्यकी दृष्टि (उसके बारेमे) न धारण करे ॥२।

(७१३) इन दोनों(चरम)स्थानोंसे(लोक)व्यवहार नही चल सकता । इन दोनो(चरम)स्थानो का आचरण नहीं करना इसे जान ॥३॥

(७१४) शास्ता (तीर्थंकर) उच्छिन्न हो जायँगे, सारे प्राणी(एक दूसरेसे) असदृश हैं, या सदा बधन मे पडे(ग्रन्थिक)रहेंगे, यह एकान्तिक नहीं कहना चाहिये ॥४॥

(७१५) इन दोना(चरम)स्थानोसे(एकान्त धारणा हो तो) व्यवहार नहीं चल सकता, इन दोनो ० ॥५॥

(७१६) जो कोई छोटे प्राणी अथवा महाकाय प्राणी हैं, उनकी (हिंसासे) असमान वैर होता है, यह न कहे ॥६॥

(७१७) इन दाना ● ॥७॥

(७१८) आधाकर्म (निमित्त करके बना) भोजन जो करते हैं, (वे) अपने कर्म (पाप) से लिप्त होते या उपलिप्त नहीं होते, दोनो नहीं कहना" यह जाने ॥८॥

(७१९) इन दोनो ०॥९॥

(७२०) यह भी न कहे कि जो यह स्थूल ग्राहार, तथा कमगत (शरीर) है, सर्वत्र वीर्य (शक्ति) है या नही ॥१०॥

(७२१) इन दोनो ० ॥११॥

(७२२) लोक या ग्र-लोक नही है, यह ख्याल न लाये, लोक ग्रौर ग्र-लोक (दोनो) हैं, यही ख्याल रक्खे ॥१२॥

(७२३) जीव ग्रौर ग्र जीव नही हैं, यह ख्याल नही रक्खे, जीव ग्रौर ग्रजीव हैं, ऐसा ख्याल रक्खे ॥१३॥

(७२४) धर्म ग्रौर ग्र-धर्म नही, ० ॥१४॥

(७२५) बध ग्रौर मोक्ष नही है, यह ख्याल न रक्खे ।० ॥१५॥

(७२६) पुण्य या पाप नही है, ० ॥१६॥

(७२७) ग्रास्रव (चित्तमल-कर्म ग्रानेका मार्ग) या सवर(सयम) नही है, ० ॥१७॥

(७२८) वेदना (महसूस करना) ग्रौर निर्जरा(कर्म नाश) नहीं है, ० ॥१८॥

(७२९) क्रिया या ग्रक्रिया नही है, ० ॥१९॥

(७३०) क्रोध या मान नही है, ० ॥२०॥

(७३१) माया (छल) या लोभ नही है, ० ॥२१॥

(७३२) प्रेम, या द्वेष नही है, ० ॥२२॥

(७३३) चारो गतियो वाला ससार नही है, ० ॥२३॥

(७३४) देव ग्रौर देवी नही हैं, यह ख्याल न रक्खे, देव ग्रौर देवी हैं, यह ख्याल रक्खे ॥२४॥

(७३५) सिद्धि या ग्र-सिद्धि नहीं है, ० ॥२५॥

(७३६) सिद्धि (मोक्ष) जीवका अपना स्थान नही है, वल्कि सिद्धि जीवका निज स्थान है ॥२६॥

(७३७) साधु या असाधु नही हैं, ० ॥२७॥

(७३८) कल्याण (पुण्य) या पाप नही है ० ॥२८॥

(७३९) (सर्वथा) कल्याण, या पापीसे (लोक) व्यवहार नही चल सकता। जो वैर है, मूढ पण्डित श्रमण उसे नही जानते ॥२९॥

(७४०) अशेष (जगत्) अक्षय (नित्य) है, या सब दुःख है, प्राणी (निरपराध) वधयोग्य है या अ-वध्य, ऐसा वचन न निकाले ॥३०॥

(७४१) समता युक्त आचार वाले, साधु जीवनवाले भिक्षु देखे जाते हैं, (अत.) ये मिथ्या जीविका वाले हैं, ऐसी दृष्टि न रक्खे ॥३१॥

(७४२) दानकी प्राप्ति होती है या नहीं, इसे धीमान् न व्याकृत (कथित) करे, और शान्ति मार्गको बढाये ॥३२॥

(७४३) जिनोक्त स्थानोको सयमम स्थापित करके मोक्ष होने तक प्रयत्नमें लाये ॥३३॥

॥ पाँचवाँ अध्ययन समाप्त ॥

अध्ययन ६

आर्द्रक–मुनिका आचार-पालन

(७४४) (गोशालने आर्द्रकके मनमें भ्रम पैदा करनेके लिये कहा) हे आर्द्रक, (भगवान्के) पहले किये आचरण को सुनो। श्रमण (महावीर) पहले अकेले विचरण करते थे, (फिर) वह भिक्षुओंका उपनयन (उपसम्पदा) कर अब अलग-अलग सविस्तर (धर्म) का व्याख्यान करते हैं ॥१॥

(७४५) उन अ-स्थिरचित्त (महावीर)ने यह आजीविका स्थापित की है, जो कि गण के साथ सभामें जा भिक्षुओंके बीच बहु-जनोंके लिये भाषण करते, (उनका यह आचरण) पहलेसे मेल नहीं खाता ॥२॥

(७४६) "(पहलेका) एकान्त अथवा आजका (सघयुक्त जीवन) दोनों परस्पर मेल नहीं खाते।" (इस पर आर्द्रकने कहा)—पहले, और अब, तथा आगे भी वह एकान्त का इस प्रकार सेवन करते हैं ॥३॥

(७४७) लोकको समझकर जगम-स्थावरोके कल्याण करनेवाले श्रमण-ब्राह्मण (महावीर) हजारोके बीच भाषण करते भी, वैसे तथता-वाले एकान्तका ही साधन करते हैं ॥४॥

(७४८) क्षमायुक्त, दान्त, जितेन्द्रिय (महावीर)को धर्म वचन करने में दोष नहीं, भाषाके दोष को निवारण करनेवाले(भगवान्का) भाषण सेवन करना गुण है ॥५॥

(७४९) (भिक्षुओंके) पाँच महाव्रतों, और (उपासकोंके) पाँच

अणुव्रतोंको, तथा आस्रवों (चित्तमलों) के, पाच संवरों का, यहाँ पूर्ण श्रमणभावमें थोड़ी भी शका करने पर विरक्ति(का उपदेश करते हैं), यह मैं कहता हूँ ॥६॥

(७५०) (आजीवक-मत प्रणेता गोशालने कहा)—ठडे जलको, अपने निमित्त बने भोजनको, और स्त्रियोको भी मेवन करे, (इससे) एकान्त विचरण करनेवाले तपस्वी, हमारे धर्ममें पाप-लिप्त नहीं होते ॥७॥

(७५१) (आर्द्रकने कहा) ठडे जलको ० स्त्रियोको, इन्हे जानत सेवन करते (आदमी) घरबारी और अ-श्रमण हो जाते है ॥८॥

(७५२) बीजोदक (कच्चे बीज कच्चा पानी) और स्त्रियोको सेवन करते यदि श्रमण होवें, तो घरबारी भी श्रमण हो जायँगे, क्योंकि वे भी उसी प्रकार सेवन करते हैं ॥६॥

(७५३) जो बीज-उदक-भोजी भिक्षु जीविकाके लिय भिक्षा-विधि ग्रहण करते हैं, वे कुल-परिवारके सम्बन्धको छोड़नेपर भी काया पोसन वाले हैं, (आवागमन के) अन्त करनेवाले नही हैं ॥१०॥

(७५४) (गोशालने कहा) यह वचन निकाल कर (आर्द्रक तुम) सारे धर्मानुयायियोकी निन्दा करते हो। धर्मानुयायी अपने-अपने सिद्धान्तको अलग-अलग बतलाते, प्रगट करते हैं ॥११॥

(७५५) (आर्द्रक ने कहा) वे परस्पर निन्दा करते, हैं, "(हम) श्रमण ब्राह्मण है" कहते हैं। स्वमतके अनुष्ठानसे पुण्य होता, दूसरे के में नहीं होता। हम (उनकी) दृष्टिकी निन्दा करते हैं, और कुछ नहीं निन्दते ॥१२॥

(७५६) हम किसीको भेससे नही निन्दा करते,अपने सिद्धोके मार्गको प्रकट करते हैं, इस सरल अनुपम मार्गको सत्पुरुष आर्योने बतलाया ॥१३॥

(७५७) ऊपर-नीची-तिरछी (सारी) दिशाओंमें जो भी स्थावर और जंगम प्राणी हैं, प्राणियों-की हिंसासे घृणा करने वाले संयमी लोकमें किसी की निन्दा नहीं करते ॥१४॥

(७५८) (गोशालने कहा) श्रमण(महावीर)भीरु हैं, धर्मशालाओं और आरामगृहों (विहारों में) निवास नहीं करते, क्योंकि वह सोचते हैं—(वहां) बहुतेरे मनुष्य कम बेशी बोलने-चालनेवाले और दक्ष होते हैं ॥१५॥

(७५९) (वहां) कितने ही शिक्षक, बुद्धिमान्, सूत्रों और उनके अर्थोंमें विशेषज्ञ होते हैं। (वे) दूसरे भिक्षु कुछ पूछ न बैठें, इस भयसे (महावीर) वहां नहीं जाते ॥१६॥

(७६०) वह (भगवान्) कामनाके लिये कार्य नहीं करते। न बालकों जैसा कार्य करते हैं। राजा की आज्ञासे या भय से भी नहीं, (प्रश्नका) उत्तर देते, वह आर्यों के स्वेच्छा युक्त कार्यसे (भाषते) ०॥१७॥

(७६१) जा कर या न जा कर वहां समताके साथ आशुप्रज्ञ (महावीर) उपदेश करते है, अनार्य (लोग) आर्य-दर्शनसे दूर होते हैं, इसलिये उनके पास वह (नहीं जाते) ॥१८॥

(७६२) (गोशालने कहा— जैसे लाभ चाहनेवाला बनिया पण्य ले आमदनीके कारण मेल करता है, वही बात श्रमण ज्ञातृ-पुत्र की है, यही मेरा मत और वितर्क है ॥१९॥

(७६३) (आर्द्रकने कहा —) नया (कर्म) न करे, पुराने को हटावे। वह तायी (रक्षक) ऐसा कहते हैं। कुमतिको छोड़कर (आदमी) मोक्ष पाता है। इतने से ब्रह्मव्रत कहा गया। उस (मोक्ष) के उदयकी कामना श्रमण (महावीर) रखते है। यह मैं कहता हूं ॥२०॥

(७६४) परिग्रह (नाम नचय) की ममतामें पड़े बनिये प्राणि-

समूहकी हिंसा करते हैं, वह मुनाफेकेलिए कुल परिवारको न छोड समग करते हैं ॥२१॥

(७६५) वित्तक लोभी, मैथुनम अति आसक्त, खाद्यक लिय वनिये (सवत्र व्यापारके लिये) जाते है। हम तो कामम अनासक्त हैं (और) मनाय प्रमम फँस ॥२२॥

(७६६) व हिंसा और परिग्रह न छोड, (उनम) फँस अपनेको दण्ड देनेवाले हैं। उनका जो वह लाभ कहा जाता है वह चारो गतियों और दुख का दनवाला है ॥२३॥

(७६७) वह लाभ न पूरा है न सदाका है, विद्वान् उसे दुर्गुण लाभ बतलाते हैं उसका ऐसा लाभ है तायी ज्ञानी उस (लाभ) को साधते हैं, जो सादि (पर) अनन्त है ॥२४॥

(७६८) अहिंसक, सवप्रजानुकम्पक, धमम स्थित, कमके विवेकके हेतु उन (भगवान्) को आत्म दण्डी (वनिय) से उपमा देना (गोशाला) तेरे ही नानक अनुकूल है ॥२५।

(७६९) खलीक टुकडको भी शूली पर वध कर 'यह पुरुष है ऐसा सोच पकाये, अथवा लौकी को भी बालक मान (यदि पकाये), वा हमारे मतम वह प्राणिवध (के पाप) स लिप्त होता है ॥२६॥

(७७०) और (यदि कोई) म्लेच्छ खलीक भ्रमम बींधकर आदमी को, अथवा बच्चेको लौकी (जान) पकाये तो हमारे (मतम) वह प्राणि वध स लिप्त नही होता ॥२७॥

(७७१) पुरुष या बच्चेको बींधकर कोई आग म शूल पर पकाय, खरावी पिण्डा (यदि) समझता (हो), तो बुद्धो (श्रहतो) की पारणक योग्य वह (वस्तु) है, (यह शाक्य भिक्षु कहत हैं) ॥२८॥

(७७२) दो हजार स्नातक भिक्षुओंको जो नित्य भोजन कराते हैं, वह भारी पुण्यराशि जमाकर महासत्व आरुप्य (देवता) होते हैं ॥२९॥

(७७३) प्राणियोको जबरदस्ती (मार कर) पाप करना यतियोके योग्य नही है, जो उसके बारेमे बोलते या सुनते, उन दोनोके अज्ञान-केलिये वह बुरा है (यह धर्मज्ञ जिन कहते है) ॥३०॥

(७७४) ऊपर-नीचे-तिरछे दसो दिशाओं मे जंगम. स्थावर (प्राणियो) के चिन्हो को देख कर प्राणियोंकी (हिंसाके) भय से बात या कार्य (विवेक पूर्वक) करे, तो (उसे) कोई दोष नही ॥३१॥

(७७५) खलीमे (पुरुषका) ख्याल नहीं हो सकता, अनाडी ही ऐसा कहता है, खलीकी पिण्डी मे कहा यह सम्भव है, यह बात असत्य है ॥३२॥

(७७६) जिस वाणीको बोलनेसे पाप लगे, वैसी वाणी न बोले, (गोशाल,) यह तुम्हारा कथन गुणोचित नही है, (कोई) दीक्षित (भिक्षु) ऐसा नही बोलता ॥३३॥

(७७७) (बौद्ध-भिक्षुओ,) तुमने (अलकारकी भाषाकी अपेक्षा) परम-अर्थको पा लिया ? (तुमने) पूर्वसमुद्र(बगसागर)और पश्चिम समुद्र (अरब सागर) हाथमे रक्खा जैसा छूकर देख लिया ? ॥३४॥

(७७८) जीवोके दु.खको अच्छी तरह सोच और खाद्य अन्नकी विधिकी शुद्धि को भी (जान) कपट भेमसे जीनेवाला होकर छलकी बात न कहे, सयतो का यही धर्म है ॥३५॥

(७७९) जो दो हजार स्नातक-भिक्षुओको नित्य भोजन कराये, वह अ-सयत खून रगे हाथो वाला, इस लोकमे निन्दा पाता है ॥३६॥

(७८०) मोटे भेडेको मार कर (जो लोग व्यक्ति के) उद्देश्यसे भात बना, उसे नमक और तेलसे छोक-बधार कर मिर्चके साथ मास पकाते हैं ॥३७॥

(७८१) फिर बहुतसे मासको खाते, हम पापसे लिप्त नही होते, इस तरह अनार्यधर्मी, रस लोलुप, बाल-अनार्य कहाते हैं ॥३८॥

(७८२) जो वैसे (भोजन) को खाते हैं, वे अज्ञानी पापका सेवन करते हैं। कुशल पुरुष ऐसे को (खाने का) मन भी नहीं करते, मास खानेकी बात असत्य है ॥३९॥

(७८३) सारे प्राणियोंपर दया करनेके लिय सावद्य-वध्य दोषको वर्जित करते, पापकी (शका से) ज्ञातृ-पुत्रीय (किसी के) उद्देश्यसे बने भोजनको निषिद्ध करते हैं ॥४०॥

(७८४) प्राणियोंकी हिंसासे जुगुप्सित हो सारे प्राणियोंमे दण्ड (हिंसाका ख्याल) हटाये। सदोष (आहार) का न भोगना सयतका धर्म है ॥४१॥

(७८५) इस समाधि (युत) निर्ग्रन्थ धर्म म समाधि (या) इसमे सुस्थित, इच्छारहित हो (जो) विचरे, वह शील-गुण-सहित बुद्ध, (तत्वज्ञ) मुनि (तथा) अत्यन्त यशका भागी होता है ॥४२॥

(७८६) जो नित्य दो हजार स्नातक-ब्राह्मणोंको भोजन कराते, वे भारी पुण्यराशि पैदा कर देव होते हैं, यह वेदवाद है। ४३॥

(७८७) कुलम आनेवाले दो हजार स्नातको विप्रोको जो नित्य भोजन कराये, वह (मांस) लोलुप (नरकके पक्षियोसे) भरे बहुत जलता तथा नरकसेवी होता है ॥४४॥

(७८८) दयायुक्त धर्ममे घृणा करता, वधप्रतिपादक धर्मकी प्रशसा करता, और दुश्शीलको भोजन कराता, (ऐसा) राजा निशा (रूपी नरक) मे जाता है। (वह सुरोमें कहा से जायगा ?) ॥४५॥

(७८९) (एकदण्डियोने आर्द्रक से कहा) हम दोनो धर्ममें स्थित (तत्पर) हैं, अब सुस्थित हैं, और आगामीकालमें भी। हमारे यहाँ भी आचारशील ज्ञानी (प्रशसनीय है), परलोकम (एक दूसरेसे कोई) विशेष नहीं है ॥४६॥

(७७३) प्राणियोको जबरदस्ती (मार कर) पाप करना यतियोके योग्य नही है, जो उसके बारेमे बोलते या सुनते, उन दोनोके अज्ञान-केलिये वह बुरा है (यह धर्मज्ञ जिन कहते हैं) ॥३०॥

(७७४) ऊपर-नीचे-तिरछे दसो दिशाओ मे जंगम, स्थावर (प्राणियो) के चिन्हो को देख कर प्राणियोकी (हिंसाके) भय से बात या कार्य (विवेक पूर्वक) करे, तो (उसे) कोई दोष नही ॥३१॥

(७७५) खलीमे (पुरुषका) ख्याल नहीं हो सकता, अनाडी ही ऐसा कहता है, खलीकी पिण्डी मे कहा यह सम्भव है, यह बात असत्य है ॥३२॥

(७७६) जिस वाणीको बोलनेसे पाप लगे, वैसी वाणी न बोले, (गोशाल,) यह तुम्हारा कथन गुणोचित नही है, (कोई) दीक्षित (भिक्षु) ऐसा नही बोलता ॥३३॥

(७७७) (बौद्ध-भिक्षुओ,) तुमने (अलकारकी भाषाकी अपेक्षा) परम-अर्थको पा लिया ? (तुमने)पूर्वसमुद्र(बगसागर)और पश्चिम समुद्र (अरब सागर) हाथमे रक्खा जैसा छूकर देख लिया ? ॥३४॥

(७७८) जीवोके दु खको अच्छी तरह सोच और खाद्य अन्नकी विधिकी शुद्धि को भी (जान) कपट भेससे जीनेवाला होकर छलकी बात न कहे, समतो का यही धर्म है ॥३५॥

(७७९) जो दो हजार स्नातक-भिक्षुओको नित्य भोजन कराये, वह अ-सयत खून रगे हाथो वाला, इस लोकमे निन्दा पाता है ॥३६॥

(७८०) मोटे भेडेको मार कर (जो लोग व्यक्ति के) उद्देश्यसे भात बना, उसे नमक और तेलसे छोक-बघार कर मिर्चके साथ मास पकाते हैं ॥३७॥

(७८१) फिर बहुतसे मासको खाते, हम पापसे लिप्त नही होते, इस तरह अनार्यधर्मी, रस लोलुप, बाल-अनार्य कहाते हैं ॥३८॥

(७९८) बुद्ध-स्पष्टतत्वदर्शी(की) आज्ञासे इस समाधिको (कहा) इसमें तीन प्रकारसे सुस्थिन तायी (अर्हद्) हैं। महाभवसागरको समुद्रकी तरह तरनेको धर्म कहा, ऐसा मैं कहता हूँ ॥५५॥

॥ छठवां अध्ययन समाप्त ॥

अध्ययन ७

नालंदीय

(७९९) उस कालम, उस समयमे, ऋद्धि सौंदर्य समृद्ध ० परिपूर्ण, राजगृह नामक नगर होता था। उस राजगृह नगरसे बाहर उत्तर-पूर्व (दिशा) मे अनेक सौ भवनोमे युक्त नालदा नाम बाहिरिका (शाखापुरी) नगरी थी ॥१॥

(८००) उस बाहिरिका नालदाम आढ्य, दीप्तवित्त, फैन विपुल भवन, शयनासन, वाहनसे युक्त, बहुत धन बहुत सोने-चादीवाला, (धनके) आयोग, प्रयोगस युक्त, बहुत भोजन-पानका देनवाला, बहुत दासी-दास-बैल-भैस-गायोका रखनेवाला, बहुत जनोसे अपराजित लेप नामक गृहपति रहता था।

वह लप गृहपति (वैश्य) जैन श्रमणोका उपासक भी था, जीव-अजीवादि सात तत्वो का जानकार हो विहरता है। वह निर्ग्रन्थ प्रवचन (सूत्रो) म शका=सन्देह=विचिकित्सा से रहित परमार्थ प्राप्तगृहीतार्थ था। उसकी हड्डी और मज्जा तक (धर्म) के प्रेमके अनुरागस रगा था। वह कहता—आवुस, यह निर्ग्रन्थी प्रवचन है, यही परमार्थ है, बाकी निरर्थक, वह खुले किवाडो वाला, मुक्त द्वार, रानिवासोम भी उसका प्रवेश निषिद्ध नही था। चतुर्दशी, अष्टमी (दो) और पूनम को पोषध

(७६०) अव्यक्तरूप, महान्, सनातन, अक्षय, और अव्यय पुरुषको ताराओंमें चन्द्रमाकी भाँति सर्वरूपमें सारे प्राणियोमे चारो ओर हम मानते है ॥४७॥

(७६१) (आर्द्रकने कहा—) अव्यय मानने पर (जीव) न मरते न आवागमन करते, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, कीट, पक्षी, सरिसृप, तथा देवलोक (जो परस्पर भिन्न है, वह भी) नही हो सकते ॥४८॥

(७६२) इस लोकको जाने विना ही धर्मको न जानने जो एकदण्डी केवल 'ज्ञानसे मुक्ति, बतलाते हैं, अपार घोर ससारमे वे स्वय नष्ट हो औरो को भी नष्ट करते है ॥४९॥

(७६३) जो यहाँ पूर्ण केवल ज्ञानस समाधियुक्त हो लोकको खूब जानते हैं, जो सारे धर्मको कहते है, (वे) स्वय पारगत दूसरोको भी तारते है ॥५०॥

(७६४) जो यहा निन्दनीय (कर्म) स्थानमे वसते हैं, जो लोकमे (नीच) आचरण युक्त हैं, मैंने अपने मतके अनुसार कहा, अब आवुस, (दूसरोके मत) उलटे है ॥५१॥

(७६५) हस्तितापस कहते हैं : 'हम वर्षमे बाण से एक-एक ही महागज मारते हैं, बाकी जीवो के ऊपर दया करनेके लिये वर्ष भरकी वृत्ति (एक गजसे) करते हैं ॥५२॥

(७६६) वर्षमे एक-एक प्राणको मार कर भी दोषसे निवृत्त नही हो सकते। (फिर तो) शेष जीवोके वधमे लगे गृहस्थोंको भी थोडे (पाप वाला क्यो) न मानें ॥५३॥

(७६७) वर्षमे एक-एक प्राणी मारता श्रमण व्रतमे स्थित (जो पुरुष माना गया), वह अनार्य है, वैसे (पुरुष) केवली (मुक्त) नही होते ॥५४॥

(८०४) ऐसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, ऐसा प्रत्याख्यान कराना सुप्रत्याख्यान कराना होता है। वे ऐसे प्रत्याख्यान कराते अपनी प्रतिज्ञा-का अतिक्रमण नहीं करते। राजाज्ञा* छोड अन्यत्र गृहपति का चोर पकडने छोडनसे त्रस-भूत प्राणियो पर दण्ड चला, ऐसा यदि भाषाके प्रयोगके होनेपर, जो वे क्रोधसे लोभसे या दूसरे (प्रकार) से प्रत्याख्यान कराते हैं, उनका यह झूठ बोलना होता है। यह उपदेश भी न्याय्य नही है क्या ? क्या आवुस गौतम, तुम्हे भी यह पसद है ? ॥६॥

(८०५) भगवान् गौतमने वादके सहित (बहस करते) उदक पेढाल-पुत्र से यों कहा 'आवुस श्रमण, हम ऐसा नही पसद है, जो कि वे श्रमण-ब्राह्मण ऐसा कहते हैं ० ऐसा निरूपण करते हैं। वे श्रमण-ब्राह्मण ठीक भाषा नही बोलते, व अनुतापिनी भाषा बोलते हैं, वे अभ्याख्यान(निन्दा) करते हैं। वे श्रमणो और श्रमणोपासकोंका अभ्याख्यान करते हैं। और जो लोग अन्य जीवो=प्राणों=भूतो=सत्वा के विषयमे सयम करते हैं, उनका भी अभ्याख्यान करते हैं। किस कारण ? सारे प्राणी ससरण(आवागमन)करनेवाले हैं। जगम प्राणी भी स्थावरत्वको प्राप्त होते हैं, जगमकाया से छूट स्थावरकायामे उत्पन्न होते, स्थावरकायासे छूट त्रस (जगम) कायामे पैदा होते। जगम कायामे उत्पन्न पुरुष वध्य (हननके योग्य) नही होते ॥७॥

(८०६) उदक पेढाल-पुत्रने वाद (बहस) करते भगवान् गौतमसे

* राजाने आज्ञा दी थी, नगरके सभी लोग त्यवार पूनोके महोत्सव-केलिये नगरसे बाहर आयें, जो नहीं आयेंगे, उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा। किसी गृहपतिके पाच पुत्र बाहर जाना भूल गये। राजाने अपराधी(चोर)समझ पाचोंको प्राणदण्ड दिया। गृहपतिने पुत्रोंकी प्राणभिक्षा मांगी। पाचोंके न मानने पर, चार की, फिर तीन की, फिर दो की, अन्तमे एककी प्राणभिक्षा मजूर हुई। इसमे एकको बचानेसे चारके राजाज्ञानुसार मारे जानेके दोषमें उक्त गृहपति नहीं लिप्त होता।

व्रत अच्छी तरह पालन करता, निर्ग्रन्थ श्रमणो को अपेक्षित खान-पान, खाद्य-स्वाद्य से लाभान्वित करता, बहुतसे शील-व्रत-गुण-दुराचार से विरति (विरमण) प्राप्त प्रत्याख्यान = त्याग करता, पोषध और उपवासोसे आत्माको शुद्ध करता विहरता था ॥२॥

(८०१) उस लेप गृहपतिकी बाहिरिका नालदाके उत्तर-पूर्व दिशामें शेषद्रव्य नामक अनेक सौ खंभोवाली प्रासादिक ० अनुरूप उदकशाला (प्याऊ) थी। उस शेषद्रव्य उदकशालाके उत्तर-पूर्वदिशाम हस्तियाम (हथियाव) नामक वनखंड था। वनखंडका रंग काला था ॥३॥

(८०२) उस गृहप्रदेशम भगवान् गौतम विहरते थे। भगवान् आराम के नीचे थे। तब भगवान पार्श्वके अनुयायी निग्रन्थ, गोत्रसे मेदार्य उदक पेढालपुत्र, जहाँ भगवान् गौतम (इन्द्रभूति) थे, वहाँ गये, जा के भगवान् गौतममे ऐसे बोले—आवुस गौतम, मुझे कोई बात पूछनी है, उसे आवुस गौतम (अपने) सुने और देखे के अनुसार स-वाद व्याकरण करें (=बतलायें)। भगवान् गौतमने उदक पेढालपुत्रसे यो कहा—

" आवुस यदि सुनकर निशामन कर जानेंगे, तो (हम कहेंगे) ॥४॥

(८०३) आवुस गौतम, कुमारपुत्रीय नामक श्रमण हैं, (जो) तुम्हारे प्रवचनको प्रवचन कहते हैं। उप-सम्पन्न गृहपति श्रमण उपासकको यो प्रत्याख्यान कराते है—राजा को छोड़, गृहपतिके चोर पकड़न और छोड़नके दृष्टान्त के अनुसार जगम प्राणियाम ऐसा दण्ड दे कर प्रत्याख्यान करना दुष्प्रत्याख्यान है। ऐसा प्रत्याख्यान करावे अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण करते है। किस कारण ? ससारी-स्थावर प्राणी भी त्रस हो (जन्मान्तरमे) हो जाते है, त्रस भी प्राणी स्थावर हो जनमते हैं। स्थावरकायसे छूट कर त्रसकायमे पैदा होते हैं, त्रसकायसे छूट कर स्थावरकायमे पैदा होते हैं। उन स्थावरकायोमे उत्पन्नोका वध होना सम्भव है ॥५॥

आवुस गौतम, ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसम न मारकर श्रमणोपासक (जैन) अपने एक प्राणीके न मारनेकी विरति म सफल हो। किस हेतु? सारे प्राणी आवागमन करनेवाले हैं। स्थावर प्राणी भी जगमत्वको प्राप्त होते हैं। स्थावरकाया से छूटकर सारे स्थावरकाया म उत्पन्न होते हैं। जगम- काया से छुटकर सारे स्थावरकायाम उत्पन्न होते हैं। स्थावरकायों मे उत्पन्न वह घातलायक (वध्य) होते हैं।

वहम कर भगवान गौतमने उदक पेढाल-पुत्रस यो कहा—आवुस उदक, हमारे कयनमे ऐसा प्रश्न नही उठता, लेकिन तुम्हारे कथनम वह उठ सकता है। वह बात यह है—जहा श्रमणोपासक सभी प्राणो=सभी भूतों=सभी जीवो=सभी सत्वोम त्यक्तदण्ड (अहिंसक) हाता है। सो किन हेतु? प्राणी आवागमन वाले हैं, अन स्थावर प्राणी भी जगम (त्रस) कायाम जनमते हैं और जगम प्राणी भी स्थावराम पैदा होते है। जो जगमकायो को छोडकर स्थावरकायोमे उपजते हैं और जो स्थावर-कायोको छोडकर जगमकायो मे उत्पन्न हो जाते हैं। वह जगमकायम उत्पन्न (श्रावकोकेलिए) घात-योग्य (वध्य नही होते। वे प्राणी भी कहे जाते हैं, जगम (त्रस) भी कहे जाते हैं। वे महाकार्य और चिरायु होते हैं। वे बहुतसे प्राणी हैं, जिनम श्रमण-उपासकका प्रत्याख्यान (हिंसाविरति) सफल होता है। वैसे प्राणी कम ही होते हैं, जिनमे श्रमणोपासकोंका प्रत्याख्यान नही हो पाता। एम (श्रावक) महान् जगमराय (के घात से) शान्त और विरत होता है। उनके बार म तुम या दूसरे लोग जो कहते हैं, कि ऐसा एक भी पर्याय नही, जिसम श्रमण-उपासकका प्रत्याख्यान हो सके, एक प्राण भी निहित-दण्ड हो सके (यह कहना गलत है) ॥१०॥

(८०६) भगवान् (गौतम) कहते हैं—निर्ग्रन्थ (जैन साधु) को पूछना चाहिये—आवुस निर्ग्रन्थ, यहा (दुनियामें) कोई-कोई मनुष्य होते हैं, वह ऐसा पहने मान लेते हैं—यह मुण्डित होकर घर से बेघर हो

यह कहा—आवुस गौतम, कौन हैं वे जिन्हे आप लोग जंगम प्राणी त्रस या दूसरा कहते हैं ? वादके साथ भगवान् गौतमने उदक पेढाल-पुत्र से यो कहा—आवुस उदक, जिन्हे तुम जंगम-भूत-प्राणी जंगम कहते हो' उन्हे ही हम जंगम प्राणी कहते हैं। और जिन्हे हम जंगम-प्राणी कहते, उन्हे ही तुम जगमभूत प्राणी कहते हो। यह दोनो बाते तुल्य = एकार्थ हैं। क्यो आवुस, ऐसी अवस्थामें तुम्हें जंगम भूत प्राणी जगम यह कहना अच्छा लगता है और' जंगम प्राणी जगम' यह कहना बुरा लगता है। एक की तुम निन्दा करते हो और दूसरे का अभिनन्दन करते हो। इसलिये यह आपका किया भेद-न्याय सगत नही है।

भगवान् ने फिर कहा—कोई कोई आदमी हैं, जो साधुके पास आकर (पहले जैसा कहते है—) "हम मुण्डित होकर घरसे बेघरताको नही पा सकते, सो हम क्रमशः साधुओंके गोत्र-पदको न-प्राप्त करेंगे। वे ऐसा सोचते, ऐसा विचार करते हैं। (राजा आदि) की आज्ञाके बिना गृहपतिका चोरके ग्रहण और त्याग द्वारा जो जंगम प्राणियोंमें दण्डको परिवर्जित करना है, वह भी उनके लिये कुशल ही है ॥८॥

(८०७) त्रस त्रस कहे जाते हैं, और वे उसके कर्म-फल भोगके कारण जगम नाम धारण करते हैं। उसकी जंगम आयु क्षीण होती है, जगमकाया की स्थिति भी (क्षीण होती है)। तब उस आयुको वह छोड़ देते हैं। उस आयुको छोडकर वे स्थावरमे जनमते है। स्थावर भी वह कहे जाते हैं, क्योंकि स्थावरके फल-भार वाले कर्मके द्वारा स्थावर है। इसलिये यह नाम इनको मिलता है। स्थावर आयु भी क्षीण होती है, स्थावरकायकी स्थिति भी, तब वे उस आयु(शरीर)को छोडते हैं। उस आयुको छोड फिर वह पारलौकिकता (जगमता) को प्राप्त होते हैं। वे प्राणी भी कहे जाते हैं, वे त्रस जगम भी कहे जाते हैं, वे महाकाय, वे चिरायु होते हैं ॥९॥

(८०८) बहस करते उदक पेढाल-पुत्रने भगवान् गौतमसे यो कहा—

आवुस गौतम, ऐसी कोई स्थिति नही है, जिसम न मारकर श्रमणोपासक (जैन) अपने एक प्राणीके न मारनेकी विरति म सफल हो। किस हेतु ? सारे प्राणी आवागमन करनवाले है। स्थावर प्राणी भी जगमत्वको प्राप्त होते हैं। स्थावरकाया स छूटकर सारे स्थावरकाया म उत्पन्न होते हैं। जगम- काया से छूटकर सारे स्थावरकायाम उत्पन्न होते है। स्थावरकायों म उत्पन्न वह घातलायक (वध्य) होते हैं।

वहस कर भगवान गौतमने उदक पेढाल पुत्रसे यो कहा—आवुस उदक, हमारे कथनम ऐसा प्रश्न नही उठता लेकिन तुम्हारे कथनमे वह उठ सकता है। वह बात यह है—जहा श्रमणोपासक सभी प्राणो=सभी भूतो=सभी जीवो=सभी सत्वोमे त्यक्तदण्ड (अहिंसक) होता है। सो किस हेतु ? प्राणी आवागमन वाले ह अत स्थावर प्राणी भी जगम (त्रस) कायामे जनमते हैं और जगम प्राणी भी स्थावराम पैदा होते है। जो जगमकायो को छोडकर स्थावरकायोमे उपजते हैं और जो स्थावर-कायोको छोडकर जगमकायो म उत्पन्न हो जाते हैं। वह जगमकायमे उत्पन्न (श्रावकोकेलिए) घात-योग्य (वध्य नही होते। वे प्राणी भी कहे जाते हैं, जगम (त्रस) भी कहे जाते है। वे महाकाय और चिरायु होते हैं। वे बहुतसे प्राणी है, जिनम श्रमण उपासकका प्रत्याख्यान (हिंसाविरति) सफल होता है। वैसे प्राणी कम ही होते है, जिनम श्रमणोपासकोका प्रत्याख्यान नहीं हो पाता। ऐसे (श्रावक) महान् जगमकाय (के घात मे) शान्त और विरत होता है। उनके बारे म तुम या दूसरे लोग जो कहते हैं, कि ऐसा एक भी पर्याय नहीं, जिसम श्रमण-उपासकका प्रत्याख्यान हो सके, एक प्राण भी निहित दण्ड हो सके (यह कहना गलत है) ॥१०॥

(८०६) भगवान् (गौतम) कहते है—निर्ग्रन्थ (जैन साधु) को पूछना चाहिए—आवुस निर्ग्रन्थ, यहा (दुनियाम) कोई-कोई मनुष्य होते हैं, वह ऐसा पहले मान लेते हैं—यह मुण्डित होकर घर से बेघर हो

यह कहा—ग्रावुस गौतम, कौन हैं वे जिन्हे आप लोग जगम प्राणी त्रस या दूसरा कहते हैं ? वादक साथ भगवान् गौतमने उदक पेढाल-पुत्र से यों कहा—ग्रावुस उदक, जिन्ह तुम जगम भूत प्राणी जगम कहते हो' उन्हे ही हम जगम प्राणी कहते हैं। और जिन्ह हम जगम प्राणी कहते उन्हे ही तुम जगमभूत प्राणी कहते हो। यह दोनो बात तुल्य = एकार्थ हैं। क्यो ग्रावुस, ऐसी अवस्थामे तुम्हे जगम भूत प्राणी जगम यह कहना अच्छा लगता है और जगम प्राणी जगम' यह कहना बुरा लगता है। एक को तुम निन्दा करने हो और दूसरे का अभिनन्दन करते हो। इसलिये यह आपका क्रिया भेद-न्याय सगत नही है।

भगवान् ने फिर कहा—कोई कोई आदमी हैं, जो साधुके पास आकर (पहने जैसा कहते है—) 'हम मुण्डित होकर परम वैपरताको नही पा सकते, सो हम क्रमश साधुग्राके गोत्र पदको न-प्राप्त करगे। वे एसा सोचते, ऐसा विचार करते हैं। (राजा आदि) की आज्ञाके विना गहपतिका चोरके ग्रहण और त्याग द्वारा जो जगम प्राणियोम दण्डको परिवर्जित करना है, वह भी उनके लिये कुशल ही है ॥८॥

(८०७) त्रस त्रस कहे जाते हैं, और वे उसके वस फल भोगके कारण जगम नाम धारण करते हैं। उसकी जगम आयु क्षीण होती है, जगमकाया की स्थिति भी (क्षीण होती है)। तब उस आयुको यह छोड देते हैं। उस आयुको छोडकर वे स्थावरम जनमत हैं। स्थावर भी वह कहे जाते हैं क्योंकि स्थावरके फल-भार वाले यमर्द द्वारा स्थावर हैं। इसलिये यह नाम इनको मिलता है। स्थावर आयु भी क्षीण होती है, स्थावरकायकी स्थिति भी तब वे उस आयु(शरीर)को छोडते हैं। उस आयुको छोड फिर वह पारलौकिकता (जगमता) को प्राप्त होते हैं। वे प्राणी भी कहे जाते हैं, वे त्रस जगम भी कहे जाते हैं, वे महाकाय, वे चिरायु होते हैं ॥९॥

(८०८) वहस करते उदक पेढाल-पुत्रने भगवान् गौतमसे यों कहा—

आवुस गौतम, ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसम न मारकर श्रमणोपासक (जैन) अपने एक प्राणीके न मारनेकी विरति म सफल हो। किस हेतु ? सारे प्राणी आवागमन करनवाले है। स्थावर प्राणी भी जगमत्वको प्राप्त होते हैं। स्थावरकाया स छूटकर सार स्थावरकाया म उत्पन्न होते हैं। जगम- काया से छुटकर सारे स्थावरकायाम उत्पन्न होते हैं। स्थावरकायो म उत्पन वह घातलायक (वध्य) होते हैं।

वहस कर भगवान **गौतमने** उदक पेढाल-पुत्रम यो कहा—आवुस **उदक**, हमारे कथनम ऐसा प्रश्न नही उठता लेकिन तुम्हारे कथनम वह उठ सकता है। वह बात यह है—जहा श्रमणोपासक सभी प्राणा=सभी भूतों=सभी जीवा=सभी सत्वोमे त्यक्तदण्ड (अहिंसक) होता है। सो किस हेतु ? प्राणी आवागमन वाले है अत स्थावर प्राणी भी जगम (त्रस) कायामे जनमते हैं और जगम प्राणी भी स्थावरोम पैदा होते है। जो जगमकायो को छोडकर स्थावरकायोमे उपजते हैं और जो स्थावर-कायोको छोडकर जगमकाया म उत्पन्न हो जाते हैं। वह जगमकायम उत्पन्न (श्रावकोकेलिए) घात-योग्य (वध्य नही होते। वे प्राणी भी कहे जात हैं, जगम (त्रस) भी कहे जात है। वे महाकायँ और चिरायु होते हैं। वे बहुतसे प्राणी हैं, जिनम श्रमण उपासकका प्रत्याख्यान (हिंसाविरति) सफल होता है। वैसे प्राणी कम ही होते है, जिनम श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान नही हो पाता। एसे (श्रावक) महान् जगमकाय (के घात से) शान्त और विरत होता है। उनके बारे म तुम या दूसरे लाग जो कहत है, कि एसा एक भी पर्याय नही, जिसम श्रमण-उपासकका प्रत्याख्यान हो सक, एक प्राण भी निहित दण्ड हो सके (यह कहना गलत है) ॥१०॥

(८०६) भगवान् (गौतम) कहते हैं—निर्ग्रन्थ (जैन साधु) को पूछना चाहिये—आवुस निर्ग्रन्थ, यहा (दुनियाम) कोई-कोई मनुष्य होते हैं, वह ऐसा पहले मान लेते हैं—यह मुण्डित होकर घर से बेघर हो

प्रव्रजित (सन्यासी) होता है, 'मृत्यु पर्यन्त इनको दण्ड देना मैंने छोड दिया है,' और जो यह गृहस्थम है उनको मृत्यु पयन्त दण्ड देना मैंने नहीं छोडा।

क्या कोई श्रमण ५, ६, १० अथवा कम या बेशी (काल तक) देशोमे विहार कर गृहस्थ बन जाते हैं ?

हा, (गृहस्थ) बन जाते हैं।

(भगवान् गौतम पूछते हैं)—क्या उन गृहस्थोके मारनेवाले का वह हिंसा प्रत्याख्यान भग होता है ?

(निर्ग्रन्थ कहते हैं)—ऐसे श्रमणोपासकने भी जगम प्राणीमे जो दण्ड त्यागा स्थावरप्राणीका दण्ड मैने नही त्यागा है। अत स्थावर-कायवाले प्राणी को भी मारनेस उसका प्रत्याख्यान भग नही होता। हे निग्रन्थो उसे ऐसा जानो, ऐसा जानना चाहिये।

भगवान् (गौतम) ने कहा – निग्रन्थोस मुझ पूछना है—आवुस निग्रन्थो यहा (लोकम) गृहपति या गृहपति पुत्र वैसे (उत्तम) कुलोमे आ क्या धम सुननेके लिय साधुओके पास जा सकते हैं ?

हा, पास जा सकते हैं।

(भगवान् गौतमने कहा)—वैस उस प्रकारके पुरपस क्या धर्म कहना चाहिय ?

हा कहना चाहिये।

क्या वे उस प्रकार धम सुनकर समझ कर यह कह सकते हैं—कि यह निग्रन्थोका प्रवचन सत्य, अनुपम, केवल, परिपूर्ण, सशुद्ध, न्यायोचित, शल्य-काटनहार, सिद्धिमाग, मुक्तिमाग, निर्याण (निगम) माग, निर्वाण-माग, यथाथ, असन्दिग्ध, सवदुख प्रहीण माग, है ? इस(माग) म स्थित जाव सिद्ध हावे, बुद्ध होत, मुक्त होत, परिनिर्वाण प्राप्त होत, सब दुक्खोका अन्त करते है। उस(माग)की आज्ञाक अनुसार उसी तरह

चलेंगे, वैसे खडे होगे, वैसे बैठेंगे, वैसे करवट लेगे, वैसे भोजन करेंगे, वैसे ही बोलेंगे, वैसे ही उत्थान करेंगे। वैसे उठकर सारे जीवो=भूता= प्राणियो=सत्वोके साथ सयम धारण करेंगे, क्या यह बोल सकते है ?

हा, सकते हैं ? (निर्ग्रन्थोने कहा)

क्या वे उस प्रकार कहे तो वह उचित है ?

हा, उचित है।

क्या वैसे लोग मू डने योग्य हैं ?

हा, योग्य हैं।

क्या वैसे लोग (प्रव्रज्यामे) उपस्थित करने योग्य हैं ?

हा, उपस्थित करने योग्य है।

उन्होने सारे प्राणियोमे ० सारे सत्वोमे दण्ड (हिंसा) त्यागा है ?

हा, त्यागा है।

वे उस प्रकारके विहारसे विहर ० चार, पाच, छ या दस अथवा कम-वेशी देशो म विहार करते घर मे जा (गृहस्थ बन) सकते हैं ?

हा, जा सकते हैं।

उन्होने सारे प्राणियो ० सारे सत्वोमे दण्ड छोड दिया ?

(निर्ग्रन्थोने कहा-) यह बात नहीं है। (दण्ड, हिंसा कर सकते हैं) वह वही जीव हैं, जिसने घर छोड कर आसन्न सारे प्राणियोमे ० सारे सत्वोम दण्ड त्यागा। पीछे सयमहीन हो आसन्नकालमे सयत होता अब असयत है। असयतका सारे प्राणियोमे ० सारे सत्वोमे दण्ड-निक्षेप (अहिंसा) नही होता। सो हे निर्ग्रन्थो, उसे ऐसा जानो, उसे ऐसा जानना चाहिए।

भगवान् (गौतम) ने कहा—निर्ग्रन्थो (जैन साधुओ) से मुझे पूछना

है आवुसो निग्रन्थो, यहा परिव्राजक या परिव्राजिकायें किसी अन्य तीर्थिक स्थानसे धम सुननेके लिए आ सकते है ?

—आ सकते हैं ।

—क्या वेंस लोगोको धर्म कहना चाहिए ?

—हा, कहना चाहिय ।

—वे वैसे(लोग) क्या प्रव्रज्यामे उपस्थापित किये जा सकते हैं ?

—हा किये जा सकते हैं ।

—क्या वे वैसे लोग साथ के उपभोगम मिलाये जा सकते हैं ?

—हा, मिलाये जा सकते है ।

—वे इस प्रकारके विहारसे विहरते वैसे ० घरम जा बस सकते हैं ?

—हा बस सकते हैं ।

और वे वैसे प्रकारके (लोगोके) साथ उपभोगियोमे मिलाय जा सकते हैं ?

(श्रमणोने कहा)—यह उचित नही है । व सब जो थे, जा पीछे उपभोगोमे सम्मिलित नहीं किये जा सकते । व जो जीव आसन्न हैं, वह उपभोगोके योग्य हैं । व जो जीव है, जा कि अब उपभोगिकता के योग्य नही । पीछे जो श्रमण, आसन्न(श्रमण) ह, अब अ-श्रमण हैं । अश्रमणके साथ निग्रन्थ श्रमण उपभोग(एक मण्डल पर खाने पीनेका मिला जुला व्यवहार) नही कर सकत । सो ऐसा जाना सा एसा जानना चाहिये ॥११॥

(८११) भगवान् (गौतम) ने कहा—कोई-कोई ऐसे श्रमण-उपासक होते हैं, जो ऐसा मान बैठते हैं हम मु डित हो, घरसे बेघर प्रव्रज्या नहीं ले सकते । [हम चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा के दिनोंमे पूरे पोषध

उपवास) का अच्छी तरह पालन करते विहरते। स्थूल मोटी हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे। उसी प्रकार मोटे मिथ्याभाषणको, मोटी चोरीका मोटे मैथुनको, मोटे परिग्रहका (त्याग) करेंगे। इच्छाको सीमित करेंगे दो करण (करने-कराने)-तीन योग (मन वचन काय) से (प्रत्याख्यान) करेंगे। मत कोई मेरे लिये कुछ कर या कराये। हम ऐसा ही प्रत्याख्यान करेंगे। वे बिना खाये, बिना पिये, बिना नहाये, कुरसी-पीढ़से उतर कर वे वह काल कर, तो (उनके बारेमें) क्या कहना चाहिये?

—अच्छी तरह काल किया, यही कहना होगा।

वे प्राणी भी कहे जाते जंगम (त्रस) भी कहे जाते। वे महाकाय हैं वे चिरायु हैं। बहुतेरे प्राणी हैं जिनमें श्रमण-उपासकका प्रत्याख्यान (हिंसात्याग) ठीक होता है। वे थोड़में प्राणी होते हैं जिनमें श्रमण उपासकका प्रत्याख्यान नहीं होता। वह महा(काय)से प्रत्याख्यान ठीक है उसे (आप आधारहीन बतलाते) यह भेद करना भी (आपका) न्याय्य नहीं है।

भगवान्(गौतम) ने और कहा कोई-कोई श्रमणोपासक होते हैं जो इस प्रकार कह देते हैं—हम मुण्डित हो घर से(बेघर)प्रव्रजित नहीं हो सकते, न हम चतुर्दशी अष्टमी, पूर्णमासीको(उपोसथ)पालन करते विहर सकते हैं। हम तो अन्तिम मरणकालमें सलेखना अन्नपान का परित्याग कर ० जीवनकी इच्छा न करते विहरेंगे। (तब) हम सारे प्राणि हिंसाका प्रत्याख्यान करेंगे सारे परिग्रहका प्रत्याख्यान करेंगे तीनो प्रकारसे। मेरेलिये मत कुछ करो न कराओ ० कुरसी-पीढ़से उतर कर जिन्होंने काल किया, (उनके बारेमें) क्या कहना चाहिये?

—ठीकसे काल किये, कहना चाहिये।

—वे प्राणी भी कहे जाते ० यह भेद करना भी न्याय्य नहीं है।

भगवान् (गौतम) ने और कहा—कोई-कोई मनुष्य होते हैं जैसे

है आवुसो निर्ग्रन्थो, यहां परिव्राजक या परिव्राजिकायें किसी अन्य तीर्थिक-स्थानसे धर्म सुननेके लिए आ सकते हैं ?

—आ सकते हैं।

—क्या वैसे लोगोंको धर्म कहना चाहिए ?

—हां, कहना चाहिये।

—वे वैसे(लोग) क्या प्रव्रज्यामें उपस्थापित किये जा सकते हैं ?

—हां, किये जा सकते हैं।

—क्या वे वैसे लोग साथ के उपभोगमें मिलाये जा सकते हैं ?

—हां, मिलाये जा सकते हैं।

—वे इस प्रकारके विहारसे विहरते वैसे ० घरमें जा बस सकते हैं ?

—हां बस सकते हैं।

और वे वैसे प्रकारके (लोगोंके) साथ उपभोगियोंमें मिलाये जा सकते हैं ?

(श्रमणोंने कहा)—यह उचित नहीं है। वे सब जो थे, जो पीछे उपभोगमें सम्मिलित नहीं किये जा सकते। वे जो जीव आसन्न हैं, वह उपभोगके योग्य हैं। वे जो जीव हैं, जो कि अब उपभोगिता के योग्य नहीं। पीछे जो श्रमण, आसन्न(श्रमण) है, अब अ-श्रमण हैं। अश्रमणके साथ निर्ग्रन्थ श्रमण उपभोग(एक मण्डल पर खान पीनसे मिला जुला व्यवहार) नहीं कर सकते। सो ऐसा जानो, सो ऐसा जानना चाहिये ॥११॥

(८११) भगवान् (गौतम) ने कहा—कोई-कोई ऐसे श्रमण उपासक होते हैं, जो ऐसा मान बैठे हैं "हम मुण्डित हो, घरसे बेघर प्रव्रज्या नहीं ले सकते। हम चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा के दिनोंमें पूरे पोषध

प्राणी भी कह जाते, त्रस (जगम) भी कह जाते महाकाय भी चिरायु भी होते। (उनमे) वे बहुतेरे होते हैं जिनके विषयमे श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान ठीक होता। ० नही न्याय्य है।

भगवान् (गौतम) ने और कहा—कोई कोई प्राणी समान आयु वाले होते हैं, जिनके बारेमे श्रमण उपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता है। वे स्वयं ही काल करते हैं। (काल) करके पर लोकगामी होते है। वे प्राणी भी कहे जाते त्रस भी कहे जाते वे महा काय एकसमान आयुवान होते। (उनमे) वे बहुतेरे है, जिनके बारेमे श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान ठीक है। ० (कहना) नही न्याय्य है।

भगवान् गौतम) ने और कहा—कोई-कोई श्रमणोपासक होते हैं वे ऐसा कहते हैं हम मुण्डित हो ० प्रव्रजित नही हो सकते। नही हम चतुर्दशी अष्टमी, पूर्णिमामे परिपूर्ण पोषध(उपवास)का पालन कर सकते। न ही हम अन्तिम कालमे ० विहार कर सकते। हम सामायिक (समयके प्रमाणके अनुसार समभावकी साहजिक प्रवृत्ति) और देश अवकाशित (कोस-योजनकी सीमा रखते) को ले इसप्रकार (उस सीमासे) अधिक (प्रतिदिन) प्रात पूरब पच्छिम उत्तर दक्खिन एस सारे प्राणों ० सारे सत्वोमे दण्ड त्यागे सारे प्राणि भूत-जीव और सत्व समूहमे क्षेमकर होजाऊ। वहाँ (व्रत लेनेसे) परे जो त्रस (जगम) प्राणी है जिनके बारेमे श्रमण उपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्यु-पर्यन्त दण्ड त्यागा होता है। फिर आयु छोडता है छोडकर जो बाहर त्रस प्राणी हैं, उनमे जनमते हैं। जिनके बारेमे श्रमण-उपासक का प्रत्याख्यान ठीक होता है वे प्राणी भी ० नही न्याय्य है ॥१२॥

(-११) वहा पासमे जो त्रस प्राणी है जिनके बारेमे श्रमण उपासक ने (व्रत) लेनेसे मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता है। वे वहा से आयु छोडते हैं छोडकर वहा से पासमें जो स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेमें श्रमण उपासकने अर्थयुक्त दण्ड नहीं त्यागा, व्यर्थ(अनर्थ)दण्ड देना

कि महा इच्छावाले, बडे तूल करनेवाले, महा परिग्रहवाले, अधार्मिक ० प्रसन्न करनेमे अतिकठिन ० सारे-सारे परिग्रहोंसे जीवनभर न विरत। उन प्राणियाम श्रमणोपासक व्रत(लेने)से मृत्यु तक त्यक्त-दण्ड (अ-हिंसक) होता है। वे (जन) वहाँसे आयु छोडते हैं, वहा से अपने किये कर्मको लेकर दुर्गति मे जाते हैं। वे प्राणी भी कहे जाते, वे त्रस भी कहे जाते। वे महाकाय हैं, चिरायु हैं। वे बहुतेरे (व्रत) लेने से ऐसे हैं, (अहिंसक) हैं। जिनके बारे मे तुम (वैसा) कहते हो, यह भी भेद (निराधार कहना) न्याय्य नही है।

भगवान् (गौतम) ने और कहा—कोई-कोई मनुष्य होते जैसे हैं, कि आरम्भ (हिंसा)-हीन, परिग्रहहीन, धार्मिक, धर्मपूर्वक अनुज्ञा देनेवाले ०, सारे परिग्रहोसे आजीवन रहित-विरत जिनके विषयमें श्रमण-उपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्यु पर्यन्त दण्ड त्यागा होता। वे वहा से आयु छोडते हैं। वहा से पुन अपने किये कर्म को ले सुगतिगामी होते हैं। वे प्राणी भी कहे जाते, जगम भी कहे जाते ० (निराधार कहना) न्याय्य नहीं।

भगवान् (गौतम) न और कहा—कोई-कोई आदमी होते हैं, जैसे कि अल्पेच्छ, अल्प-आरम्भ, अल्प-परिग्रह, धार्मिक, धर्मपूर्वक अनुज्ञा देने वाले ० किसी एक परिग्रह (= हिंसा) से विरत होते। जिन प्राणियोम श्रमणोपासक ने (व्रत) लेनेसे मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा है। वे वहा से आयु छोडते हैं, वहा से पुन अपने किये को ले स्वर्गगामी होते हैं। वे प्राणी भी कहे जाते, त्रस भी कहे जाते ० न्याय्य नही है।

भगवान् (गौतम) ने और कहा—कोई कोई मनुष्य होते हैं, जैसे कि अरण्यवासी, अतिथिशाला-वासी, ग्रामनिमत्रित, कुछ रहस्य जानकर। जिनके बारेम श्रमणोपासक व्रत लेनेसे मृत्यु-पयन्त दण्ड त्यागी होना है। वे (जीव) पहल ही काल कर जाते हैं, करके परलोकगामी होते हैं। वे

पासक (व्रत) लेने से मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता, उनमें जनमते हैं। जिनके बारेमें श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान ठीक होता है। वे प्राणी भी कहे जाते ० यह भी भेद न्याय्य नहीं होता।

वहा वे जो परे त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारे में श्रमणोपासकने (व्रत) लेने से मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता। व वहाँ से आयु छोडते हैं, छोडकर वहा पासमें जो स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेमें श्रमणोपासकने अर्थयुक्त दण्ड नही त्यागा होता, व्यर्थका त्यागा होता, उनमें जनमते हैं, जिनके बारेमें श्रमणोपासकने अर्थयुक्त न त्यागा, व्यर्थका त्यागा ० वे प्राणी भी ० यह भी भेद ०।

वहाँ वे जो परे त्रस-स्थावर प्राणी हैं जिनके बारेमें श्रमणोपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता। वे वहा से आयु छोडते, छोडकर वे वहाँ परे में ही जो त्रस-स्थावर प्राणी होते, जिनके विषयमें श्रमणोपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता, उनमें जनमते। जिनमें श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान ठीक होता। वे प्राणी भी ० यह भी भेद ०।

भगवान् (गौतम) ने और कहा—न यह हुआ, न यह है, न यह (कभी) होगा, कि त्रस (जगम) प्राणी उच्छिन्न होंगे, स्थावर रहेंगे, त्रस-स्थावर प्राणियोके उच्छिन्न न होनेपर जो तुम या दूसरे जो ऐसा कहते हैं, नहीं है, वह कोई (श्रावकके सुप्रत्याख्यान) बात०न्याय्य नही ॥१३॥

(८१०) फिर भगवान् (गौतम) ने और कहा—आवुस उदक, जो (आदमी) निन्दता है, मैत्री मानते भी ज्ञानको लेकर दर्शनको लेकर, आचरण को लेकर पापकर्म न करनेकी (बात कहते भी) वह परलोकका विघात करता है। जो कोई श्रमण या ब्राह्मणकी निन्दा नही करता, मैत्री मानते निन्दा नही करता, ज्ञानको लेकर, दर्शन को लेकर, आचार-

त्यागा है, उनमें जनमते हैं। उनके बारेमें श्रमण-उपासकने अर्थयुक्त दण्ड त्याग नही किया होता, अर्थहीन दण्ड त्यागा होता है। वे प्राणी भी कहे जाते, वे चिरायु भी होते ० यह भी भेद करना न्याय्य नही है।

वहा जो पासमे स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेमे श्रमण-उपासकने अर्थयुक्त दण्ड नही त्यागा होता व्यर्थदण्ड त्यागा होता है। वे तब आयु छोडते हैं, छोडकर वहा पासमे जो त्रस प्राणी है, जिनके बारेम श्रमण-उपासकने (व्रत) लेने से मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागा होता, उनमे जन्मता है, उनके बारेमे श्रमण-उपासककी विरति ठीक होती है। वे प्राणी भी ० यह भी भेद (करना) सो न्याय्य नही है।

वहा जो पासमे वे स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेमे श्रमण-उपासकने अर्थयुक्त दण्ड नही त्यागा होता, व्यर्थका त्यागा होता। वे तब आयु छोडते छोडकर वे वहा पासमे जो स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेम श्रमण-उपासकने अर्थयुक्त दण्ड त्यागा नही होता, व्यर्थ दण्ड त्यागा होता, उनमे जनमते हैं। उनके बारेमे श्रमणोपासक ने अर्थयुक्त दण्ड न त्यागा, व्यर्थका त्यागा होता, वे प्राणी भी कहे जाते, वे ० यह भी भेद न्याय्य नही है।

वहा जो वे पासमे स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारेमे श्रमणोपासकने अर्थयुक्त दण्ड नहीं त्यागा होता, व्यर्थका त्यागा होता। (वह) वहा से आयु छोडता, छोडकर वहा परे जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनमे श्रमण उपासकने (व्रत) लेनेसे मृत्यु पर्यन्त दण्ड छोडे होता, उनमे जनमता है। उनमें श्रमणोपासकका प्रत्याख्यान ठीक होता है। वे प्राणी भी ० यह भी न्याय्य नही है।

वहा वे जो परे मे त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनके बारे में श्रमणो-पासकने (व्रत) लेने से मृत्युपर्यन्त दण्ड त्यागे होता, वे वहाँ से आयु छोडते हैं, छोडकर वहाँ पास में जो त्रस प्राणी हैं, जिनके बारे में श्रमणो-

महावीर थे, वहा गये। पास जा कर तब उदक पेढाल-पुत्रने श्रमण भगवान महावीर को तीन वार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार कर यो कहा—भन्ते मैं चातुर्याम धर्मके स्थानमे प्रतिक्रमण सहित पचमहाव्रतिक धर्ममे उपसम्पदा पा विहरना चाहता हूँ।

तब श्रमण भगवान् महावीरने उदकसे यो कहा—देवानुप्रिय, जैसे चाहो, मुखपूर्वक (विहरो) प्रतिबन्ध(रोक)मत करो।

तब उस उदक पेढाल-पुत्रने श्रमण भगवान् महावीरके पास चातुर्याम धर्म से प्रतिक्रमण सहित पचमहाव्रतिक धर्मम उपसम्पदा पा विहार किया। यह मैं कहता हू ॥१४॥

सातवाँ नालदीय अध्ययन समाप्त

इति सूत्रकृतांग(दूसरा श्रुतस्कन्ध)समाप्त

को लेकर, पापकर्मोंके न करनेकी (बात कह) वह परलोककी विशुद्धिके लिये (कहनेवाला) है।

ऐसा कहनेपर वह उदक पेढालपुत्र भगवान् गौतमको अनादर करते जिस दिशासे आया था उसी दिशामे जानेकी सोचने लगा।

भगवान् (गौतम) ने और भी कहा—आवुस उदक, जो कोई वैसे श्रमण ब्राह्मणके पास से एक भी आर्य धार्मिक सूक्ति सुनकर, जानकर और अपने सूक्ष्मतासे प्रत्यवेक्षण कर यह अनुपम योग-क्षेम पद (मुझे) मिला (सोच , उस (पुरुष)को आदर करता, मानता, वन्दना करता, सत्कार करता, समान करता ० कल्याण मगल और देव सा पूजा करता है।

तब उदक पेढाल-पुत्रने भगवान् गौतम से यो कहा—भन्ते ! इन पदाका पहले ज्ञान न होनेस, श्रवण न होने से, श्रोत्र न होने स, समझ न होने स, दृष्ट न होने स, श्रुत न होन से, स्मृत न होने से, विज्ञात न होने से, विगाहन न होनेसे,अवगाहन न होने से, (सशय-)विच्छेद न होनेसे निवाहित न होने से, निसगजात न होने से, उपधारित न होने स, इस बात पर मैंने श्रद्धा नहीं की, विश्वास नही किया, पसन्द नहीं किया। भते, इन बातोके इस समय ज्ञात होने से, सुनन से, बोधसे ० उपधारणस इस बात पर श्रद्धा करता हूँ, पसद करता हूँ, वैसे ही जैसे कि आप कहते हैं।

तब भगवान् गौतमने उदक पेढाल-पुत्रसे यो कहा—श्रद्धा करो आय, पतियाओ आर्य, पसद करो आर्य, यह ऐसा ही है, जैसा कि हम कहते हैं।

तब उस उदक पेढाल-पुत्रने भगवान् गौतम से यो कहा—भते ! आपके पास चार याम वाल (पार्श्व) के धमसे (महावीर के) प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रतवाले धर्मको लेकर विहरना चाहता हूँ।

तब भगवान् गौतम उदक पेढाल-पुत्रको लकर जहा श्रमण भगवान्

अहिंसा के महान् प्रचारक महावीर—

भगवान् महावीर ने पूरे बारह वर्ष के तप और त्याग के बाद अहिंसा का सन्देश दिया। उस समय हिंसा का अधिक जोर था। हर घर में यज्ञ होता था। यदि उन्होंने अहिंसा का सन्देश न दिया होता तो आज भारत में अहिंसा का नाम न लिया जाता।

बौद्धभिक्षु प्रो० श्री धर्मानन्द, कौशाबी,
भ० महावीर का आदर्श जीवन पृष्ठ १२

\+ + +

"वहाँ सारिपुत्र ! मेरी यह तपस्विता थी, अचेलक था, मुक्ताचार हस्तापलेखन(हथचट्टा) था, नएहिमादिन्तिक(बुलाई भिक्षा का त्यागी) न तिष्ट-भदन्तिक (ठहरिये कह दी गई भिक्षा को) न अपने उद्देश्य से किये गये को, और न निमन्त्रण को खाता था..............न मछली, न मास खाता और न सुरा पीता था।.........शाकाहारी था।......... केश दाढी नोचने वाला था।"

मज्झिम निकाय १।२।२ हिन्दी पृ० ४८-४९

\+ + +

"एक समय महानाम ! मैं राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करता था। उस समय बहुत से निगठ (जैनसाधु) ऋषिगिरि की काल-शिला पर खड़े रहने का व्रत ले...... ...वेदना झेल रहे थे।......... उन निगठों से मैं बोला-'आवुसो' निगंठो ! तुम खड़े क्यों............ तीव्र वेदना झेल रहे हो ?" उन निगठों ने कहा 'आवुस' निगंठ नाथपुत्त (=जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, आप अखिल ज्ञान-दर्शन

परिशिष्ट

बौद्ध ग्रन्थो मे भगवान् महावीर

निगण्ठो आवुसो नाथपुत्तो सब्बञ्ञु, सब्बदस्सावी अपरिसेस गाण-दस्सणम् परिजानाति चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सतत समित नाणदस्सणम पच्चुपटिठति

मज्झिमनिकाय भाग १ पृ० ९२-९३

अर्थात्—निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र, सवज्ञ और सर्वदर्शी है। वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता है, हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते, समस्त अवस्थाओ से सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है।

'अयम् देव निगण्ठो नाथपुत्तो सघी चेव गणी च गणाचार्यो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्य रत्तस्सू चिर-पब्बजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्ता।"

दीर्घनिकाय (P T A) भाग १
पृ० ४८-४९

"सर्वज्ञ आप्तो वा सज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। यथा ऋषभ-वर्धमानादिरिति।

न्यायबिन्दु, अ० ३।

अर्थात्—सर्वज्ञ आप्त ही उपदेशदाता हो सकता है, जैसे ऋषभ और वर्द्धमान।

+ + +

नामानुक्रमणी

को जानते है—चलते,खडे, सोते, जागते सदा निरन्तर (उनको) ज्ञा दर्शन उपस्थित रहता है । वह ऐसा कहते हैं— निगण्ठो' ! जो तुम्हा पहले का किया हुआ कर्म है उसे इस कडवी दुष्कर क्रिया (तपस्या) नाश कर दो, और जो इसवक्त यहाँ काय वचन मनसे सवृत्त हो, य भविष्य के लिये पाप का न करना हुआ । इस प्रकार पुराने कर्मों क तपस्या से अन्त होने से और नये कर्मों के न करने से भविष्य मे चित्त अन्-आस्रव होगा । भविष्य मे आस्रव न होने से कर्म क्षय (होगा) कर्म क्षय से दु ख का क्षय, दु ख क्षय से वेदना का क्षय, वेदना क्षय से सभी दु ख नष्ट होगे । हम यह विचार रुचता है, इससे हम सन्तुष्ट हैं ।'

वेदों मे भगवान् महावीर—

देव बहिर्वर्धमान सुवीर स्तीर्णं राये सुभर वेद्यस्याम् ।
घृतेनाक्त वसव सीदतेव विश्वदेवा आदित्यायज्ञियास १४
ऋग्वेद मण्डल २, अ० १, सूक्त ३,

अर्थात् ह देवो के देव वर्धमान ! आप सुवीर (महावीर) हैं, व्यापक हैं । हम सम्पदाओ की प्राप्ति के लिये इस वेदी पर घृत से आपका आह्वान करते हैं । इसलिये सब देवता इस यज्ञ मे आवें और प्रसन्न होवें ।

आतिथ्य रूप मासर महावीरस्य नग्नहु ।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्री सुरासुता ।।मन्त्र १४।। यजुर्वेद,
अध्याय १९।

अर्थात्—अतिथिस्वरूप पूज्य मासोपवासी जातमात्र स्वरूप महावीर की उपासना करो, जिससे सशय, विपर्यय अनध्यवसायरूप तीन अज्ञान और धनमद शरीरमद और विद्यामद की उत्पत्ति नही होती ।

नोट—यह परिशिष्ट भाग का मैटर श्रीराहुल की ओर का न समझा जाय ।

—=—

शब्दानुक्रमणी

(नोट) शब्दके आगे पृष्ठांक और उसके आगे ब्रैकेटमें पंक्तिके अंक पढियेगा।